राजनाथ शर्मा

Paper (H)

Modern only = 35 marks

हिन्दी-साहित्य का इतिहास

(प्रश्नोत्तर में)

[संशोधित-परिवर्द्धित संस्करण]

लेखक
राजनाथ शर्मा, एम० ए०

विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा

भूमिका

हिन्दी-साहित्य के इतिहास का अध्ययन एवं अध्यापन करते समय अनेक बार यह कठिनाई सामने आई कि हिन्दी की उच्च कक्षाओं की परीक्षा के प्रश्न-पत्रों में हिन्दी-साहित्य के इतिहास-विषयक प्रश्नों के उत्तरों से सम्बन्धित सामग्री एक पुस्तक में तथा एक ही स्थान पर नहीं मिलती। प्रश्न प्रायः विभिन्न विद्वानों की पुस्तकों से उद्धृत उद्धरणों के रूप में पूछे जाते हैं। उन प्रश्नों से सम्बन्धित सामग्री के दृष्टिकोणों में पर्याप्त मत-वैषम्य होने के कारण यदि उन प्रश्नों का उत्तर एक ही विद्वान् के आधार पर दिया जाय तो वह उत्तर एकांगी होगा। इसलिए उसका सही और विवेचनात्मक उत्तर देने के लिए विभिन्न विद्वानों के ग्रन्थों का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है। इसके लिए जरूरी है कि एक ही विषय से सम्बन्धित विभिन्न विद्वानों के मतों का आकलन कर उन्हें सुव्यवस्थित रूप में उपस्थित कर अपना मत प्रकट कर दिया जाय। प्रस्तुत पुस्तक विद्यार्थी-समाज की इसी समस्या का हल प्रस्तुत करती है।

इस पुस्तक में दिये गए प्रश्नों में से अधिकांश एम० ए०, साहित्यरत्न तथा हिन्दी की अन्य उच्चतम परीक्षाओं में पूछे जा चुके हैं। साथ ही वे प्रश्न भी दिये गए हैं जिन्हें पूछे जाने की सम्भावना रहती है। इसी प्रकार हिन्दी-साहित्य के इतिहास से सम्बन्धित प्रायः सभी प्रश्नों के उत्तर इस पुस्तक में मिल जायेंगे। इन उत्तरों को लिखने में हिन्दी-साहित्य के विभिन्न इतिहासों, निबन्धों एवं मासिक पत्र-पत्रिकाओं की सहायता ली गई है। साथ ही गुरुजनों, मित्रों एवं कुछ अभिन्न जनों की सहायता भी इस पुस्तक के निर्माण में प्रेरक, उत्साह-वर्द्धक और उपयोगी रही है। डॉ० रामविलास शर्मा एवं स्वर्गीय डॉ० रांगेय राघव जैसे गुरुजनों तथा राजेन्द्र यादव, डॉ० रामगोपाल सिंह चौहान तथा डॉ० घनश्याम अस्थाना जैसे मित्रों ने अपनी अमूल्य सम्मति और विचार-विवेचन द्वारा मुझे उत्साहित कर, कुछ विवादग्रस्त विषयों पर यथेष्ट प्रकाश डाला है। उनके प्रति आभार प्रदर्शित कर, मैं उनके स्नेह और भावना का

अनादर नहीं करना चाहता। इसके अतिरिक्त, अनुज मदनगोपाल 'भारतीय' से भी मुझे पर्याप्त सहायता मिली है। प्रतिदान में मेरा स्नेह उनके लिए अक्षुण्ण है।

विषय के विवेचन में साहित्यकारों एवं उनकी कृतियों की विस्तृत नामावली देने की अपेक्षा परिस्थितियों एवं विशेषताओं पर विशेष बल दिया गया है। मेरा अपना इसमें बहुत कम है। जो कुछ है, वह साहित्य के उन मनीषियों का है, जिन्होंने साहित्य की साधना में अपना सम्पूर्ण जीवन अर्पण कर रखा था और कर रखा है। मैंने उनसे लेकर दूसरों को देने का प्रयत्न किया है। यह मेरी धृष्टता हो सकती है; परन्तु सन्तोष है कि इसके मूल में विद्यार्थियों के प्रति मेरी सद्भावना कार्य कर रही है।

आशा है, जिज्ञासु पाठक इसे पढ़ने के उपरान्त अपनी अमूल्य राय देकर मुझे अवसर देंगे कि मैं आगामी संस्करणों में उनका और अधिक उपयोग कर सकूँ।

बैसाख सुदी पूर्णिमा
संवत् २०१०

—राजनाथ शर्मा

उन्तीसवाँ संस्करण

संशोधित एवं परिवर्द्धित रूप में यह पुस्तक का उन्तीसवाँ संस्करण है। इसमें आज तक की सम्पूर्ण साहित्यिक गतिविधियों, नवीन ग्रन्थों आदि पर समग्र दृष्टि से विचार किया गया है। आशा है, इस रूप में यह अपने अपेक्षित उद्देश्य को पूरा करेगा। इस पुस्तक के प्रतिवर्ष पूर्णतः संशोधित संस्करण निकलते रहे हैं। इसकी उपयोगिता और लोकप्रियता का यह सबसे बड़ा प्रमाण है।

—राजनाथ शर्मा

प्रश्न-सूची

प्रश्न पृष्ठ

१. काल-विभाजन

२. आरम्भिक-काल या वीरगाथा-काल

(सं० १०५० से १३७५ तक)

३. पूर्व मध्यकाल या भक्तिकाल
(सं० १३७५ से १७०० तक)

४. शृंगारकाल या रीतिकाल

(संवत १७०० से १९०० तक)

६. स्वातन्त्र्योत्तरकालीन हिन्दी-साहित्य

काल-विभाजन

प्रश्न १—हिन्दी साहित्य के इतिहास के काल विभाजन का संक्षिप्त परिचय देते हुए काल-विभाजन के औचित्य पर अपने विचार दीजिए।

उत्तर—**कालों के नामकरण का आधार**

हिन्दी साहित्य के काल-विभाजन के विषय में हिन्दी के दो प्रमुख इतिहास लेखकों—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं बाबू श्यामसुन्दरदास ने परस्पर भिन्न मत प्रकट किये हैं। शुक्ल जी का मत है कि जिस काल-खण्ड के भीतर किसी विशेष प्रकार की रचनाओं की प्रचुरता दिखाई पड़े, तो उसका नामकरण उन्हीं रचनाओं में प्रदर्शित प्रधान प्रवृत्ति के आधार पर किया जाय। ऐसा करने से यह सहूलियत रहेगी कि—"प्रत्येक काल का एक निर्दिष्ट सामान्य लक्षण बताया जा सकता है। किसी एक ढंग की रचना की प्रचुरता से अभिप्राय यह है कि शेष दूसरे ढंग की रचनाओं में से चाहे किसी एक ढंग की रचना को लें, वह परिमाण में प्रथम के बराबर न होगी। दूसरी बात है, ग्रन्थों की प्रसिद्धि। किसी काल के भीतर एक ही ढंग के बहुत अधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ चले आते हैं, उस ढंग की रचना उस काल के लक्षण के अन्तर्गत मानी जायगी।....प्रसिद्धि भी किसी काल की लोक-प्रवृत्ति की प्रतिध्वनि है। इन दोनों बातों की ओर ध्यान रखकर काल-विभाजन का नामकरण किया गया है।"—(आचार्य शुक्ल)। आचार्य शुक्ल के परवर्ती हिन्दी-साहित्य के अधिकांश इतिहास-लेखकों ने आचार्य शुक्ल के ही उपर्युक्त मानदण्ड को स्वीकार कर काल-विभाजन किया है। बाबू श्यामसुन्दरदास, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन' डा० रामकुमार वर्मा, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पंडित कृष्णशंकर शुक्ल, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र आदि विद्वानों ने यद्यपि इसी आधार पर काल-विभाजन किया है, परन्तु कालों के नामकरण एवं समय के विषय में थोड़ी-बहुत भिन्नता अवश्य रखी है, जिसका मूल आधार एक ही रहा है।

काल-विभाजन

आचार्य शुक्ल ने अपनी उपर्युक्त मान्यता के अनुसार हिन्दी-साहित्य के ९०० वर्षों के इतिहास को चार कालों में इस प्रकार विभक्त किया है—

१. आदिकाल ....(वीरगाथा काल, संवत् १०५०-१३७५)
२. पूर्व-मध्यकाल ....(भक्तिकाल, संवत् १३७५-१७००)
३. उत्तर-मध्यकाल ...(रीतिकाल, संवत् १७००-१९००)
४. आधुनिक काल ....(गद्यकाल, संवत् १९००........)

उन्होंने प्रत्येक काल का वर्णन इस प्रकार किया है कि पहले तो उक्त काल की विशेष प्रवृत्ति-सूचक उन रचनाओं का विवरण दिया है जो उस काल के अन्तर्गत आती हैं; तदनन्तर, संक्षेप में उनके अतिरिक्त अन्य प्रकार की ध्यान देने योग्य रचनाओं का भी उल्लेख किया है। डा० रामकुमार वर्मा ने आदि-काल के दो खण्ड किये हैं —सन्धिकाल और चारणकाल। सन्धिकाल को उन्होंने संवत् ७५० से १३०० तक माना है और चारण-काल को शुक्लजी के वीर-गाथा-काल का पर्यायवाची माना है। शेष कालों को शुक्ल जी के अनुसार ही स्वीकार किया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने वीरगाथा काल को 'आदि-काल' माना है। वे इसे वीरगाथा काल नहीं मानते। उनके मतानुसार—"इस काल में वीर रस को सचमुच ही बहुत प्रमुख स्थान प्राप्त है। परन्तु इस काल में सिद्ध-साहित्य और जैन-साहित्य का प्रणयन प्रचुर मात्रा में हुआ है। इसलिए इसे केवल वीरगाथा-काल नहीं माना जा सकता है।" राहुल जी का मत है कि आठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक के काव्य में दो प्रकार के भाव पाये जाते हैं—सिद्धों की वाणी और सामन्तों की स्तुति। इसलिए इस काल को 'सिद्ध सामन्त युग' कहा जाना चाहिए। कुछ आलोचकों को इस काल का नाम 'आदिकाल' ही अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। अब इसे 'वीर-गाथाकाल' नहीं कहा जाता। परन्तु हम 'आदिकाल' के स्थान पर इस काल को 'आरम्भिक काल' कहना अधिक संगत समझते हैं, क्योंकि इसकाल में हम हिन्दी साहित्य का आरम्भ होता देखते हैं। 'आदि-काल' शब्द तो आदिम काल की सी ध्वनि देता है।

बाबू श्यामसुन्दरदास ने यद्यपि काल-विभाजन आचार्य शुक्ल के अनुसार ही किया है, परन्तु उन्होंने प्रत्येक प्रधान प्रवृत्ति का विकास एवं इतिहास—आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक का—एक साथ प्रस्तुत किया है। उनके द्वारा किया गया काल-विभाजन इस प्रकार है—

१. आदिकाल ....(वीरगाथा का युग, सं० १०५० से १४०० तक)
२. पूर्व मध्य युग ....(भक्ति का युग, ,, १४०० से १७०० तक)

३. उत्तर मध्य युग····(रीति-ग्रन्थों का युग ,, १७०० से १९०० तक)
४. आधुनिक युग····(नवीन विकास का युग , १९०० से अब तक)

उपर्युक्त काल-विभाजन में एवं आचार्य शुक्ल द्वारा किए गए काल-विभाजन में कोई मौलिक अन्तर नहीं है, दोनों एक ही हैं; परन्तु बाबू श्यामसुन्दरदास ने कालों का विभाजन करते समय प्रत्येक प्रधान प्रवृत्ति का पूर्ण इतिहास एक ही स्थान पर प्रस्तुत कर अपने द्वारा किये गए विभाजन का एक प्रकार से उल्लंघन ही किया है। प्रत्येक की प्रधान प्रवृत्ति के साथ उस काल की अन्य गौण प्रवृत्तियों का विवेचन उसी काल के अन्तर्गत करना, इतिहास की दृष्टि से अधिक समीचीन होता है। यदि प्रत्येक प्रवृत्ति का सम्पूर्ण इतिहास एक ही स्थान पर देना था, तो सम्पूर्ण इतिहास को चार कालों में विभाजित कर उसे समय की सीमा में बाँधा ही क्यों गया? इतिहास में काल-विभाग और तिथियों का विशेष महत्त्व होता है। उनकी अवहेलना कर इतिहास नहीं लिखा जा सकता। तिथियों के अभाव में वह सम्पूर्ण साहित्य का क्रमबद्ध इतिहास न होकर विशृंखलित प्रवृत्त्यात्मक साहित्य-विवेचन मात्र रह जायगा, इसलिए उसे इतिहास नहीं माना जा सकता। इसीलिए आचार्य शुक्ल का इतिहास-लेखन का आधार ही अधिक वैज्ञानिक तर्क-सम्मत और उपयुक्त प्रतीत होता होता है।

काल विभाजन की असंगति

बाबू श्यामसुन्दरदास की काल-विभाजन-प्रणाली में सबसे बड़ा दोष यह है कि उसमें एक विशिष्ट काल की प्रधान प्रवृत्ति का तो पूर्ण इतिहास आ जाता है; परन्तु अन्य गौण प्रवृत्तियों पर यथेष्ट प्रकाश नहीं पड़ता। किसी विशेष काल में कोई नवीन विचारधारा प्रारम्भ होकर कुछ समय उपरान्त क्षीण या समाप्त हो जाती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि किसी नवीन प्रकार के काव्य का आरम्भ तो हो जाता है, परन्तु उस काल में उसका विकास नहीं हो पाता; जैसे—आधुनिक काल में बच्चन का 'हालावाद' प्रारम्भ होकर तीन-चार वर्ष के अल्पकाल में ही समाप्त हो गया और प्रयोगवाद १०-१५ वर्ष का जीवन जीकर अकाल-मृत्यु का ग्रास बन गया। वीरगाथा काल के अन्तिम चरण अथवा भक्ति-काल के प्रारम्भ में विद्यापति के शृंगार और भक्ति-विषयक काव्य का आरम्भ तो हो गया था; परन्तु उसका पूर्ण विकास क्रमशः भक्तिकाल के अन्तिम चरण और रीतिकाल में जाकर हुआ। अतः बाबू श्यामसुन्दरदास की

प्रणाली के आधार पर ऐसी प्रवृत्तियों का विवेचन पृथक् रूप से नहीं किया जा सकता। इसलिए यही उचित प्रतीत होता है कि कालक्रमानुसार सम्पूर्ण प्रवृत्तियों का विवेचन एक ही स्थान पर उसी काल-विभाग के अन्तर्गत किया जाय। आचार्य शुक्ल ने यही किया है। बाबू श्यामसुन्दरदास का कथन है कि कोई भी एक विचारधारा या प्रवृत्ति प्रारम्भ होकर नष्ट नहीं होती। वह निरन्तर चलती ही रहती है। कभी उसका शक्तिशाली रूप प्रकट होता है और कभी क्षीण रूप। यह ठीक है; परन्तु जब उसका विवेचन प्रत्येक काल के साथ हो जाता है तो उसका एक साथ समष्टि रूप से विवेचन करने के प्रति इतना उत्कष्ट आग्रह क्यों? इससे केवल एक लाभ होता है कि पाठक को एक ही स्थान पर तद्विषयक सम्पूर्ण सामग्री उपलब्ध हो जाती है; परन्तु यह पद्धति निबन्ध-लेखन में अधिक सुचारुता के साथ अपनाई जा सकती है, इतिहास-लेखन में नहीं। इससे साहित्य के क्रमिक ऐतिहासिक अध्ययन में व्याघात पड़ता है।

प्रारम्भिक काल : सर्वाधिक विवादग्रस्त

अतः आचार्य शुक्ल द्वारा किया हुआ कालों का विभाजन और नामकरण ही सर्वथा सार्थक और तर्क-संगत है। आरम्भिक काल या आदिकाल (वीर-गाथाकाल) के अतिरिक्त तीनों कालों के नामकरण के विषय में विद्वानों में विशेष मतभेद नहीं है। आदिकाल पर हुई नवीन खोजों के आधार पर इस काल के अनेक ऐसे ग्रन्थ, जिनके कारण शुक्ल जी ने इस काल को वीरगाथा-काल की संज्ञा प्रदान की थी, अप्रामाणिक सिद्ध हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त हिन्दी में रचित तत्कालीन जैन और सिद्ध-साहित्यिक इतना विस्तृत और बहुमुखी है कि उसकी उपेक्षा कर उस काल में केवल वीर-रस की प्रधानता नहीं मानी जा सकती। अतः किसी विशेष प्रमुख प्रवृत्ति के अभाव में उसे 'आरम्भिक काल' कहना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। वीरगाथा-काल के विषय में एक बात और विचारणीय है। इस काल के वीरगाथात्मक ग्रन्थों में सर्वप्रथम ग्रन्थ 'खुमान-रासो' है। इसका रचना-काल संवत् ११७० से लेकर ११९५ तक माना जाता है। जब यह इस काल का प्रथम ग्रन्थ है तो वीरगाथा-काल इसी समय से मानना चाहिए; परन्तु विद्वानों ने वीरगाथा काल को इससे लगभग सवा सौ वर्ष पहले से माना है जिसका कोई तर्क संगत कारण नहीं दिया गया। सम्भव है, इससे पूर्व हिन्दी में साहित्य लिखा जाना आरम्भ हो

गया हो, इसलिए अनुमान के आधार पर ही हिन्दी-साहित्य का आरम्भ ग्यारहवीं सदी से माना जा सकता है। इसी प्रकार विद्यापति का रचना काल संवत् १४५६ के लगभग माना जाता है तथा वीरगाथा-काल १३७५ तक ही समाप्त हो जाता है। इसी कारण कुछ विद्वानों ने विद्यापति को भक्तिकाल में स्थान दिया है। वस्तुतः आदिकाल में हिन्दी-भाषा, अपभ्रंश के स्थान पर साहित्य की भाषा बनती चली जाती है। वह हिन्दी-भाषा और साहित्य का आरम्भिक, हिन्दी-अपभ्रंश का मिला-जुला रूप है। उसमें अनेक विषयों से सम्बन्धित साहित्य का निर्माण होता रहा है; उसमें भाषा का एक सुगठित रूप नहीं मिलता। उसमें किसी एक ही प्रवृत्ति की प्रधानता नहीं मिलती, इसलिए उसे 'आदि' या 'आरम्भिक' काल कहना ही उचित है।

भक्तिकाल : विवाद रहित

भक्तिकाल को सभी लेखकों ने 'भक्तिकाल' ही माना है, क्योंकि इस काल में भक्ति की ही विशेष प्रधानता रही है। इस काल की रचनाओं में निर्गुण और सगुण—दोनों प्रकार की भक्तियों का चरम उत्कर्ष दिखाई पड़ता है। इसे हिन्दी का स्वर्ण-युग भी कहते हैं। इस काल के कवियों में अनेक प्रकार की विभिन्नताएँ और विचित्रताएँ होते हुए भी कुछ ऐसी सामान्य भावनाएँ और विशेषताएँ पाई जाती हैं, जिनको लक्ष्य कर इस काल का नाम 'भक्तिकाल' रखा गया है।

रीतिकाल या शृंगार काल

रीतिकाल में शृङ्गार-रस की प्रधानता देखकर कुछ इतिहासकारों ने कुछ 'शृङ्गार-काल' कहा है। इस काल में रीति-ग्रन्थों की ही अधिक रचना हुई है; और शृङ्गारिक भावना रीति-ग्रन्थों द्वारा ही व्यक्त हुई है। इस काल का भूषण जैसा वीर-काव्य का प्रणेता भी रीति-ग्रन्थों के इस मोह को त्यागने में असमर्थ रहा है। इस काल में नायिका-भेद और काव्य-शास्त्र का संस्कृत के ढंग पर ही अधिक विकास हुआ है। उसमें मौलिकता की अपेक्षा अनुवाद ही अधिक है। कवियों की प्रवृत्ति मौलिकता की अपेक्षा रीति की ओर अधिक झुकी हुई है। इस काल में रीति-ग्रन्थों की प्रचुरता एवं प्रधानता देखकर ही इसे 'रीतिकाल' कहा गया है। परन्तु वर्ण्य-विषय में शृंगार की प्रधानता रहने के कारण इस काल को 'शृङ्गार-काल' कहना ही अधिक उचित प्रतीत होता है; क्योंकि

यह शब्द इस काल में सम्पूर्ण काव्य-रूपों को अपने भीतर समेट लेता है। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र इसे 'शृङ्गार-काल' ही कहते हैं। शुक्लजी को भी इस नाम पर विशेष आपत्ति नहीं थी।

आधुनिक काल : पुनर्जागरण का काल

आधुनिक काल में गद्य का पूर्ण विकास एवं प्रधानता होने ने कारण शुक्लजी ने इसे 'गद्य-काल' की संज्ञा दी है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भी एक प्रकार से इसे 'गद्य-काल' ही मानते हैं। बाबू श्यामसुन्दरदास इसे 'नवीन विकास का युग' कहते हैं। गद्य का विकास, इस काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है। इस काल में कविता की रचना भी यथेष्ट मात्रा में हुई है, परन्तु जैसा विकास गद्य के विभिन्न अंगों का हुआ है, वैसा कविता का नहीं हो सका है। अतः इसे माध्यम की प्रधानता की दृष्टि से 'गद्य-काल' कहना ही अधिक उचित है। परन्तु प्रवृत्ति की प्रधानता की दृष्टि से इसे 'पुनर्जागरण का युग' कहना अधिक संगत रहेगा। क्योंकि इस काल में नई सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक चेतना का देशव्यापी प्रचार-प्रसार मिलता है। यह काल अनेक प्रकार की प्रवृत्तियों से भरा पड़ा है। इसलिए आधुनिक काल के विवेचन के लिए एक पृथक् शृङ्खलाबद्ध इतिहास की आवश्यकता है जिसकी पूर्ति विद्वानों ने की भी है। आचार्य शुक्ल ने इस काल के दो विभाग कर दिये हैं—गद्य-खण्ड और पद्य-खण्ड। इन दोनों खण्डों को प्रथम-उत्थान, द्वितीय-उत्थान एवं तृतीय-उत्थान में विभाजित कर दिया है। अधिकांश आधुनिक विद्वान् इन्हें क्रमशः भारतेन्दु-युग, द्विवेदी युग, शुक्ल-प्रसाद-प्रेमचन्द-युग के नाम से पुकारते हैं। काव्य के क्षेत्र में द्वितीय-युग के उपरान्त छायावादी और प्रगतिवादी युग माने गये हैं। छायावाद के पूर्ण दर्शन गद्य में नहीं होते, अतः यह शीर्षक गद्य-पद्य—दोनों के लिए अनुपयुक्त है। भारतेन्दु से लेकर द्विवेदी-युग तक तो आधुनिक युग की धारा सीधी रही है। किन्तु छायावाद के जन्म के साथ ही उसमें नाना वादों और प्रवृत्तियों की बाढ़-सी आ गई मिलती है। समष्टि रूप से आधुनिक काल की प्रगति इतनी विशाल और बहुमुखी है कि उसे किसी विशिष्ट वाद या प्रवृत्ति की संकुचित सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। इसी कारण आरम्भिक काल के समान इसे 'आधुनिक काल' अथवा 'पुनर्जागरण का काल' कहना ही अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है।

प्रश्न २—हिन्दी-साहित्य के इतिहास की प्रधान आधारभूत सामग्री की परीक्षा कीजिए। क्या वह सामग्री हिन्दी-साहित्य के प्रामाणिक इतिहास की रचना के लिए पर्याप्त है ? तर्क सहित उत्तर दीजिए।

उत्तर--**सामग्री के दो प्रकार**

हिन्दी-साहित्य के इतिहास की सामग्री दो रूपों में प्राप्त होती है—अन्तः-साक्ष्य और बाह्यसाक्ष्य। साहित्य के परिचय-ग्रन्थों में प्राप्त सामग्री अन्तःसाक्ष्य के रूप में; तथा साहित्य के अतिरिक्त अन्य साधनों से उपलब्ध सामग्री बाह्य-साक्ष्य के रूप में मिलती है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने अन्तःसाक्ष्य की सामग्री का उल्लेख करते हुए २५ प्राचीन ग्रन्थों का विवरण दिया है। इन ग्रन्थों से प्राचीन एवं समकालीन कवियों की कृतियों एवं जीवनियों पर थोड़ा-सा प्रकाश पड़ता है। इनमें से लगभग सभी संकलन हैं। इन ग्रन्थों द्वारा न तो किसी कवि की जीवनी का और न उसके साहित्य का ही विशेष और इतिहासानुमोदित ज्ञान प्राप्त होता है। किसी पुस्तक में केवल कविताओं का संकलन-मात्र है और किसी में कवियों पर भी संक्षिप्त टिप्पणियाँ-सी दे दी गई हैं। इन २५ ग्रन्थों में से चौरासी और दो-सौ वैष्णवन की वार्त्ता, भक्तमाल, श्री गुरुग्रन्थ साहिब, गोसाईं चरित, भक्त-नामावली, काव्य निर्णय, शृंगार-संग्रह कवित्त रत्नाकर, सूर सरोवर आदि ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। इन ग्रन्थों में प्राप्त विवरण प्रामाणिक हैं अथवा नहीं, विवादास्पद है।

बाह्यसाक्ष्य

बाह्यसाक्ष्य की सामग्री दो रूपों में प्राप्त है। पहले रूप में साहित्यिक सामग्री है। दूसरे रूप में शिलालेख तथा प्राचीन स्थानों का निर्देश एवं विवरण है। साहित्यिक सामग्री के अन्तर्गत अनेक खोजपूर्ण ग्रन्थ हैं, जिनके लेखक अधिकांशतः यूरोपीय हैं। इसमें १८ ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय हैं, जिनमें राजस्थान का इतिहास, हिन्दू धर्म पर बाह्य प्रभाव, सिक्खों का इतिहास, भारतीय विचारधारा, गोरखनाथ और उनका पन्थ, कबीर और कबीर-पन्थ, राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, आदि विषयों से सम्बन्धित देशी और विदेशी विद्वानों द्वारा की गई खोजों और विचारों का विवरण दिया गया है। इन ग्रन्थों से अनेक ज्ञात और अज्ञात कवियों और लेखकों का परि-चय प्राप्त होता है। यह सामग्री अतःसाक्ष्य की सामग्री की अपेक्षा अधिक

खोजपूर्ण है, अतः अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक है। अन्य बाह्यसाक्ष्यों में चन्देल राजा परमाल के शिलालेख आदि हैं। इन शिलालेखों से प्राचीन इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। तिथि-क्रम के निर्धारण में भी इससे सहायता मिलती है। ऐतिहासिक स्थानों में कबीर-चौरा काशी, असीघाट काशी, अमेठी में जायसी की समाधि, राजापुर की तुलसी की प्रस्तर मूर्ति, सौरों, आगरा के पास सूर का निवास स्थान 'गऊ घाट', केशवदास का स्थान—टीकमगढ़ और सागर आदि महत्त्वपूर्ण हैं। इन स्थानों में प्राचीन कवियों-विषयक प्रचलित जन-श्रुतियों एवं किम्वदन्तियों से भी यथेष्ट सहायता मिली है। यह सम्पूर्ण सामग्री आलोचकों और साहित्यिकों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है इससे सम्बन्धित कवियों और लेखकों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। जनश्रुतियाँ यद्यपि विशेष प्रामाणिक नहीं होतीं, परन्तु उनका आधार कुछ अंशों तक सत्य ही होता है।

अपर्याप्त विवादग्रस्त सामग्री

उपर्युक्त सम्पूर्ण अन्तःसाक्ष्य और बाह्यसाक्ष्य की सामग्रियाँ भी हिन्दी-साहित्य का एक प्रमाणिक साहिरियक का इतिहास लिखने के लिए अपर्याप्त हैं। अभी अनेक ऐसे विषय हैं जो विवादग्रस्त हैं; जैसे—गोरखनाथ का समय, जटमल का गद्य, सूर की जन्म-तिथि तथा जीवन, कबीर का जीवन और चरित्र आदि। इनके सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं। वीरगाथा-काल के अधिकांश ग्रन्थ, जो पहले प्रमाणिक माने जाते थे, अब अप्रामाणिक माने जाने लगे हैं। इसके दो मुख्य कारण रहे हैं—पहला, हमारे यहाँ प्राचीन काल में इतिहास लेखन की प्रथा नहीं थी। इसी कारण भक्तिकाल आदि ग्रन्थों में तिथियों का निर्देश नहीं मिलता। दूसरा, हमारे, कवि अपने व्यक्तिगत जीवन के प्रति इतने अनासक्त रहते थे कि अपने ग्रन्थों में उन्होंने अपने विषय कुछ भी नहीं लिखा है। वे अत्यन्त नम्र स्वभाव के थे। कबीर, जायसी, सूर आदि ने अपने प्रति कहीं भी स्पष्ट संकेत नहीं दिये हैं। रीतिकालीन कवियों में अपने सम्बन्ध में कहने की प्रवृत्ति कुछ अवश्य कुछ अधिक मात्रा में पाई जाती है। केवल, सेनापति, देव, दास ने अपनी गर्वोक्तियों द्वारा जीवन-चरित्र पर अवश्य कुछ प्रकाश डाला है। परन्तु यह भी इतना पर्याप्त नहीं कि उसके आधार पर उनका प्रामाणिक जीवन-चरित्र लिखा जा सके। तुलसीदास ने भी 'कवितावली' और 'विनय-पत्रिका' में ग्लानि के वशीभूत होकर ही अपने जीवन की कुछ घटनाओं का वर्णन किया है।

निष्कर्ष

अतः, जैसा कि हम पीछे कह आये हैं, उपर्युक्त दोनों साक्ष्यों की सामग्री इतनी अपर्याप्त है कि उसके आधार पर एक प्रामाणिक साहित्यिक इतिहास की रचना नहीं की जा सकती। अन्तःसाक्ष्य-विषयक सामग्री संदिग्ध है, क्योंकि उसका आधार प्रधान रूप से जनश्रुतियाँ और किम्वदन्तियाँ हैं, जिनमें सत्य का आंशिक रूप तो मिल जाता है, परन्तु पूर्ण सत्य के दर्शन नहीं होते। इसकी तुलना में बाह्य-साक्ष्य की साहित्यिक सामग्री अधिक प्रामाणिक और खोजपूर्ण है। शिलालेखों और स्थानों के उल्लेख से विशेष सहायता नहीं मिलती। आज-कल विभिन्न विश्वविद्यालयों में ऐतिहासिक सामग्री-विषयक महत्त्वपूर्ण शोध-कार्य हो रहा है। कई नवीन शोधों के कारण हमारी प्राचीन मान्यताएँ बदल रही हैं। राजस्थान में तथा हिन्दी-भाषी प्रदेशों में अनेक स्थानों पर हस्त-लिखित प्राचीन ग्रन्थों के रूप में ऐसी सामग्री विखरी पड़ी है जिसका यदि पता लग जाय तो हमारे साहित्य का आरम्भिककाल अधिक प्रामाणिक और सुश्रृङ्खलित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है तथा भक्तिकाल और रीतिकाल के सम्बन्ध में बहुत-से नये तथ्य प्रकाश में आ सकते हैं।

प्रश्न ३—हिन्दी-साहित्य की परम्परा पर संक्षिप्त प्रकाश डालिए।

उत्तर—हिन्दी की उत्पत्ति कब से

हिन्दी-साहित्य की परम्परा कब से चली, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। अभी तक इतिहासों और साहित्य-शास्त्रियों द्वारा जितनी खोज की गई है; उससे न तो हिन्दी-भाषा की उत्पत्ति के विषय में कोई निश्चित धारणा बन सकी है और न उसके आदि स्वरूप का ही विवेचन हो सका है। हिन्दी-साहित्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सर्वमान्य मत यही है कि जब से अपभ्रंश भाषा साहित्यिक रचनाओं का माध्यम बनी, तभी से हिन्दी-भाषा धीरे-धीरे साहित्यिक क्षेत्र में प्रवेश करने लगी थी, क्योंकि जब अपभ्रंश साहित्य की भाषा बनी थी तब हिन्दी साधारण बोलचाल की भाषा थी। हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखक दीर्घकाल से अपभ्रंश-साहित्य को हिन्दी साहित्य की पृष्ठ-भूमि के रूप में ग्रहण करते आए हैं। मिश्रबन्धुओं ने हिन्दी-साहित्य के अपने इतिहस ग्रन्थ 'मिश्रबन्धु विनोद' में अनेक अपभ्रंश रचनाओं को स्थान दिया है। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी तो अपभ्रंश को 'पुरानी हिन्दी' ही कहते थे। आचार्य

शुक्ल ने भी अपने वीरगाथा-काल के विवेचन में, पूर्व-पीठिका के रूप में अपभ्रंश रचनाओं को स्थान दिया है। राहुल सांकृत्यायन भी इसी मत के समर्थक थे। उन्होंने जब बौद्ध-सिद्धों के पदों और दोहों को हिन्दी कहा, तब उनकी इस मान्यता का बड़ा विरोध हुआ था। राहुल जी ने प्रसिद्ध जैन कवि 'स्वयंभू' की रचनाओं का अध्ययन कर 'हिन्दी-कव्यधारा' नामक संग्रह प्रकाशित किया था। उसमें उस समय तक प्राप्त अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी की अनेक रचनाओं के नमूने प्राप्त होते हैं। अपभ्रंश-साहित्य को मध्य-देश में उसी प्रकार भाषा-काव्य समझा जाता रहा था, जिस प्रकार परवर्ती ब्रजभाषा या अवधी की कविता को। 'कुमारपाल चरित' और 'हम्मीर रासो' को भाषा-काव्य ही माना गया है, यद्यपि ये दोनों अपभ्रंश की रचनाएँ हैं। शिवसिंह सेंगर ने हिन्दी भाषा-का प्रथम कवि 'पुण्य' बताया है जो सातवीं शताब्दी में हुआ था; परन्तु उसकी किसी भी कृति का कोई भी रूप उपलब्ध नहीं है। एक प्राचीन ग्रन्थ में उसका केवल उल्लेख मिलता है। अतः जब तक उसकी रचना का कोई नमूना नहीं मिलता, तब तक उसे हिन्दी-भाषा का प्रथम कवि नहीं माना जा सकता। साथ ही अपभ्रंश-साहित्य को हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत नहीं स्वीकार किया जा सकता, क्योंकि अपभ्रंश और हिन्दी—दो परस्पर भिन्न भाषाएँ हैं।

अपभ्रंश के दो रूप

उपर्युक्त सभी विद्वानों का यह मत है कि—"यदि साहित्यिक परम्परा की दृष्टि से विचार किया जाय तो अपभ्रंश के प्रायः सभी काव्य-रूपों की परम्परा प्रायः हिन्दी में ही सुरक्षित है।" राहुल जी की खोज के आधार पर काशी प्रसाद जायसवाल ने 'सिद्ध सरहा' या 'सरहपा' को हिन्दी का प्रथम लेखक मान लिया है। उनका समय संवत् ८१७ है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार, हेमचन्द्राचार्य ने दो प्रकार की अपभ्रंश भाषाओं की चर्चा की है। एक तो वह परिनिष्ठित अपभ्रंश है, जिसका व्याकरण उन्होंने स्वयं लिखा है। दूसरी श्रेणी की भाषा को उन्होंने 'ग्राम्य' कहा है वह भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई बताई जाती है अर्थात् वह व्याकरण के बन्धनों से मुक्त और सतत् विकासमान बोलचाल की भाषा है। इसी में बौद्धों के पद और दोहे, प्राकृत पैंगलम के उदाहृत अधिकांश पद, सन्देश-रासक आदि रचनाएँ लिखी गई हैं। "इसकी भाषा-शैली, काव्यगत-रियायती अधिकार, स्थापना-पद्धति, छन्द आदि ज्यों के त्यों परवर्ती हिन्दी-साहित्य में आ गए हैं।" अतः

हिन्दी-साहित्य की परम्परा, काव्य-परम्पराओं के अनुगमन की दृष्टि से निर्विवाद रूप से अपभ्रंश साहित्य के अवसान-काल से प्रारम्भ होती है। परन्तु निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि यह कब से प्रारम्भ हुई है; क्योंकि दसवीं शताब्दी से पहले की जो रचनाएँ 'हिन्दी-रचनाएँ' मानी जाती हैं, उनमें प्रायः सबकी या तो प्रामाणिकता संदिग्ध है अथवा ये अपभ्रंश की रचनाएँ हैं, हिन्दी की नहीं। हिन्दी-साहित्य की परम्परा को अपभ्रंश साहित्य से प्रभावित मानने से यह अभिप्राय है कि हिन्दी में आरम्भ में जो साहित्य रचा गया, वह काव्य-परम्परा की दृष्टि से अपभ्रंश साहित्य का बहुत-कुछ अनुगामी रहा था।

हिन्दी-साहित्य का जन्म : ग्यारहवीं सदी

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और बाबू श्यामसुन्दरदास हिन्दी-साहित्य का उत्पत्ति काल ग्यारहवीं शताब्दी मानते हैं। उनके मतानुसार ग्यारहवीं शताब्दी से हिन्दी-साहित्य की जो परम्परा चली, वह तब से लेकर अब तक चलती चली आई है। आचार्य शुक्ल के अनुसार, हिन्दी-साहित्य का बनना तब प्रारम्भ हुआ, जब राजा भोज के समय (संवत् १०५० के लगभग) में अपभ्रंश-भाषा काव्य के लिए रूढ़ हो चली थी, जैसा कि तत्कालीन रचनाओं की भाषा से स्पष्ट है। डाक्टर रामकुमार वर्मा एवं राहुल सांकृत्यायन हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ क्रमशः आठवीं और सातवीं शताब्दी से मानते हैं। क्योंकि इन लोगों ने अपभ्रंश को ही हिन्दी का आदि रूप मान लिया था। इसके अतिरिक्त डाक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी, बाबू गुलाबराय, विश्वनाथप्रसाद मिश्र आदि विद्वान् ग्यारहवीं शताब्दी के ही समर्थक हैं। अतः कहा जा सकता है कि भाषा-विकास की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य की परम्परा ग्यारहवीं शताब्दी से अद्यावधि निरन्तर प्रवहमान रही है।

आरम्भिक-काल की समस्या

हिन्दी-साहित्य के इतिहास का आरम्भिक काल सदैव से अस्पष्ट और विवादग्रस्त रहा है। अभी तक इस काल के साहित्य की काफी छानबीन की जा रही है, परन्तु परिणाम सन्तोषजनक नहीं रहा है। इसका कारण यह है कि पुरानी हिन्दी का शोध-कार्य प्रमुख रूप से उत्तर प्रदेश में हुआ है। परन्तु आरम्भिक-काल से सम्बन्धित साहित्य अधिकतर राजस्थान का मिलता है। इसलिए इस शोध-कार्य का केन्द्र राजस्थान ही होना चाहिए। राजस्थान के विभिन्न राजकीय पुस्तकालयों में अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ भरे पड़े हैं, जिनसे इस काल पर काफी प्रभाव पड़ सकता है। इधर कुछ दिनों से राजस्थान के कुछ उत्साही साहित्य-प्रेमियों ने इस दिशा में कदम उठाया है।

आरम्भिक-काल या वीरगाथा-काल

(सं० १०५० से १३७५ तक)

प्रश्न १—हिन्दी के आरम्भिक युग की सिद्धों की और योगामार्गी नाथ-परम्पराओं का विवरण दीजिए और बताइए कि आगे आने वाली निर्गुण और सगुण भक्ति धाराओं पर उनका क्या प्रभाव पड़ा ?

उत्तर—बौद्ध-धर्म के दो रूप

ईसा की पहली शताब्दी के लगभग विराट् बौद्ध सम्प्रदाय दो खण्डों में विभाजित हो गया था—महायान और हीनयान। इनमें से महायान सम्प्रदाय अपनी अन्तिम अवस्था में वज्रयान और सहजयान नामक दो उप-सम्प्रदायों के रूप में विभाजित हो गया। इस अवस्था में आकर यह धीरे-धीरे लोकमत में घुलने-मिलने का प्रयोग करने लगा। महायान में लोक-भावना का मेल, निर्वाण के लिए संन्यास और विरक्ति, लोक-कल्याण, आचार की पवित्रता, वर्ग-भेद का निषेध और सार्वजनिकता का समावेश आरम्भ ही से था। बौद्ध धर्म का चिन्तन-पक्ष हीनयान ज्ञानार्जन, पाण्डित्य एवं व्रतादि के रूप में स्थिर रहा और महायान में जीवन के व्यावहारिक पक्ष को प्रश्रय प्राप्त हुआ। आगे चलकर महायान ने तान्त्रिक-साधना प्रधान वज्रयान का रूप धारण कर लिया। इस स्थिति तक आते-आते इसकी सदाचार की मूल भावना लुप्त होती चली गई और उसके स्थान पर तन्त्र-मन्त्र आदि के समावेश के कारण वामाचार का प्रभाव बढ़ता गया।

सिद्ध-परम्परा : वाममार्गी साधक

इस वज्रयान शाखा के साधक-योगी 'सिद्ध' के नाम से लोक में प्रसिद्ध हुए। ये जनता पर अपनी तांत्रिक सिद्धियों के चमत्कारों द्वारा प्रभाव डालना चाहते थे। सिद्धों में सबसे पुराने सिद्ध 'सरहा' अथवा 'सरहपा' माने जाते थे। ये सिद्ध अन्तस्साधना के विरोधी थे तथा दक्षिण-मार्ग छोड़कर वाम-मार्ग को ग्रहण करने का उपदेश दिया करते थे। इनकी योगतन्त्र साधना में मद्य तथा स्त्रियों का विशेष महत्त्व और स्थान था। आगे चलकर इसमें 'महासुखवाद'

के सिद्धान्त का प्रवर्त्तन हुआ। निर्वाण-सुख की तुलना सहवास-सुख से की जाने लगी। सिद्धि प्राप्त करने के लिए किसी स्त्री का सेवन आवश्यक माना गया। इन सिद्धों की संख्या चौरासी बताई जाती है। इनका स्थान देश के पूर्वी भाग में विशेष रहा। 'नालन्दा' और 'विक्रमशिला' इनके अध्ययन और साधना के प्रमुख केन्द्र थे। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में इस सम्प्रदाय का बड़ा सजीव और प्रभावशाली चित्रण किया है।

नाथपन्थी-परम्परा का उदय : पावन रूप

नाथ पन्थ का मूल उद्‌गम वज्रयान है। नाथ-पन्थ के प्रवर्त्तक मत्स्येन्द्रनाथ (मछन्दरनाथ) के शिष्य गोरखनाथ माने जाते हैं। योगियों की इस नई शाखा ने वज्रयान के अश्लील और वीभत्स तांत्रिक-विधानों से अपने को अलग रखा। इसमें स्त्री का प्रवेश परीक्षा के रूप में था; उसे सिद्धि का साधन नहीं माना गया था। गोरखनाथ की हठयोग साधना ईश्वर को लेकर चली। उन्होंने सिद्धों की बाह्याचार मूलक बाह्य साधना का विरोध कर अन्तस्साधना, ब्रह्मचर्य, यम-नियम, प्राणायाम, स्त्री-प्रसंग-त्याग आदि बातों पर विशेष बल दिया। ये योगी हठयोगी कहलाये। जिस प्रकार सिद्धों में निम्न वर्ग के व्यक्तियों का बहुमत था, उसी प्रकार नाथों में भी उन्हीं की संख्या अधिक रही। इस पन्थ का प्रचार राजस्थान तथा पंजाब में अधिक रहा। इन योगियों ने सधुक्कड़ी भाषा को जन्म दिया था, जिसे कबीर आदि परवर्ती सन्त-साधकों ने भी अपनाया। इन लोगों ने प्रवृत्ति-मार्ग की अवहेलना कर निवृत्ति-मार्ग का अवलम्बन ग्रहण किया। इन हठयोगियों की संख्या नौ बताई जाती है। ये सिद्धों की वामाचार साधना के घोर विरोधी थे और आचरण की पवित्रता में आस्था रखते थे।

सधुक्कडी भाषा का आविर्भाव

सिद्धों और नाथों द्वारा रचित पुस्तकों की संख्या बहुत अधिक है। वे मूलतः भक्त-साधक थे इसलिए उनका प्रभाव आरम्भिक-काल के वीर-रस सम्बन्धी साहित्य पर न पड़कर भक्ति-साहित्य पर पड़ा। आचार्य शुक्ल ने केवल दो बातों के विचार से अपने इतिहास में इनका वर्णन किया है। पहली बात है—भाषा, जो पुरानी हिन्दी की काव्य-भाषा का रूप है। यह सामान्य बोल-चाल की लोकभाषा थी। इन सिद्धों का प्रचार-क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत होने के

कारण इनकी भाषा में अनेक प्रान्तीय बोलियों के शब्द मिश्रित हो गये थे, जिससे उसका नाम सधुक्कड़ी अर्थात् सासुओं की भाषा पड़ा। नाथ-पन्थी योगी चारों ओर भ्रमण करते हुए अपने मत का प्रचार करते थे। उनकी इस सधुक्कड़ी, अर्थात् साधुओं की भाषा का व्यवहार प्रायः सन्त कवियों ने ही किया है। शुक्ल जी के शब्दों में, दूसरी बात है—"साम्प्रदायिक प्रवृत्ति और उसके संस्कार की परम्परा। उन्होंने बाह्यपूजा, जाँति-पाँति, तीर्थाटन इत्यादि के लिए उपेक्षा बुद्धि का प्रचार किया। रहस्यदर्शी बनकर शास्त्रज्ञ विद्वानों का तिरस्कार करने और मनमाने रूपकों द्वारा अटपटी बानी में पहेलियाँ बुझाने का रास्ता दिखाया। घट के भीतर चक्र, नाड़ियाँ, शून्य-देश आदि स्थित मान कर साधना करने की बात फैलाई और नाद, बिन्दु, सुरति ऐसे शब्दों की उद्धरणी करना सिखाया। यही परम्परा अपने ढंग पर नाथपंथियों ने भी जारी रखी।.......कबीर आदि सन्तों को नाथ-पंथियों से जिस प्रकार 'साखी' और 'बानी' शब्द मिले, उसी प्रकार 'साखी' और 'बानी' के लिए बहुत-कुछ सामग्री और सधुक्कड़ी भाषा भी।"

चिन्ता पारतन्त्र्य की भावना

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी नाथ और योगमार्गी परम्परा के रूप में हिन्दी-साहित्य पर बौद्ध धर्म के प्रभाव को देखते हैं। आप परवर्ती हिन्दी-साहित्य के चिन्ता-पारतन्त्र्य और लोकमत की भावना के मूल में विदेशी शासन की प्रतिक्रिया न मानकर, उसे बौद्ध-धर्म का प्रभाव मानते हैं। आरम्भिक हिन्दी-साहित्य में चिन्ता-पारतन्त्र्य का मूल कारण बौद्ध-धर्म ही रहा है। यह टीकाओं के रूप में प्रारम्भ हुआ। दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी के संस्कृत-साहित्य में टीका की परम्परा-सी चल पड़ी थी। एक ही ग्रन्थ की टीकाओं की संख्या कभी-कभी आठ-दस तक पहुँच जाती थी। इनमें स्वतन्त्र मत का प्रतिपादन कम और मूलग्रन्थ के मत का प्रतिपादन प्रमुख रहता था। यही चिन्ता-पारतन्त्र्य की भावना थी। ग्यारहवीं शताब्दी में इन टीकाओं ने निबन्ध का रूप धारण कर लिया। धर्मशास्त्रीय वचनों का विवेचन कर लोकजीवन के लिए उपयोगी विधियों की व्यवस्था देना इसका कार्य था। इसका प्रभाव सन्तों पर अधिक पड़ा, परन्तु सन्तों में समन्वय की भावना होने के कारण इसका उग्र रूप प्रकट नहीं हो सका। सन्तों की मौलिक विद्रोह-भावना ने इस चिन्ता-पारतन्त्र्य को

साथे रखा। इसके उग्र रूप के दर्शन आगे चलकर रीतिकालीन साहित्य में होते हैं। इसी से रीतिकालीन साहित्य में मौलिकता का ह्रास और प्राचीन मान्यताओं का पिष्टपेषण मात्र मिलता है।

बौद्ध-धर्म का प्रभाव

जब कुमारिल भट्ट और आचार्य शंकर ने दार्शनिक दृष्टि से बौद्ध धर्म का विरोध करते हुए उसका उच्छेद कर दिया तो बौद्ध-धर्म अपने दार्शनिक माया-जाल को छोड़ लोकमत की प्रधानता स्वीकार करने लगा। वह अपनी वाम-मार्गी तांत्रिक-साधना के टोटके, टोने और जादू द्वारा लोकाकर्षण की ओर तेजी से बढ़ा। नाप-जप का जो रूप मध्ययुगीन साहित्य में मिलता है, वह महायान सम्प्रदाय की ही देन थी। इसके अतिरिक्त हमारे सन्त-साहित्य पर बौद्ध-तत्त्ववाद का भी विशेष प्रभाव पड़ा। हिन्दी साहित्य का निर्गुण भक्तिवाद, जिसे विदेशी विद्वान् ईसाई धर्म का प्रभाव मानते थे, निश्चित रूप से महा-यानियों की देन सिद्ध हो चुका है। अवतारवाद की भावना के मूल में भी इसी का प्रभाव रहा है। सिद्ध, नाथपन्थी साधक आदि प्रकारान्तर से बौद्ध-धर्म के महायान से प्रभावित थे, यद्यपि विचारों और सिद्धान्तों में शैवमत के अनुयायी थे। उनके हठयोग, वाममार्गी-साधना आदि पर शैव-मत का गहरा प्रभाव रहा था।

नाथपन्थी योगमार्ग का प्रभाव

इस परम्परा का प्रभाव निर्गुण भक्ति धारा पर विशेष रूप से पड़ा। कबीर ने उस युग में प्रचलित साधना-सम्बन्धी विभिन्न मतों का समन्वय कर, उसमें अपनी भक्ति-भावना का गहरा पुट दे, अपने ज्ञानमार्ग को नाथपन्थी हठयोगियों के योगमार्ग से थोड़ा-सा भिन्न और सरल बना लिया था, क्योंकि हठयोगियों का योगमार्ग नीरस था। कबीर ने उसमें प्रेम और भक्ति का पुट देकर उसे सरस बना दिया था। अहिंसा का भाव भी इन्हीं हठयोगियों की देन है। पांडित्य की अवहेलना और हठयोगी-साधना का प्राधान्य भी गोरख-पंथियों का ही प्रभाव है। योगियों की अद्वैत की साधना ही ज्ञानमार्गी शाखा में रामनाम की उपासना के रूप में सजीव हो उठी थी। उनके यम, नियम, प्राणायाम, निवृत्ति की भावना, स्त्रियों का त्याग आदि विधि-निषेध निर्गुण और सगुण—दोनों धाराओं में ग्रहण कर लिये गये। हठयोगियों का रहस्यवाद ही

उलट-बाँसियों के रूप में कबीर का रहस्यवाद बन गया। हठयोग की सम्पूर्ण क्रियाएँ सन्त-साहित्य में ग्रहण कर ली गयीं। हठयोगियों की गुरुमहिमा तो सम्पूर्ण भक्ति-साहित्य में सर्वमान्य हुई। बौद्धों का 'शून्यवाद' उस युग के सभी साधकों ने ग्रहण कर लिया था। संक्षेप में, हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—"जहाँ तक उनकी उपस्थापन-पद्धति, विषय, भाव, भाषा, अलंकार, छन्द पद आदि का सम्बन्ध है—ये सन्त सौ फीसदी भारतीय परम्परा में पड़ते हैं। उनके पारिभाषिक शब्द, उनकी रूढ़ि-विरोधता, उनका खण्डनात्मक वृत्ति और उनकी अक्खड़ता आदि उनके पूर्ववर्ती साधकों की देन है।" अतः यह कहना नितान्त भ्रामक है कि इन पर ईसाई भक्ति-साधना का प्रभाव था, जैसा कि ग्रियर्सन का मत था।

निर्गुणोपासकों पर गहरा प्रभाव

इन योगियों का प्रभाव सूफियों पर भी पड़ा। गोरखनाथ की ईश्वरवादी हठयोग साधना में मुसलमान सूफी साधकों के लिए पर्याप्त आकर्षण था। वहाँ ईश्वरोपासना के बाह्य विधानों की उपेक्षा कर अन्तस्साधना पर विशेष बल दिया गया था। वह सामान्य मार्ग हिन्दू और मुसलमान—दोनों को इसी कारण ग्राह्य हुआ, जिसमें सामाजिक और धार्मिक बन्धनों और भेदों का निषेध था। अस्तु,

इन साधनों का प्रभाव विशेष रूप से हिन्दी-साहित्य की ज्ञानमार्गी और प्रेममार्गी धाराओं पर ही अधिक पड़ा। सगुण-मार्गी धाराओं पर यह प्रभाव अपेक्षाकृत न्यून था। सगुण भक्तों ने इन साधकों से अहिंसा, गुरु-महिमा, अवतारवाद जगत् की निस्सारता आदि बातों को ही विशेष रूप से ग्रहण किया था। परन्तु सगुण भक्तों ने वैदिक मर्यादा, सामाजिक भेद तथा साधना के पूजा-अर्चनादि बाह्य रूपों को अधिक महत्त्व दिया। सगुण भक्त शास्त्र समस्त उपासना-पद्धति के मानने वाले थे परन्तु सन्त-साधकों के लिए शास्त्रों का कोई मूल्य नहीं था। वे वेद-शास्त्र, ब्राह्मण, कर्मकाण्ड तथा सभी प्रकार के बाह्याचारों के घोर विरोधी थे। परन्तु सगुण भक्तिधारा को वेद-शास्त्र-विरोधी नाथ और सिद्ध-सम्प्रदाय अधिक प्रभावित नहीं कर सके। इसके अनुयायी निम्न वर्ण के हिन्दू और मुसलमान ही अधिक थे। ये लोग सभ्रान्त शिक्षित, परम्परावादी हिन्दू-समाज को प्रभावित करने में असमर्थ रहे थे।

और जीवित रहा था। इसी प्रकार पृथ्वीराज के अनेक विवाहों आदि का वर्णन भी इतिहास-विरुद्ध ठहरता है। साथ ही, शाहबुद्दीन गौरी द्वारा समरसिंह का वध, पृथ्वीराज द्वारा सोमेश्वर का वध आदि घटनाएँ भी अनैतिहासिक हैं। इतिहास सम्बन्धी इन भ्रान्तियों का एक प्रधान आधार जयानक का 'पृथ्वीराज विजय' ग्रन्थ रहा है। इसमें इतिहास-विरुद्ध इन बातों और घटनाओं का कोई उल्लेख या विवरण नहीं मिलता। परन्तु 'पृथ्वीराज विजय' नामक यह ग्रन्थ खंडित रूप में ही उपलब्ध है, इसलिए उसमें दिए विवरणों के आधार पर ही 'पृथ्वीराज रासो' को अनैतिहासिक घोषित कर देना असंगत है।

काल वैषम्य का दूसरा कारण यह है कि रासो में दी गई सभी तिथियाँ अशुद्ध हैं। कर्नल टाड के अनुसार रासो में दिये गए संवतों और ऐतिहासिक साधनों द्वारा प्राप्त संवतों में लगभग १०० वर्ष का अन्तर है। रासो में पृथ्वीराज की मृत्यु-तिथि संवत् ११५८ दी गई है, जबकि इतिहास से यह संवत् १२४८ ठहरती है। इसी प्रकार आबू पर भीम चालुक्य के आक्रमण, शाहबुद्दीन के साथ पृथ्वीराज के पुराडोर युद्ध आदि की तिथियाँ भी अशुद्ध हैं। इसके अतिरिक्त पृथ्वीराज का दिल्ली गोद जाना, मेवाती-मुगल युद्ध, संयोगिता-स्वयंवर आदि घटनाओं का संवत् १४६० के आस-पास रचित 'हम्मीर' महाकाव्य में कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। विद्वानों के अनुसार 'हम्मीर काव्य, में इन घटनाओं का उल्लेख होना आवश्यक था, यदि ये घटनाएँ सच्ची होतीं। रासो के अनुसार शाहबुद्दीन गौरी संवत् ११३९ में पृथ्वीराज द्वारा मारा गया; परन्तु इतिहास के अनुसार संवत् १२२३ में गक्खरों द्वारा उसका वध किया गया था। अतः इस अनैतिहासिकता के कारण रासो को जाली ग्रन्थ ठहराया गया है; क्योंकि यदि 'पृथ्वीराज रासो' का रचयिता चन्दवरदाई पृथ्वीराज का समकालीन होता तो उससे इतनी भयंकर भूलें होनी असम्भव थीं। इतिहास-सम्बन्धी इन भ्रान्तियों को उपेक्षणीय और संगत नहीं माना जा सकता।

रचना काल सम्बन्धी विवाद

रासो का निर्माण किस काल में हुआ, इसके सम्बन्ध में ओझा जी का मत है कि १४६० में रचित 'हमीर' महाकाव्य में रासो का आधार ग्रहण नहीं किया गया, अतः रासो की रचना उसके उपरान्त हुई होगी। यद्यपि ओझाजी का यह तर्क संगत नहीं प्रतीत होता। मुगल-मेवाती युद्ध के वर्णन से भी वह

१४४५ और १५८७ के बीच का ही ठहरता है। ओझा जी के अनुसार रासो की सबसे प्राचीन प्रति संवत् १६४२ की मिली है। अतः रासो का निर्माण काल संवत् १६०० के लगलग माना जा सकता है। परन्तु ओझा जी द्वारा प्रस्तुत किये गए ये तर्क और प्रमाण इतने सशक्त और संगत नहीं हैं कि इनके आधार पर 'पृथ्वीराज रासो' को संवत् १६०० के आसपास लिखा मान लिया जाय। बाबू रामनारायण दूगड़ को प्राप्त एक प्राचीन पुस्तक के अन्तिम छन्द से यह ज्ञात होता है कि पृथ्वीराज रासो के छन्द जगह-जगह पर बिखरे हुए थे, जिनका संकलन महाराणा अमरसिंह ने कराया था। इसकी पुष्टि महाराणा राजसिंह द्वारा निर्मित नौ चौकी बाँध के संवत् १७३२ के शिलालेख से भी हो जाती है। परन्तु पं० हरप्रसाद शास्त्री को रासो की एक प्रति चन्द के वंशधर ने नूराम जी के पास मिली थी, जिसका रचनाकाल संवत् १४५५ है। मोतीलाल मेनारिया का मत है कि अठारहवीं शताब्दी से पूर्व के किसी भी भाषा-ग्रन्थ में रासो का उल्लेख हुआ नहीं मिलता। राजसिंह की 'राज-प्रशस्ति' का लिखना संवत् १७१८ में आरम्भ हुआ था। अतः उसके अनुसार इसी के लगभग रासो का निर्माण काल माना जा सकता है। अतः रासो पृथ्वीराज की समकालीन रचना नहीं है।

अन्य विभिन्न मत

रासो को प्रामाणिक मानने वाले विद्वान रासो में प्रक्षिप्त अंशों का होना तो स्वीकार करते हैं, किन्तु उसे पूर्णरूपेण जाली नहीं मानते। वे इस बात को मानते हैं कि चन्द पृथ्वीराज का समकालीन कवि था। ओझा जी चन्द का होना तो मान लेते हैं; परन्तु उसे पृथ्वीराज का समकालीन नहीं मानते। मिश्रबन्धुओं का मत है कि नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से प्रकाशित पट्टे-परवानों से इन भ्रान्तियों का निराकरण हो जाता है, परन्तु ओझा जी इन्हें भी जाली मानते हैं। पाण्ड्या जी ने आनन्द संवत की कल्पना कर बताया है कि रासो की सभी घटनाओं में ९० वर्ष जोड़ देने से संवत् ठीक हो जाते हैं, परन्तु वास्तविकता यह है कि ऐसा करने पर भी तिथियाँ इतिहास से मेल नहीं खातीं। श्यामसुन्दरदास का कथन है कि चन्द पृथ्वीराज का दरबारी कवि था। कालान्तर में समयानुसार उसके लिखे हुए रासो की भाषा और वर्णित विषयों में बहुत परिवर्तन होता गया है। परन्तु उनकी राय का भी कोई पुष्ट आधार नहीं है। पहले आचार्य शुक्ल श्यामसुन्दरदास से सहमत थे, किन्तु

बाद में उन्होंने लिखा—"इस सम्बन्ध में इसके अतिरिक्त और कुछ कहने को जगह नहीं कि यह ग्रंथ पूरा जाली है। यह हो सकता है कि इसमें इधर-उधर चन्द के कुछ पद्य भी बिखरे हों, पर उनका पता लगाना असम्भव है। यदि यह किसी समसामयिक कवि का रचा होता और इसमें कुछ थोड़े अंश ही पीछे से मिले होते तो घटनाएँ और कुछ संवत् तो ठीक होते।"

अप्रामाणिकता-सम्बन्धी दो अन्य कारण

घटना-वैषम्य और काल-वैषम्य के अतिरिक्त दो बातें और हैं, जिनके कारण इसे अप्रामाणिक ठहराया गया है। प्रथम कारण, कुछ विद्वानों के अनुसार रासो में अरबी-फारसी के बहुत से शब्दों का प्रयोग हुआ है, जो चन्द के समय में किसी भी प्रकार व्यवहार में नहीं लाये जा सकते थे। इस प्रकार रासो की भाषा चन्द के समय की न होकर सोलहवीं शताब्दी की ठहरती है। इसके विपरीत, रासो को प्रामाणिक मानने वाले विद्वानों का कथन है कि उस समय मुसलमानों के आक्रमण प्रारम्भ हो गये थे। अतः लाहौर का निवासी होने के कारण चन्द की भाषा में उन शब्दों का प्रयोग उचित और तर्कसंगत है। दूसरा कारण, अनुस्वारान्त शब्दों की भरमार है। इनमें प्राकृत और अपभ्रंश की शब्द-रूपावली का कोई विचार नहीं है और नये-पुराने ढंग की विभक्तियाँ बुरी तरह मिली हुई हैं। भाषा में कहीं सोलहवीं शताब्दी के और कहीं प्राचीन भाषा के दर्शन होते हैं। प्रामाणिकता के समर्थक विद्वान इसे प्रक्षिप्तांश का कारण मानते हैं।

चार रूपान्तर

अब तक रासो के चार रूपान्तर अर्थात् भिन्न-भिन्न आकार के चार संस्करण प्राप्त हुए हैं। प्रथम में लगभग एक लाख छन्द, द्वितीय में दस हजार छन्द, तृतीय में चार हजार छन्द और चतुर्थ में दो हजार छन्द हैं। सर्वप्रथम मुनि जिनविजय ने इस बात पर जोर दिया कि रासो का मूल रूप अल्पकाय था और उसकी भाषा अपभ्रंश थी, क्योंकि 'पुरातन प्रबन्ध-संग्रह' में चार छन्द ऐसे मिलते हैं, जो रासो की लघुतम प्रतियों में भी हैं। जिस प्रति से ये छन्द उद्धृत किये गए हैं, वह पन्द्रहवीं शताब्दी की है। हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है—"इन पद्यों के प्रकाशन के बाद से अब इस विषय में किसी को सन्देह नहीं रह गया है कि चन्द नामक कोई कवि पृथ्वीराज के दरबार में अवश्य थे, और उन्होंने अपने आश्रयदाता के सम्बन्ध में ग्रन्थ भी लिखा था। सौभाग्यवश

वर्तमान रासो में भी ये छन्द विकृत रूप में प्राप्त हो गए हैं। इनसे यह अनुमान किया जा सकता है कि वर्तमान रासो में चन्द के मूल छन्द अवश्य मिले हुए हैं।"

प्रामाणिकता-समर्थक तर्क

डॉ० दशरथ शर्मा ने रासो के ऊपर बहुत परिश्रम किया है। अपने लम्बे और कठोर परिश्रम के उपरान्त वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि रासो का मूल रूप अल्पकाया था। बाद में, परवर्ती कविगण उसमें नए-नए प्रसंग जोड़ते रहे होंगे, इसलिए उसका आकार बढ़ता चला गया होगा। अतः उसका मूल-रूप प्रामाणिक है। उन्होंने रासो को अप्रामाणिक बताने वाले विद्वानों के मतों का खण्डन करते हुए निम्नलिखित तर्क दिए—

(१) "मूल रासो न तो जाली ग्रन्थ है और न उसकी रचना सं० १६०० के आस-पास हुई थी। इधर मिली हुई रासो की लघुतम प्रतियों के आधार पर घटना-वैषम्य एवं भाषा-सम्बन्धी शंका का समाधान हो जाता है। इन प्रतियों में इतिहास-विषयक त्रुटिपूर्ण घटनाओं का कहीं भी उल्लेख नहीं है। (२) राजपूत कुलों की आबू के अग्निकुण्ड से उत्पत्ति का उल्लेख भी इस प्रति में नहीं है। इसमें केवल इतना लिखा है कि ब्रह्मा के यज्ञ से वीर चौहान मानिकराय उत्पन्न हुआ। सुर्जन-चरित्र, हम्मीर काव्य और पुष्कर तीर्थ में भी यह कथा इसी प्रकार है। (३) ओझा जी के अनुसार रासो की अशुद्ध वंशावली का यह विस्तार बीकानेर वाली लघुतम प्रति में नहीं है। 'पृथ्वीराज विजय' में और इस प्रति की वंशावली में कुछ ही नामों में अन्तर है। (४) अनंगपाल और पृथ्वीराज के सम्बन्ध की अशुद्धि इस प्रति में भी है। शर्मा जी इसका कोई कारण नहीं बता सके हैं। (५) संयोगिता-स्वयंवर का वर्णन अन्य सभी प्रतियों में विस्तारपूर्वक है; परन्तु लघुतम प्रति में केवल इच्छिनी के विवाह का ही वर्णन है। (६) पृथा का विवाह तथा शाहबुद्दीन-साँभरसिंह युद्ध और भीम और सोमेश्वर तथा पृथ्वीराज और सोमेश्वर के युद्ध का इस प्रति में कहीं उल्लेख नहीं है। इसमें पृथ्वीराज और पद्मावती के विवाह की कथा भी नहीं है। लघुतम प्रति में कयमास-वध का वर्णन है। 'पृथ्वीराज विजय' के अनुसार वह पृथ्वीराज का प्रधान सेनापति था, यह मूल रासो की कथा थी।"

निष्कर्ष

उपर्युक्त प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि अपने मूल रूप में रासो की

ऐतिहासिकता अक्षुण्ण है; परन्तु लघुतम प्रति भी दो घटनाओं की शुद्धता नहीं प्रमाणित कर सकी। शर्मा जी के पास पृथ्वीराज का अनंगपाल तोमर का नाती होने का और इच्छिनी से उसके विवाह का प्रमाण नहीं है। इसके अतिरिक्त संयोगिता-स्वयंवर और चौहानों की उत्पत्ति भी सन्देहास्पद है। रासो-विषयक इतनी लम्बी खोजों और विवादों के उपरान्त भी हिन्दी-साहित्य के विद्यार्थी के लिए यह निश्चय करना दुष्कर है कि रासो जाली है अथवा असली। फलस्वरूप आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—"इस निरर्थक मन्थन से जो दुस्तर फेनराशि तैयार हुई है, उसे पार करके ग्रन्थ के साहित्यिक रस तक पहुँचना हिन्दी-साहित्य के विद्यार्थी के लिए असम्भव-सा व्यापार हो गया है।" फिर भी इस बात को पूरी तरह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि 'पृथ्वीराज रासो' चन्दवरदाई की रचना नहीं है। इसमें प्रक्षिप्त अंश काफी मात्रा में अवश्य हैं, परन्तु इतने अधिक नहीं कि पूरे ग्रन्थ को ही जाली मान लिया जाय। इसका मूल रूप छोटा रहा होगा।

प्रश्न ६—हिन्दी में वीर-रसात्मक काव्य के विकास का इतिहास बताते हुए द्वितीय उत्थान-काल की वीर रस-सम्बन्धी रचनाओं की तुलना आरम्भिक कालीन वीरगाथाओं से कीजिए।

उत्तर—वीरकाव्य की अक्षुण्ण धारा

हिन्दी में वीर-काव्य की धारा आरम्भिक काल से लेकर आधुनिक काल तक निरन्तर प्रवाहित होती रही है। कभी उसकी गति अत्यन्त तीव्र रही है और कभी अत्यन्त मन्द; परन्तु उसका प्रवाह किसी भी काल में सर्वथा बन्द नहीं हो पाया है। सामान्यतया हिन्दी-साहित्य का आरम्भिक काल ही वीर-काव्य का प्रथम प्रणयन-काल माना जाता है, क्योंकि उस काल की परिस्थितियाँ वीर-काव्य के सृजन के लिए ही अधिक अनुकूल थीं। इसी कारण शुक्लजी ने इसे 'वीरगाथा-काल' कहा था। उस समय पश्चिमोत्तर भारत पर मुस्लिम आक्रमण हो रहे थे। एक केन्द्रीय शक्ति के अभाव में देश छोटे-छोटे खण्ड-राज्यों में विभक्त हो गया था। इन खण्ड-राज्यों के राजपूत शासक पारस्परिक संघर्ष में रत रहते थे। इनके दरबारों में रहने वाले चारण और भाट इन नरेशों को सदैव युद्ध करने के लिए प्रोत्साहित करने में ही अपनी वाणी की सार्थकता समझते थे। अपने आश्रयदाओं में वीरता की भावना उत्पन्न करना ही उनका प्रमुख कार्य था। इसी कारण इस काल के वीररसात्मक रासो ग्रन्थों में

सैना का आक्रमण, वीरों का प्रशस्ति-गान, युद्ध-क्षेत्र के रोमांचक वर्णन अत्यन्त भव्य और प्रभावशाली चित्रों के रूप में उपस्थित किये जाते थे। पारस्परिक युद्ध के मूल में प्रधान कारण प्रायः नारी ही रहती थी। अतएव शृङ्गार भी सहायक होकर वीर-रस को तीव्रता प्रदान करता रहा था। चन्द, नरपति नाल्ह, जगनिक आदि इस काल के प्रमुख कवि हैं। इस काल की कविता में वीर-रस का ऐसा ओज भरा चित्रण हुआ मिलता है कि जिसे पढ़कर अथवा सुनकर हृदय में वीरता की भावना उद्‌बुद्ध हो उठती है। इसका कारण यह है कि इस काल में चारणों की वीर-रस सम्बन्धी अनुभूति बहुत ही तीव्र थी। वे केवल देखी अथवा सुनी-सुनाई घटनाओं का ही वर्णन करना नहीं जानते थे, वरन् उन्हें युद्ध का प्रत्यक्ष अनुभव भी होता था। वे स्वयं योद्धा होते थे और कलम के अतिरिक्त तलवार का चमत्कार दिखाना भी जानते थे। परन्तु उनमें व्यापक राष्ट्रीय भावना का अभाव था, उन्हें देश की तनिक भी चिन्ता नहीं थी। वे केवल अपने-अपने आश्रयदाताओं के प्रशस्ति-गान तक ही स्वयं को सीमित रखते थे। कालान्तर में जब भारत में मुसलमानों का शासन दृढ़ हो गया तो इन वीरगाथाओं की रचना में शिथिलता आ गई। (इस काल की सामग्री का उल्लेख द्वितीय प्रश्न में किया जा चुका है।)

भक्तियुगीन वीर-काव्य

भक्ति-काल में आकर वीरता का स्वरूप बदल गया था। हिन्दू राज्यों का पराभव होने पर हिन्दी-काव्य के स्वर राज-दरबारों से हटकर साधु-महात्माओं की कुटियाओं में गुंजरित होने लगे। सन्त और भक्त-कवि काम, क्रोध, लोभ मद, मत्सर—इन षट् शत्रुओं को जीतने का प्रयत्न करने लगे। आत्म-दमन में ही उनकी आत्मिक वीरता का सच्चा स्वरूप प्रकट हुआ; परन्तु यह काव्य वीर-काव्य की श्रेणी में नहीं माना जा सकता। (हमारे वीर-काव्य का सम्बन्ध प्रधानतया युद्ध-सम्बन्धी वीरता और उत्साह से ही रहा है। वियोगी हरि के प्रेम-वीर आदि को वीरता के इस वर्ग में शामिल नहीं किया जा सकता।) भक्ति-काल में तुलसीदास ने श्री रामचरितमानस और कवितावली में राम-रावण युद्ध का सजीव वर्णन कर वीर-रस का सुन्दर परिपाक किया। कविता-वली के युद्ध विषयक छप्पय और कवित्त हमारे वीर-काव्य की स्थायी निधि माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त जायसी के युद्ध-वर्णनों में वीर-रस का सुन्दर परिपाक हुआ है। सेनापति के वीर-रसपूर्ण छन्द अत्यन्त सुन्दर बने पड़े हैं।

सूरदास के गोवर्द्धन धारण, दावानल-दलन एवं राक्षसों का संहार आदि प्रसंगों में कई पदों की भाषा वीरगाथा-काल की भाषा से मिल जाती है। परन्तु समष्टि रूप से भक्ति-काल में वीर-रस की धारा अत्यन्त क्षीण ही रही है। इस काल के कृष्ण-भक्त कवि अपने आराध्य के रूप-सौन्दर्य और प्रेम-क्रीड़ाओं का वर्णन करने में ही दत्तचित्त रहे थे। उन्होंने कृष्ण के लोक-रक्षक रूप को महत्त्व नहीं दिया था।

शृंगार कालीन वीर-रसात्मक काव्य

शृंगार काल (रीतिकाल) प्रधान रूप से शृंगार के वर्णन का काल है; फिर भी केशव की 'रामचन्द्रका' एवं 'वीरसिंह देव चरित' में युद्ध के बड़े सजीव वर्णन मिलते हैं। रामचन्द्रिका' के राम-रावण-युद्ध और लवकुश-युद्ध के वर्णन बड़े सटीक और भावोत्तेजक हैं। इसी काल में 'हम्मीर चरित' और जोधराज कृत 'हम्मीर रासो' नामक वीर-रसात्मक ग्रन्थ लिखे गये। अकबर के युग में वीरता की भावना केवल राणा प्रताप तक ही सीमित रह गई थी। राजस्थानी साहित्य में राणा प्रताप की वीरता का विस्तृत वर्णन मिलता है। राणा प्रताप के युद्ध में राष्ट्रीय चेतना की झलक अवश्य मिलती है; परन्तु औरंगजेब से पहले तक हिन्दू-जाति की एक प्रकार से सुषुप्ति की ही अवस्था रही। औरंगजेब के आते ही परिस्थिति बदली। इतिहास की यह अद्भुत शिक्षा है कि कठोर, अत्याचारी और अन्यायी शासकों के शासन-काल में ही जनता को अपने कल्याण का मार्ग दिखाई देता है। औरंगजेब के धार्मिक अत्याचार से देश में हलचल मच गई। इसी हलचल ने द्वितीय उत्थान-कालीन अर्थात् शृंगार कालीन वीर-काव्य को जन्म दिया। इस काल में भूषण, सूदन, लाल, मान, पद्माकर आदि कवियों ने वीर-रस की सुन्दर कविताएँ लिखीं। इनकी वर्णन-शैली आरम्भिककालीन वीरकाव्य की सी ही रही।

आधुनिक काल में ब्रिटिश शासन के अत्याचार, शोषण, अन्याय आदि के कारण देश में राष्ट्रीयता की भावना फैली। भारतेन्दु के अपने 'भारत-दुर्दशा' नाटक में देश-भक्ति का पुट देकर सर्वप्रथम वीर-भावों का समावेश किया। यद्यपि उनके नाटकों में भी हिन्दू-मुस्लिम-संघर्ष की छाया मिलती है, परन्तु एक प्रकार से राष्ट्रीयता का सूत्रपात उन्होंने ही किया। उनके नाटकों में पाई जाने वाली हिन्दू-मुस्लिम-संघर्ष की छाया प्रतीकार्थक है। भारतेन्दु मुस्लिम शासकों

के माध्यम से अंग्रेजों के शोषक और अत्याचारी रूप की ओर ही अप्रत्यक्ष संकेत कर रहे थे। उन्होंने "आबहु सब मिलि रोवहु भारत भाई। हा! हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई"—की पुकार लगाई थी। उसके बाद देशभक्ति की भावना का विकास हरिऔध और मैथिलीशरण गुप्त में दिखाई दिया। उन्होंने प्राचीन आख्यानों में तथा फुटकर कविताओं में देशभक्ति की भावना का पुट दिया। इस काल में राम और कृष्ण की सांस्कृतिक विरासत पर गर्व अनुभव करने में ही कवि को अधिक आनन्द मिला। गुप्तजी की 'भारत भारती' इस काल की प्रसिद्ध रचना है।

अन्याय का शान्त और उग्र विरोध

छायावादी युग में यद्यपि कवि अन्तर्मुखी वृत्ति का हो गया, पर गाँधीजी के प्रभाव से अत्याचार सहन करने की प्रेरणा द्वारा साहित्य में आदर्श के लिए मर-मिटने की भावना जागी। जेल-यात्रा के कष्टों का वर्णन, गोरी सरकार के विरुद्ध घृणा का प्रकाशन और अन्याय को मिटाने के लिए जीवनार्पण की ध्वनियाँ इस काल में प्रमुख रहीं। दूसरी ओर विषमतापूर्ण विश्व को नष्ट करने के लिए प्रलय का आह्वान भी बड़े जोरों से हुआ। माखनलाल, नवीन और दिनकर इस काल के ऐसे ही कवि हैं, जिन्होंने नाश और मरण का त्यौहार मनाने में ही सुख का अनुभव किया तथा प्राचीन रूढ़ियों को छिन्न-भिन्न करने की घोषणा की। इन कवियों में से कुछ ने तो क्रियात्मक क्षेत्र में भी काम किया और कुछ की वीरता केवल मौखिक ही रही। सुभद्राकुमारी चौहान, श्री श्यामनारायण पांडेय आदि की 'झाँसी की रानी', 'हल्दीघाटी' आदि वीर-रसात्मक कविताएँ इस काल में अत्यन्त प्रसिद्ध और लोकप्रिय रहीं। प्रसाद-पन्त-निराला के काव्य में वीर रस के कहीं-कहीं बड़े उत्तेजक और प्रभावशाली वर्णन मिलते हैं।

क्रांति के गीत

इनसे भी अधिक वीर-रस की वे प्रभावशाली रचनाएं प्रचार पा सकीं, जिन्हें गाते-गाते हमारे क्रान्तिकारी वीर शहीद हो गये थे। उनके गीतों में यद्यपि कलात्मक सौन्दर्य का अभाव था; परन्तु गहन अनुभूति के सहज उद्‌गार होने के कारण ये गीत प्राणों में एक तीव्र स्पन्दन उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ थे। उस समय अधिकांश युवक इन्हीं गीतों को गाते आजादी की लड़ाई में कूद पड़ते थे।

प्रगतिवादी वीरकाव्य

छायावादी युग के उपरान्त प्रगतिवादी कवियों ने किसान और मजदूरों की महिमा के गीत गाये। ये मानो किसान-मजदूरों के चारण बनकर काव्य-क्षेत्र में उतरे। इनको संगठित कर जन-क्रान्ति के लिए तैयार करना, शोषण के विरुद्ध आवाज उठाना, नई समाज-व्यवस्था का स्वरूप उपस्थित करना—इन कवियों की वीर-भावना का प्रतीक है। इनके काव्य में आंशिक रूप से कला-पक्ष की अवहेलना रही है। प्रगतिवादी वीर-रसात्मक काव्य में जन-सामान्य का विदेशी सरकार और पूँजीवादी शोषण के खिलाफ तीव्र आक्रोश अपने प्रकृत रूप में अभिव्यक्त हुआ है। प्रगतिवादी कवियों में पन्त, नरेन्द्र, सुमन, अंचल, दिनकर डॉ० रामविलास शर्मा, रांगेय राघव, केदारनाथ अग्रवाल; गिरिजाकुमार माथुर, वीरेन्द्र मिश्र, प्रसिद्ध हैं।

वीरता के बदलते लक्ष्य

इस प्रकार हिन्दी में वीरगाथा-काल से लेकर आज तक वीर-रसात्मक साहित्य बराबर लिखा जाता रहा है। संघर्ष सदैव ऐसे साहित्य का प्राण रहा है। समय बदलने के साथ उसका स्वरूप भी बदला है। आरम्भिक काल (वीर-गाथा-काल) से लेकर रीति-काल तक के काव्य में हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष प्रधान था। आधुनिक काल में वह संघर्ष अंग्रेजों के विरुद्ध आरम्भ हुआ। अब वह पूँजीपतियों और शोषित जनता का संघर्ष बन गया था। आज हम स्वतन्त्र हैं, लेकिन फिर भी कष्ट में हैं। इसलिए पूँजीवादियों के विरुद्ध इस संघर्ष का रूप उग्र होता जा रहा है। संघर्ष के इस स्वर में तीव्र आक्रोश और हिंसक क्रान्ति की भावना प्रकट हो रही है। नए कवियों का विश्वास है कि पूँजीवाद का विनाश होने पर ही सच्चे अर्थों में जन-राज्य की स्थापना होगी।

तुलना

द्वितीय उत्थान-काल की वीर-रचनाओं से अभिप्राय शृंगारकालीन वीर-रसात्मक काव्य से है। आरम्भिककाल और शृंगारकालीन वीर रसात्मक-काव्य में कुछ बातों में समानता मिलती है और कुछ में विषमता। समानता के रूप में हम वीर-गाथाओं की सामान्य प्रकृति पाते हैं और विषमता के रूप में दोनों कालों की परिस्थितियों का अन्तर है। दोनों कालों की वीरगाथाएँ अद्भुत ओज से भरी हुई हैं। दोनों की भाषा में वीर-काव्योचित उत्साह, दृढ़ता और कठोरता है तथा अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसात्मक उक्तियाँ हैं। वीर-रस के साथ

राष्ट्रीयता की भावना दोनों कालों में है, परन्तु समय के अनुसार उनकी राष्ट्रीयता की सीमाएँ संकुचित और विस्तृत होती गई हैं। आरम्भिक वीर-गाथा-काल में प्रत्येक राज्य राष्ट्र ही था; परन्तु शृंगार-काल में राष्ट्र के स्थान पर हिन्दू-राष्ट्र की भावना उत्पन्न हो गई। आज की हिन्दू-मुस्लिम एकता वाली अखिल भारतीय राष्ट्रीयता तब अभीष्ट नहीं थी।

आरम्भिक काल की अतिशयोक्तिपूर्ण वीर-रसात्मक रचनाओं में ऐतिहासिकता का निर्वाह नहीं मिलता; परन्तु शृंगारकालीन वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण होते हुए भी उनमें ऐतिहासिकता का पूर्ण निर्वाह करने का प्रयत्न हुआ मिलता है। मनमानी घटनाओं एवं पात्रों का उसमें सर्वथा अभाव है। आरम्भिक वीर-गाथा-काल में वीर और शृंगार रस साथ-साथ चलते थे। परन्तु शृंगारकालीन वीर-काव्य में केवल वीर-रस की प्रधानता रही; शृंगार का उसमें अभाव है। केवल केशव और पद्माकर में कहीं-कहीं शास्त्रीय पद्धति पर शृंगार रस का विवेचन मिल जाता है।

आरम्भिक काल में भाव-पक्ष प्रबल था। उद्गारों में सहज स्वाभाविकता थी। शास्त्रीय ज्ञान के प्रयोग की भावना नहीं थी; परन्तु शृंगारकालीन वीर-काव्य के प्रणेता कवि और आचार्य दोनों थे। इससे इसमें कला-पक्ष प्रबल है, अत: साहित्यिकता भी अधिक है। उसमें अलंकार छन्द एवं भाषा का बड़ा परिमार्जित एवं सुष्ठु रूप मिलता है। भाषा पूर्ण वीर-रसानुकूल है। कर्कश एवं कर्णकटु शब्दावली. ओज की प्रधानता, संयुक्ताक्षर, ट वर्ग और 'र' कार का बाहुल्य आदि इसकी विशेषताएँ हैं।

भाषा सम्बन्धी अन्तर

इन दोनों कालों का भाषा-सम्बन्धी भेद अपनी विशेषता रखता है। आरम्भिक युग की वीरगाथाएँ अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी के सम्मिश्रण काल की हैं। उस काल की भाषा में प्रौढ़ता का अभाव है। दूसरे उसका केन्द्र राजस्थान के आस-पास का प्रान्त था। इसलिए उन रचनाओं में डिंगल की गहरी छाप है। इसके विपरीत शृंगारकालीन रचनाओं में व्रजभाषा अपने प्रौढ़तम रूप में प्रयोग हुई है। इस भाषा-प्रौढ़ता के कारण इन रचनाओं को हम या तो प्रबन्ध-काव्य के रूप में पाते हैं, या सुगठित मुक्तकों के रूप में। इसमें आदि-युग के वीर-गीतों का अभाव है। समष्टि रूप से, इन दोनों कालों में रचित वीर-रसात्मक काव्य में हमें ऐसा कोई आधारभूत और मौलिक अन्तर नहीं मिलता जो उल्लेखनीय हो। दोनों ही युगों के वीर-रसात्मक काव्य में अतिशयोक्ति की प्रधानता रही है, जो रस का सहज अनिवार्य अंग है।

पूर्व-मध्यकाल या भक्तिकाल

(सं० १३७५ से १७०० तक)

प्रश्न १—भक्ति-काल सम्बन्धी काव्य के उदय होने में जिन-जिन परिस्थितियों ने योग दिया था, उनका उल्लेख कीजिए। उस काल की प्रमुख चिन्तन-धाराएँ कहाँ तक उसके अनुकूल थीं ?

उत्तर—**विषम परिस्थितियाँ**

अपने समय की सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के अनुरूप ही किसी काल के साहित्य का निर्माण होता है। भक्ति-काल के प्रारम्भ में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो चुकी थीं, जिनसे प्रभावित होकर काव्य का क्षेत्र बदल गया। मुस्लिम प्रभुत्व के स्थापित हो जाने पर आरम्भिककालीन वीर-भावना लुप्त हो गई और भिन्न भाषा-भाषियों एवं विधर्मी मुस्लिम शासकों के अत्याचार बढ़ने लगे। मुस्लिम-दरबारों की राजभाषा फारसी बन गई, इसलिए देशी भाषा के कवियों का राज्याश्रय समाप्त हो गया। काव्य को राज्य-दरबार से हटकर विरक्त साधुओं की कुटिया में आश्रय प्राप्त हुआ। फलस्वरूप आश्रयदाताओं के गुण-गान के स्थान पर देश का समस्त वातावरण भगवान के कीर्तिगान से ध्वनित हो उठा। परन्तु ऐसा एकाएक और अप्रत्याशित रूप में नहीं हुआ था, जैसाकि ग्रियर्सन महोदय को लगा था। वास्तविकता यह थी कि भारत की आध्यात्मिक कविता की परम्परा, जो कुछ समय से दब गई थी, धार्मिक आचार्यों और साधु-सन्तों का सहयोग पाकर पुनः उभर आई थी। भक्ति की इस प्रबल धारा से आश्चर्यचकित हो, अंग्रेज विद्वान डॉ० ग्रियर्सन ने लिखा था—"हम अपने को ऐसे धार्मिक आन्दोलन के सामने पाते हैं जो उन सब आन्दोलनों से कहीं अधिक व्यापक और विशाल है, जिसे भारत ने कभी देखा है। इस युग में धर्म ज्ञान का नहीं, बल्कि भावावेश का विषय

हो गया था। बिजली की चमक के समान समस्त पुराने धार्मिक मतों के अन्ध-कार के ऊपर एक नई बात दिखाई दी। कोई हिन्दू यह नहीं जानता कि यह बात कहाँ से आई।" ग्रियर्सन का अनुमान है कि यह भक्ति-भावना ईसाई धर्म की देन थी; परन्तु उनका यह कथन उनके भारतीय सांस्कृतिक और आध्यात्मिक इतिहास की परम्परा से पूर्णतः अनभिज्ञ होने का ही द्योतक हैं। ग्रियर्सन को इस तथ्य का ज्ञान नहीं था कि भारत में भक्ति की धारा विभिन्न रूपों में अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रवाहित होती चली आ रही थी। यदि वह संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के प्राचीन साहित्य का अध्ययन कर सके होते तो इसे ईसाई धर्म की देन घोषित करने की गलती न करते।

भक्ति-धारा का अबाध-प्रवाह

भक्तिकाल के उदय होने का दूसरा कारण यह बताया जाता है कि जब मुसलमान हिन्दुओं पर अत्याचार करने लगे तो हिन्दू निराश होकर उस दीन-रक्षक भगवान से रक्षा करने की प्रार्थना करने लगे। यह तर्क भी निराधार है क्योंकि जब उत्तर भारत में धार्मिक अत्याचार हो रहे थे, उस समय अपेक्षाकृत अधिक निरापद एवं शान्त दक्षिण भारत में भक्ति की अबाध धारा प्रवाहित हो रही थी। वहाँ के भक्तों ने भगवान् से शरणागति की प्रार्थना की। प्रारम्भ में उत्तर भारत में उसका प्रभाव अपेक्षाकृत क्षीण अवश्य रहा; परन्तु यह भक्ति की धारा 'अचानक बिजली के समान' उत्पन्न नहीं हुई थी। इसके लिए सहस्र वर्षों से मेघ-खण्ड एकत्र हो रहे थे। उत्तर भारत में भी पौराणिक शास्त्रों के आधार पर भक्ति-भावना फैल रही थी। यहाँ उस समय नारदीय-भक्ति का प्रचार था। यहाँ की जनता स्मर्त-मतावलम्बी थी। नाथ पंथियों का शैवधर्म भी पर्याप्त प्रभावशाली था। इस युग में अवतार को मानने वाली दृष्टि में भी परिवर्तन हो गया था। पहले विश्वास के अनुसार भगवान साधुओं के परित्राण और दुष्टों के दमन के लिए अवतार धारण करते हैं; परन्तु भक्ति-युग तक आते-आते यह विश्वास किया जाने लगा कि "भगवान् के अवतार का मुख्य हेतु भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए लीला का विस्तार करना ही है। भक्त भगवान् के चरित्र का अनुशीलन किसी अन्य उद्देश्य से नहीं, भक्ति पाने के उद्देश्य से करते हैं। भगवान् का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ऐकान्तिक भक्ति ही है। कैवल्य या अपुनर्भव को भी भक्त उसके सामने तुच्छ समझता है। मध्यकाल के भक्तिमार्ग में इसी ऐकान्तिक भक्ति का स्वर प्रबल

रहा है। इस भावना के साथ ही अवतारों का महत्त्व बढ़ा था। वस्तुतः सगुण भक्ति के मूल में अवतार की भावना ही प्रमुख रही थी।

निर्गुण-भक्ति का विकास

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध हो जाता है कि भक्ति की यह भावना न तो ईसाइयत की देन थी और न राजनीतिक एवं धार्मिक अत्याचार का ही परिणाम था। इसका विकास स्वाभाविक रूप से हुआ था। यह दूसरी बात है कि राजनीतिक और धार्मिक अत्याचारों ने इस भक्ति-भावना को अधिक व्यापक रूप से फैलाने में अप्रत्यक्ष सहायता पहुँचाई थी। भक्ति के इस विकास में विभिन्न परिस्थितियों का प्रभाव प्रधान कारण रहा था। सामाजिक क्षेत्र में हिन्दू-मुसलमानों का पारस्परिक संघर्ष और घृणा-भाव वृद्धि पर था। रक्षा की भावना ने हिन्दुओं के सामाजिक बन्धन और अधिक संकुचित तथा दृढ़ कर दिये थे। इसलिए इस सामाजिक संकीर्णता के आवरण में धार्मिकता गौण हो गई थी। जन-कल्याण के आकांक्षी और प्रतिभाशाली कवियों को वह संकीर्णता अखरी। उन्होने शुद्ध आध्यात्मिकता के बल पर, जिसमें शास्त्रों का कोई बन्धन स्वीकार नहीं था, इस सामाजिक संकीर्णता को दूर करना चाहा। सन्तों और सूफियों ने भी यही करने का प्रयत्न किया। उन्होंने हिन्दू-मुसलिम संस्कृति एवं धार्मिक भावना में समन्वय करते का प्रयत्न किया। कबीर और जायसी का काव्य इसका प्रमाण है। उनके इस नवीन और सराहनीय प्रयास के कारण हिन्दू-मुस्लिम विचारधाराओं के आंशिक समन्वय से निर्गुण उपासना की एक ऐसी प्रणाली उत्पन्न हुई जिस पर अनेक प्राचीन एवं नवीन धार्मिक मत-मतांतरों, वादों और विचारधाराओं का प्रभाव था। यद्यपि निर्गुणोपासना मुस्लिम आक्रान्ताओं के आगमन से पूर्व भी सिद्धों और नाथों की उपासना-पद्धतियों के रूप में भारत में लोकप्रिय थी, परन्तु कबीर ने ही इसे धार्मिक भेद-भावना से मुक्त एक व्यापक और सार्वजनप्रिय रूप प्रदान किया था। अस्तु,

सगुणमार्गीय भक्ति धारा, दक्षिण का योगदान

धार्मिक क्षेत्र में दक्षिण की भक्ति-भावना का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा। दक्षिण के दार्शनिक विद्वान् वहाँ के शान्तिपूर्ण वातावरण में रहकर आध्यात्मिक तत्त्वों के चिन्तन में रत रहे। शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, रामानन्द, बल्लभाचार्य आदि दार्शनिकों ने परमात्मा के स्वरूप की भिन्न-भिन्न व्याख्या की। रामानुजाचार्य इन्हीं भावनाओं को लेकर उत्तर-भारत

में प्रचारार्थ आये। उनके पश्चात् चैतन्य महाप्रभु ने बंगाल में तथा वल्लभाचार्य ने ब्रज में कृष्ण-भक्ति का तथा रामानन्द ने निर्गुण और सगुणमार्गी राम-भक्ति का प्रचार किया। सूर और तुलसी ने इन्हीं आचार्यों के सिद्धान्तों का आश्रय ग्रहण कर कृष्ण-भक्ति और राम-भक्ति की अक्षय धारा प्रवाहित की, जो आज तक चली आ रही है। दक्षिण भारत की इसी धारा को उत्तर भारत में सगुण भक्ति को प्रतिष्ठित करने का गौरव प्राप्त हुआ था।

कबीर का निर्गुण पन्थ : विभिन्न प्रभाव

कबीर से पूर्व की उत्तर भारत की धार्मिक स्थिति के प्रभाव के परिणाम-स्वरूप निर्गुण भक्ति की उत्पत्ति हुई। आरम्भिककाल में सिद्धों और नाथ-पंथियों का समाज पर बहुत प्रभाव था। दोनों ही सम्प्रदायों के मुखिया और अनुयायी अधिकांशतः निम्न जाति के अशास्त्रज्ञ व्यक्ति थे। नाथ सम्प्रदाय के कनफटे योगी घट के भीतर चक्रों, सहस्र कमल कुण्डलिनी, इड़ा, पिंगला आदि की ओर संकेत करने वाली रहस्यपूर्ण बातों से लोगों पर अपना प्रभाव जमाते थे। वे जाति-पाँति के विरोधी थे तथा वेदाध्ययन आदि को व्यर्थ समझते थे। इस पन्थ में कुछ मुसलमान भी थे; परन्तु इस पन्थ की सबसे बड़ी निर्बलता यह थी कि भक्ति-भावना के लिए यह हृदय-पक्ष से शून्य था। इस रसहीनता के कारण सन्त और सूफी इसे पूर्ण रूप से ग्रहण करने में असमर्थ रहे। इस अभाव की पूर्ति महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त भक्त नामदेव ने भक्ति का प्रचार करके की। इस प्रकार नाथों के हठयोग, वैष्णवों की सरसता, शंकर के मायावाद, सूफियों के प्रेमवाद आदि के मिश्रित प्रभाव से कबीर ने अपना 'निर्गुण पन्थ' चलाया। ये कभी हिन्दुओं के ब्रह्मवाद की ओर झुकते थे और कभी सूफियों के प्रेमवाद की ओर। कबीर ने विभिन्न प्रभावों से प्रभावित और मिश्रित अपनी इस भक्ति-पद्धति का प्रचार कर सिद्धों तथा नाथ-पंथियों से प्रभावित तथा प्रेमभाव और भक्ति-रस से शून्य उपासना-पद्धतियों से प्रभावित और आंतकित जनता का उद्धार किया। सूफी सन्तों पर भी उपर्युक्त प्रभाव पड़े। जायसी ने पद्मावत में उनका सुन्दर निरूपण किया। कबीर आदि ने सुधार के लिए साकार ब्रह्म का विरोध किया और सूफियों की निराकार के प्रति प्रेम-भावना तथा भारतीय अद्वैतवाद को लेकर एक नये प्रकार की सी प्रतीत होने वाली भक्ति का प्रचार किया, जिसे 'सहज मार्ग' कहा गया।

भक्ति के विभिन्न रूप

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्तिकाल की सम्पूर्ण धाराओं के उद्गम के मूल में एक अविच्छिन्न सांस्कृतिक एवं धार्मिक भावना कार्य कर रही थी। अनुकूल अवसर पाकर वह प्रस्फुटित एवं पल्लवित होकर फलवती बनी। इसके मूल में न तो कोई विदेशी प्रभाव कार्य कर रहा था और न राजनीतिक परिस्थिति ही। यद्यपि प्रभाव इन दोनों का भी था; परन्तु था गौण रूप में ही। दक्षिण की भक्तिधारा ने, जिसका आधार शास्त्रीय दार्शनिक विवेचन था, उत्तरी भारत में सगुण भक्ति का बीजारोपण किया। यद्यपि नारदीय भक्ति के रूप में सगुण-भक्ति उत्तर में प्राचीनकाल से ही प्रचलित रही थी; परन्तु बीच में अन्य सम्प्रदायों के प्रभाव के कारण मन्द-सी पड़ गई थी। इसके दो प्रमुख भेद हुए—कृष्ण-भक्ति धारा और राम-भक्ति धारा। बौद्ध-मत के ध्वंसावशेषों—सिद्धों एवं नाथों—के प्रभाव से एवं उस प्रभाव की प्रतिक्रियास्वरूप निर्गुण धारा का आरम्भ हुआ, जिसमें सूफियों की सरसता, मायावाद की नीरसता आदि अनेक बातों का अद्भुत मिश्रण हुआ। निर्गुण धारा को हम एक प्रकार से विभिन्न विचारधाराओं की अद्भुत खिचड़ी कह सकते हैं। इसके भी दो भेद हुए—ज्ञानमार्गी शाखा और प्रेममार्गी शाखा। इस प्रकार उपर्युक्त चारों प्रमुख धाराएँ इस काल की परिस्थितियों एवं सांस्कृतिक और धार्मिक परम्परा के पूर्णरूपेण अनुकूल थीं। वे विशुद्ध रूपेण भारतीय थीं। केवल निर्गुण भक्ति पर सूफियों का हल्का-सा प्रभाव था।

प्रश्न २—भक्ति-काल पर एक आलोचनात्मक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

उत्तर—भक्ति के चार प्रधान रूप

भक्तिकाल में भगवान के रूप और गुण की विशिष्टता के आधार पर भक्ति का रूप स्थिर किया गया। भगवान् के इसी रूप-गुण के आधार पर भक्ति-काव्य के निर्गुण और सगुण—दो भेद हुए। आचार्य शुक्ल ने निर्गुण धारा के दो भेद माने हैं—ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी। शुक्लजी के इस वर्गीकरण को ही प्रायः स्वीकार किया गया है। सगुण धारा के भी राम-भक्ति धारा और कृष्ण-भक्ति धारा के रूप में दो भेद हुए। जहाँ तक सगुण धारा का प्रश्न है, वहाँ कोई मतभेद नहीं है, परन्तु निर्गुण धाराओं का वर्गीकरण उन धाराओं के लक्षणों को देखते हुए, संगत नहीं प्रतीत होता। कबीर आदि की भक्ति-धारा को ज्ञानमार्गी या ज्ञानाश्रयी धारा कहा गया है; परन्तु इसमें

ज्ञान की गुरुता और गम्भीरता का अभाव मिलता है। ज्ञानमार्ग से यदिनिराकार ब्रह्म की भक्ति का अर्थ लिया जाय तो उसके लिए भी सूर और नन्ददास के उद्धव के-से ज्ञान-गर्भित तर्कों की आवश्यकता होती है। वस्तुतः सन्त कवियों की रचनाओं में ज्ञान नहीं केवल ज्ञान का आभास-मात्र मिलता है। उनका ज्ञान शास्त्रीय न होकर व्यावहारिक मात्र है। उनके सभी तर्क सुनी-सुनाई बातों पर आधारित हैं। अशिक्षित होने के कारण ज्ञान की जटिलता से उनका परिचय नहीं था। सुनी-सुनाई बातों की पुनरावृत्ति किसी बात का हल्का-सा आभास करा देती है, उसे पूर्ण रूप से प्रस्तुत नहीं कर सकती। शुक्लजी ने इस धारा को ज्ञानाश्रयी की संज्ञा इस कारण दी, क्योंकि इसमें रहस्य और गुह्य भावना का संयोग था। रहस्य और गुह्य को साधारण जनता ज्ञान का रूप मान लेती है; परन्तु सन्त काव्य में ज्ञान का केवल आभास मात्र मिलता है। इसी कारण डाक्टर श्री कृष्णलाल उसे ज्ञानाश्रयी के स्थान पर 'ज्ञानाभासाश्रयी शाखा कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं। यदि ज्ञानमार्ग का पारिभाषिक अर्थ 'निर्गुण-उपासना' लिया जाय, तो शुक्लजी का नामकरण ठीक है, और यदि उसे वास्तविक 'ज्ञान' का पर्याय माना जाय तो वह गलत है। वस्तुतः निर्गुण ब्रह्म ज्ञान द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु सन्तों ने उसे ज्ञान और भक्ति के मिश्रित रूप द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न किया था। उसमें ज्ञान अर्थात् ब्रह्म के निर्गुण रूप की उपासना का ही विधान था।

सूफी-भक्ति : एक भिन्न रूप

प्रेममार्गी सूफी कवियों की कृतियों की गणना भक्ति-काव्य में करना आंशिक रूप से ही उचित प्रतीत होता है। सूफियों ने ब्रह्म का निर्गुण रूप स्वीकार किया है; परन्तु सूफियों का यह निर्गुण ब्रह्म भक्ति-भावना का आलम्बन न होकर प्रेम की पीर का ही आलम्बन है। सूर, तुलसी और कबीर की भक्ति-भावना तथा सूफियों की इश्क-मजाजी और प्रेम की पीर में काफी भिन्नता है। प्रेम में जब तक श्रद्धा का योग नहीं होता, तब तक वह भक्ति का रूप नहीं धारण कर सकता। शुक्लजी के अनुसार, "जहाँ आश्रय में पूज्य बुद्धि का अभाव है, जहाँ दैन्य भाव की प्रतिष्ठा नहीं हो सकी है, वहाँ भक्ति भावना का उदय नहीं हो सकता।" सूफी कवियों में आश्रय के प्रति प्रेम की उत्कट भावना तो है; परन्तु श्रद्धा का अभाव है। उनका प्रेम सांसारिक वासना जनित प्रेम-सा प्रतीत होता है। वह फारसी की लैला-मजनूँ परम्परा की प्रेम-

भावना जैसा है। परन्तु सूफियों की यह प्रेम-भावना इतनी गहन और व्यापक रही है कि सामान्य लौकिक प्रेम की तुलना में अलौकिक-सा रूप धारण कर लेती है। इसी कारण शुक्लजी ने इनकी गणना भक्ति-काव्य के अन्तर्गत की है। भक्तिकाल के अन्य भक्तों ने अपने रूपकों की स्वयं व्याख्या करने का कहीं भी प्रयत्न नहीं किया है। जायसी ने, 'पदमावत' के अन्त में उसे एक रूपक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। परन्तु इधर हुई नवीन शोधों के आधार पर कुछ विद्वानों ने जायसी के 'पदमावत' के उपसंहार में आए तथाकथित रूपक सम्बन्धी उस पद को प्रक्षिप्त सिद्ध कर दिया है। इसलिए कुछ विद्वान् 'पदमावत' को रूपक नहीं मानते। एक आलोचक के अनुसार—"इसलिए सूफियों के प्रेमाख्यानक-काव्य भक्ति-काव्य न होकर केवल प्रेम-काव्य मात्र रह जाते हैं। प्रेमाख्यान काव्य अध्यात्मपरक हैं उनमें अभिव्यंजित प्रेम की पीर में भक्तों के विरह-निवेदन से अधिक अन्तर नहीं है; परन्तु सिद्धान्त, रूपक और अभिव्यक्ति—तीनों दृष्टियों से इस शाखा को भक्ति-काव्य के अन्तर्गत स्वीकार करना भक्ति-काव्य का अपमान है। भक्तों का-सा विरह-निवेदन और सन्तों के समकालीन होने के कारण ही सम्भवतः शुक्लजी ने इनको भक्ति काव्य में स्थान दिया है।" परन्तु ऐसा कहना भक्ति का अपमान करना है, क्योंकि भक्ति का मूलाधार राग अथवा प्रेम ही माना गया है, यद्यपि भारतीय दृष्टि से उसमें श्रद्धा का योग भी अपेक्षित है। और हिन्दी के सूफी-काव्य में इसी प्रेम का उदात्ततम रूप मिलता है। इसलिए उनकी प्रेमोपासना को भक्ति का ही एक रूप माना जा सकता है।

निर्गुण सगुण का समन्वय

भक्ति-काव्य में भगवान् के निर्गुण और सगुण—दोनों ही रूपों का निरूपण हुआ है। कबीर के भगवान् निर्गुण हैं। तुलसीदास ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों को स्वीकार कर सगुण रूप के प्रति ही विशेष पक्षपात दिखाते हैं। सूरदास जी ब्रह्म को मूलतः निर्गुण मानते हुए भी उसे सब प्रकार से अगम समझ उसकी सगुण लीला के ही पद गाते हैं।

आराध्य में विभिन्न गुणों का आरोप

इन भक्तों ने अपनी-अपनी भावनानुसार अपने-अपने इष्टदेव में विभिन्न गुणों का आरोप कर लिया है। तुलसी के भगवान् राम शीलनिधान हैं, सूर के कृष्ण

लीला-नटनागर हैं, नरोत्तमदास के कृष्ण करुणानिधान हैं, मीरा के गिरिधर नागर माधुरी सूरत वाले हैं, हितहरिवंश के रसिक-शिरोमणि राधावल्लभ रास-प्रिय हैं। इस प्रकार सब ने भगवान् के रूप का ही निरूपण प्रमुख रूप से किया है, परन्तु कुछ कवियों ने भगवान् को छोड़कर केवल भक्तों का ही गुणगान किया है। नाभादास का 'भक्तमाल' इसका प्रमाण है। सूर, तुलसी आदि के काव्य में भी भक्तों का गुणगान हुआ मिलता है इसका कारण यह है कि भक्तों के अभाव में भगवान् की कोई सार्थकता नहीं रह जाती; क्योंकि भक्तिकालीन नवीन मान्यता के अनुसार भक्तों के भगवान् भक्तों को सुख और भक्ति प्रदान करने के लिए ही नर-रूप में अवतार धारण करते हैं। इसलिए भगवान् के साथ भक्त भी महत्त्वपूर्ण है।

भक्ति-काव्य का मूल उद्देश्य

भगवान् और भक्त के अतिरिक्त भक्ति-भावना का निरूपण भी भक्ति-काव्य की एक विशिष्टता है। भक्तों ने अपने भगवान् से नाना प्रकार के सम्बन्ध स्थापित किए हैं। भक्तों ने भगवान् को माता-पिता, पति, स्वामी, सखा आदि अनेक रूपों में स्वीकार किया है। भक्ति-भाव को पतिरूपी प्रेम-परक अभिव्यंजना में मीरा के पद अद्वितीय हैं उनके आडम्बरहीन पदों में जितनी हार्दिकता है, उतनी अन्यत्र दुर्लभ है। दास्य-भाव में तुलसी और सख्य-भाव में सूर अनुपम हैं। सन्त कवियों ने गुरु को गोविन्द के समान महत्त्व देकर सतगुरु की महिमा का भी वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त मायाजाल में फँसे हुए अज्ञानी जीव को सम्बोधित कर सभी भक्तों ने अनेक चेतावनी के पद भी कहे हैं। चेतावनी के अतिरिक्त भक्ति-काव्य में नीति और उपदेश-विषयक पदों का भी अभाव नहीं है। समिष्ट रूप से; भक्ति-काव्य का मूल उद्देश्य मानव की आत्मा और मन का परिष्कार कर उसे सच्चे अर्थ में पूर्ण मानव बनाना रहा है।

भक्ति के तीन भिन्न रूप

भक्ति का प्रारम्भ कब और कैसे हुआ—इसका विश्लेषण गत पृष्ठों में किया जा चुका है। दक्षिण की इस भक्ति-धारा ने उत्तर में आकर तीन भिन्न स्वरूप धारण किये। प्रथम धारा सिद्धों और नाथों के तन्त्र और हठयोग को पार करती हुई कबीर आदि की वाणी में एक दूसरे ही रूप में प्रकट हुई। वही मिथिला और बंगाल के शाक्त, बाउल आदि सम्प्रदायों तथा तान्त्रिकों के सम्पर्क में आकर जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास के पदों में सरस और मधुर

हो उठी। यह उसका दूसरा रूप था। अपने तीसरे रूप में उसने भगवान् राम और गोपालकृष्ण की विभिन्न लीलाओं से अपने भक्तों को मुग्ध किया। इन तीनों धाराओं के स्वरूप भिन्न और विचित्र हैं। तुलसी ने भक्ति और लीला का अतिशय मर्यादित रूप उपस्थित किया। सूर की कृष्ण-लीला में मर्यादा की उपेक्षा होते हुए भी भगवान की नरलीला का बड़ा ही मधुर स्वरूप व्यक्त हुआ। इसके विपरीत कबीर और विद्यापति की रचनाओं में न भगवान् की लीला का भाव है और न विनय का; अर्थात् भिन्न विचारधाराओं के भक्तों ने भगवान् को परस्पर भिन्न—नाना प्रकार के रूपों में स्वीकार करते हुए उनकी उपासना की है। कुछ लोग विद्यापति को कृष्ण-भक्त न मानकर शिव-भक्त मानते हैं।

ज्ञान और भक्ति का संघर्ष

सूर और तुलसी की सगुण लीला-सम्बन्धी रचनाओं में ज्ञान और भक्ति का तीव्र संघर्ष है। 'मानस' में ज्ञान के ऊपर भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिष्ठित की की गई। ज्ञान का पन्थ कृपाण की धार के समान कठिन है। इसलिए भक्ति का सहज-सरस पन्थ ही ग्राह्य है। सूर के भ्रमर-गीत में भी ज्ञान पर भक्ति की इसी विजय का प्रदर्शन किया गया है। मीरा और जीव गोस्वामी की प्रसिद्ध जनश्रुति में भी यही भावना कार्य कर रही है।

भक्तों के दो विशिष्ट वर्ग

भक्ति के इतिहास में आरम्भ से ही भक्तों के दो विशिष्ट वर्ग मिलते हैं—गायकों तथा आचार्यों के। दक्षिण के आलवार भक्त गायक थे। दूसरी ओर नाथ मुनि, यामुनाचार्य, मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी तथा निम्बार्क आदि भक्त-आचार्य थे, जिनके दार्शनिक चिन्तन में केवल तर्क और विवाद का प्राधान्य था। उनमें "गायकों का सा सहजोद्रेक; भाव-प्रवणता और तीव्र आवेग का अभाव था।" उत्तर भारत के कवियों और आचार्यों में दो भेद थे। दक्षिण से उत्तर में भक्ति के प्रचारार्थ आए रामानन्द और वल्लभाचार्य आचार्य थे जिन्होंने वाद, तर्क उपदेश, शिक्षा और दीक्षा से लोगों को भक्ति का उपदेश दिया। परन्तु बंगाल के चैतन्य महाप्रभु कवि-गायक श्रेणी के आचार्य थे, जिन्होंने अपनी भक्ति-भावना के कीर्तन द्वारा जनता को आकृष्ट किया। इसी प्रकार भक्त-कवियों में भी स्पष्टतः दो वर्ग थे—एक कवि-गायकों का, दूसरा कवि-आचार्यों का। जयदेव, चण्डीदास, विद्यापति, सूर और मीरा, विशुद्ध कवि-गायक थे तथा

तुलसी, कबीर, नानक, नन्ददास भक्ति का मार्ग प्रशस्त करने वाले कवि-आचार्य थे। इन कवि-आचार्यों में तुलसी सर्वश्रेष्ठ हैं। कवि-गायक सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के चक्करों में नहीं पड़े। उन्होंने भाव-विभोर होकर भगवान् की लीलाओं के गीत गाये। सूर और मीरा कृष्ण की मधुर लीलाओं के विमुग्ध गायक थे। उनकी दृष्टि में सम्प्रदाय महत्त्वपूर्ण नहीं था। भक्ति-धर्म के प्रचार की दृष्टि से कबीर और तुलसी जैसे आचार्यों का अधिक महत्त्व है। उन्होंने लाखों-करोड़ों व्यक्तियों का मार्गदर्शन कर उनका हित किया; परन्तु शुद्ध भक्ति-भावना से आपूरित साहित्य की दृष्टि से सूर, मीरा, रसखान आदि का महत्त्व विशेष है। सूर को प्राचीन परम्परा का हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ भक्त-कवि माना गया है। आधुनिक काल बुद्धिवादी काल है। आज आचार्यों के तर्क, वाद, खण्डन-मण्डन को अधिक महत्त्व दिया जाता है। साहित्य में उपयोगिता देखी जाती है, इसलिए आज जितना महत्त्व कबीर और तुलसी को दिया गया है, उतना सूर और मीरा को नहीं। दूसरे शब्दों में, आज हमारे लिए शुद्ध और सरस कविता का अधिक मूल्य नहीं रह गया है। इसलिए भक्ति-काल का अध्ययन शुद्ध आनन्ददायी काव्य और साहित्य की दृष्टि से करना भी आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है और ऐसा करके ही हम भक्ति-काव्य का सही मूल्यांकन करने से समर्थ होंगे।

भक्ति काव्य : भारतीय संस्कृति का चितेरा

हिन्दी के मध्यकालीन भक्ति-काव्य में भारतीय संस्कृति और आचार-विचार की पूर्णतः रक्षा हुई थी। इसमें ऐसी धार्मिक भावनाओं की उद्भावना हुई जिनका इस्लाम या अन्य किसी भी धर्म से कोई विरोध नहीं था। इसकी धार्मिक भावनाओं में भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्वों का समावेश था। भक्ति-काव्य जहाँ मानव की उच्चतम भावनाओं की व्याख्या करता है, वहीं उसमें उच्चकोटि के काव्य के भी दर्शन होते हैं। एक आलोचक के शब्दों में—"उसकी आत्मा भक्ति है, उसका जीवन-स्रोत रस है, उसका शरीर मानवी है।" वस्तुतः परम्परागत भारतीय संस्कृति के उज्ज्वलतम रूप हमारे भक्ति-साहित्य में ही सुरक्षित रहे हैं।

सर्वाङ्गपूर्ण श्रेष्ठ काव्य

रस की दृष्टि से भी यह साहित्य श्रेष्ठ है। रस-राज शृंगार का इतना पूर्ण और उदात्त चित्रण कभी नहीं हुआ। यह काव्य लोक-परलोक को

एक साथ स्पर्श करता है। भक्ति-काल के सभी सम्प्रदाय यद्यपि आध्यात्मिक भावनाओं को लेकर अग्रसर हुए थे, परन्तु सबका सम्बन्ध जीवन से अत्यधिक घनिष्ठ रहा था। यह काव्य एक साथ ही हृदय, मन और आत्मा की भूख को तृप्त करता रहा है। काव्य-सौन्दर्य और धार्मिक भावनाएँ हृदय और मन को सन्तोष देती रही हैं। दार्शनिकता और आध्यात्मिकता आत्मा का उन्नयन करती रही हैं। इसी कारण विद्वान इस काल को हिन्दी का 'स्वर्ण काल' कहते हैं—काव्य समृद्धि और प्रभाव, दोनों ही दृष्टियों से।

प्रश्न ३—भक्ति काल में रचित भक्तिकाव्य में पाई जाने वाली समान भावनाओं का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उत्तर—समान विशेषताएँ

भक्तिकाल की चारों शाखाओं—ज्ञानमार्गी, प्रेममार्गी तथा कृष्ण-भक्ति और राम-भक्ति में कुछ ऐसी समान भावनाएँ मिलती हैं जिनके कारण हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखकों ने उन्हें एक ही वर्ग और युग में प्रतिष्ठित किया है। ये विशेषताएँ सन्तों, सूफियों और भक्त-कवियों में समान रूप से पाई जाती हैं। इन विशेषताओं को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) **नाम की महत्ता**—जप, कीर्तन, भजन आदि के रूप में भगवान् का गुण-कीर्तन सन्तों, सूफियों और सगुण भक्तों में समान रूप से पाया जाता है। कृष्ण-भक्तों और सूफियों में कीर्तन का अधिक महत्त्व रहा है। तुलसी भी राम के नाम को राम से बड़ा मानते हैं क्योंकि नाम में भगवान् के निर्गुण और सगुण दोनों रूपों का समन्वय हो जाता है। कबीर का कथन है—"निर्गुण की सेवा करो, सगुण का करो ध्यान।" जायसी भी उसी का स्मरण करते हैं—"सुमिरौं आदि एक करतारू, जेहि जिउ दीन्ह कीन्ह संसारू।" तुलसी निर्गुण ओर सगुण—दोनों में नाम को ही श्रेष्ठ मानते हैं—

"मोरें मत बड़ नाम दुहूते। किये जेहि जग निज बस निज बूते।"

(२) **गुरु महिमा**—कबीर गुरु को भगवान् से अधिक महत्त्व देते हैं—'गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागों पाँव।" उन्होंने दोनों में से गुरु को ही अधिक सम्मान दिया है, क्योंकि—"बलिहारी गुरु आपकी, जिन गोविन्द दियो बताय।" कबीर ने स्थान-स्थान पर बार-बार गुरु की महिमा का बखान किया। जायसी ने भी गुरु को बहुत महत्त्व दिया है—'गुरु सुआ जेहि पन्थ दिखावा। बिन गुरु जगत को निरगुन पावा।" इसी प्रकार तुलसी ने भी गुरु

की वन्दना को है—"बन्दौं गुरु पद कंज, कृपासिंधु नर रूप हरि।" 'मानस' के आरम्भ में तुलसी ने गुरु की महिमा का खूब बखान किया है। सूर ने अपने गुरु का अत्यन्त श्रद्धा और भक्तिपूर्णक स्मरण किया है—"बल्लभ नखचन्द्र छटा बिनु सब जग माँहि अँधेरो।" इस प्रकार दोनों धाराओं में गुरु की समान महिमा मानी और गाई गई है और इसका कारण यह था कि गुरु ही भक्त को भगवान् का परिचय दे, उसे भगवान् के प्रति अनुरक्त बनाता है।

(३) **भक्ति-भावना का प्राधान्य**—चारों शाखाओं में भक्ति-भावना का प्राधान्य रहा है। ज्ञानमार्गी निर्गुणोपासक कबीर ने भी भक्ति को प्रधानता दी है। उनका मत है कि बिना भक्ति के ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती और ज्ञान द्वारा ईश्वर की प्राप्ति होती है—"हरि भक्ति जाने बिना बूढ़ि मुआ संसार।" प्रेममार्गी कवियों ने प्रेम को ईश्वर की भक्ति माना है, यद्यपि उसका रूप शुद्ध भक्ति का नहीं है। सूफी मत चारों अवस्थाओं—शरीकत, तरीकत, हकीकत और मारिफत—को भगवद्-भक्ति के ही विभिन्न सोपान मानता है।

(४) **अहंकार का त्याग**—अहंकार का त्याग, भक्ति का प्रथम लक्षण है। हृदय में अहंकार रखते हुए भक्ति करना असम्भव है। कबीर ने कहा है—"जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं। प्रेमगली अति साँकरी ता मैं दो न समाहिं।" भक्त चाहे किसी भी सिद्धान्त का मानने वाला क्यों न हो, अहंकार का त्याग उसके लिए पहली शर्त है। सूर और तुलसी अत्यन्त दीन होकर भगवान् से अपने उद्धार की प्रार्थना करते हैं—"प्रभु हौं सब पतितन कौ टीकौ" तथा "प्रभु अब की राखि लेउ लाज हमारी।" क्योंकि भक्ति-सिद्धान्त के अनुसार मन में अहंकार की भावना रहने तक भगवान् और उनकी भक्ति को प्राप्त करना असम्भव माना गया है। सूफी प्रेममार्ग में भी 'खुदी' (अहंकार) का विनाश आवश्यक कहा गया है।

(५) **आडम्बर का खण्डन**—सारे भक्त-कवि सादा, सरल और त्यागमय जीवन में विश्वास करते थे। सांसारिक आडम्बर उनके लिए सर्वथा त्याज्य थे। सभी भक्त थे, अतः संसार के माया-मोह से भी मुक्त थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समस्त भक्ति-साहित्य में ऐसी समान विशेषताएँ रही हैं, जो विभिन्न सम्प्रदायों के भक्तों को भक्ति की विशाल धारा का अंग बना देती हैं। इसी कारण सवा दो सौ वर्षों की कालावधि में रचित भक्ति-

भावना परक सम्पूर्ण साहित्य को एक ही विशिष्ट काव्य-धारा का अंग मान, उसे 'भक्ति-साहित्य' कहा गया है।

प्रश्न ४—हिन्दी के सन्त कवियों पर एक आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए और उसमें इस बात की छानबीन कीजिए कि उन्होंने अपने काव्य द्वारा देश का क्या उपकार किया।

उत्तर—धार्मिक अराजकता की स्थिति

ईसा की सातवीं-आठवीं शताब्दी तक बौद्ध धर्म विकृत होकर 'बज्रयान' के तन्त्रवादी स्वरूप को ग्रहण कर चुका था, तारा, कृत्या आदि की पूजा से ये तान्त्रिक योगी अवतारवाद में विश्वास करने लगे थे। ब्राह्मणों के पाखण्ड और बाह्याडम्बर का प्रभाव भी उन पर पड़ने लगा था। समाज में अन्ध-विश्वास का साम्राज्य था इसी काल में ऐसे महात्मा हुए, जिन्होंने अपनी व्यक्तिगत साधना के बल पर धार्मिक और सामाजिक क्रान्ति का बिगुल बजाया। उनके विचारों की अभिव्यंजना तत्कालीन कला और काव्य द्वारा प्रकाश में आई। इनमें हिन्दी के आदि-कवि सरहपा, लूणिया, कणेह्वो करेढ़िया आदि मुख्य थे, जिन्होंने परम्परागत काव्य भाषा—संस्कृत और प्राकृत को त्याग कर जन-भाषा अपभ्रंश-मिश्रित हिन्दी में अपनी वाणी मुखरित की।

सन्त-साहित्य की पूर्व-पीठिका

ये सन्त 'वज्रयानी' सम्प्रदाय से प्रभावित थे। उन्होंने ही सर्वप्रथम संस्कृत की अवहेलना कर परवर्ती बोलचाल की अपभ्रंश-मिश्रित हिन्दी में काव्य रचना की, जो आगे अपना रूढ़ रूप त्याग, विकसित होकर हिन्दी का रूप धारण करने लगी। ये सन्त शिक्षित नहीं थे। इसीलिए इनकी रहस्यात्मक उक्तियाँ अत्यन्त अटपटी वाणी में प्रकट हुई। उन उक्तियों का सांकेतिक अर्थ अध्यात्म से सम्बन्ध रखता है। इनके ग्रन्थों का साहित्यिक मूल्य यद्यपि गौण है; परन्तु ऐतिहासिक मूल्य बहुत अधिक है। क्योंकि ये उत्तर भारतीय भक्ति-धारा की आरम्भिक मजबूत कड़ियाँ हैं। इनके बिना भारतीय भक्ति के विकासमान रूप को नहीं समझा जा सकता। साथ ही इनकी रचनाओं में हिन्दी का आरम्भिक रूप अपना स्वरूप प्रकट करने लगा था। इन्हीं की परम्परा में आगे चलकर सन्त-साहित्य की रचना हुई। इसी परम्परा का थोड़ा-सा विकसित रूप गोरख-नाथ के नाथ-सम्प्रदाय में एवं व्यापक और पुष्ट रूप निर्गुण मार्गी ज्ञानाश्रयी शाखा में; जो सन्त-काव्य की पराकाष्ठा है, पाया जाता है।

सिद्ध-नाथ : चमत्कार के सर्जक

कालान्तर में इन प्राचीन सिद्धों की अटपटी वाणी का उलटा अर्थ लगाया जाने लगा जिसके परिणामस्वरूप कौल, कापालिक आदि वाममार्गी साधकों की कई नई श्रेणियाँ उठ खड़ी हुईं। इनमें वासना और भोग-विलास का आग्रह बढ़ा। सिद्धों की सिद्धताई समाप्त हो गई। इसी समय गोरखनाथ ने नाथ-पन्थ की स्थापना कर इसका विरोध किया और मूर्ति-पूजा, तन्त्रवाद आदि का खण्डन कर योग के आधार पर ब्रह्मवाद अथवा एकेश्वरवाद की स्थापना की। 'जाग मछन्दर गोरख आया, वाली मछन्दर और गोरख-नाथ की प्रसिद्ध किम्वदन्ती इसी परिवर्तन के प्रति संकेत करती है। हठयोग इनका बल पाकर पल्लवित हुआ। इनकी रचनाओं में रहस्यवाद की प्रधानता थी; लेकिन यह रहस्यवाद अटपटा न होकर, भाव और भाषा की दृष्टि से उत्कृष्ट था। यह होते हुए भी इस रहस्यवाद का रूप इतना गूढ़ था कि सामान्य जनता उसे अलौकिक चमत्कार के रूप में ही ग्रहण कर उससे प्रभावित और आतंकित-सी रहती थी। गोरखनाथ के अनुयायियों में जालंधर, कणेरीनाथ, चरपटनाथ आदि प्रमुख महात्मा हुए। इन्हीं की पृष्ठभूमि पर कबीर ने अपना साहित्य प्रतिष्ठित किया।

सामाजिक विद्रोह का रूप

कबीर नाथ-पन्थ के हठयोग से प्रभावित अवश्य थे; परन्तु उनका रहस्यवाद नाथ-पन्थियों के रहस्यवाद से भिन्न था। सिद्ध-संतों का योग-मार्ग आचरण या जीवन की साधना का मार्ग है जो अलौकिक सत्ता की ओर ले जाता है। योग की चरमावस्था के उपरान्त ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञान प्राप्त होने पर योग छूट जाता है। अतः जहाँ योग समाप्त होता है; वहाँ से ज्ञान प्रारम्भ होता है। दोनों में प्रधान अन्तर यही है। दूसरे, कबीर की साधना में प्रेम और राग का प्राधान्य है, जबकि योगियों में इसका अभाव है। साथ ही, नाथ-पन्थी साधकों में अपनी बात निर्भीक और स्पष्ट रूप से कहने की अद्भुत अक्खड़ता है जो प्रभावित करती है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—"सहजयानी सिद्धों और नाथ-पन्थियों की अक्खड़पन कबीर में पूरी मात्रा में है, और उसके साथ उनका स्वाभाविक फक्खड़पन आ गया है। इस परम्परागत अक्खड़पन और व्यक्तिगत फक्खड़पन ने मिलकर कबीरदास को अत्यधिक प्रभावशाली और आकर्षक बना दिया है।" इन पुराने सन्त-सिद्धों की सबसे बड़ी सामाजिक देन

यह थी कि इन्होंने हिन्दू-समाज के द्विजों द्वारा प्रताड़ित और उपेक्षित निम्न-वर्ग में अपने महत्त्व की एक नई चेतना जाग्रत कर दी थी, जिसने परवर्ती सन्त-साहित्य में प्रखर सामाजिक विद्रोह का, अपनी अस्तित्व-रक्षा के लिए किए जाने वाले विद्रोह का, रूप धारण कर लिया था। अस्तु

सन्त मत : विभिन्न प्रभावों का समष्टि रूप,

नाथ-पन्थ पूर्णतः आदर्शवादी होने के कारण अव्यावहारिक था। अपनी इसी अव्यावहारिकता के कारण धीरे-धीरे उसका भी ह्रास हो गया। कबीर का काल प्रौढ सन्त-मत का काल है। कबीर के अतिरिक्त इस काल में दादू, सुन्दरदास, रैदास, मलूकदास, पल्टू साहब, गुरु नानक, भीखा साहब, दयाबाई और सहजोबाई आदि प्रसिद्ध सन्त हुए हैं। ये सभी सुधारवादी थे। इन्होंने बाह्याडम्बरों का विरोध कर एकेश्वरवाद का प्रचार किया। इनके मत पर एक ओर भक्ति, योग, एकेश्वरवाद के रूप में सिद्धों और नाथों का प्रभाव है तो दूसरी ओर प्रेम की तीव्रता, भक्ति और माधुर्य उपासना के रूप में सूफियों तथा वैष्णवों की अहिंसा और प्रेम-भावना का प्रभाव है। हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की भावना से प्रेरित होकर इन्होंने मूर्ति-पूजा और बहुदेववाद का भी खण्डन किया। पण्डितों के संकीर्ण विधान वाले शास्त्र एवं धर्म के नियम इन्हें अमान्य थे। काव्य-रचना करते समय इनका उद्देश्य सुन्दर काव्य का प्रणयन करना न होकर केवल अपने मत का प्रचार करना था। ये भावुक थे, अतः अनजाने ही इनके काव्य में स्वाभाविक सरलता आ जाती थी।

विषमता का विरोध

सभी सन्त अक्खड़ थे। उन्होंने निर्भय होकर धार्मिक एवं सामाजिक विषमताओं पर निर्मम प्रहार किए। वे शुद्ध मानवता के प्रेमी थे, इसलिए प्रत्येक मानव उनकी दृष्टि में समान और प्रेम का अधिकारी था। इसलिए उन्हें समाज के रूढ़िवादी कर्णधारों से संघर्ष करना पड़ा, जिससे उनकी वाणी में कर्कशता आ गई। हिन्दू-मुसलमान—दोनों की धार्मिक बुराइयों की उन्होंने जी खोलकर कटु आलोचना की। साथ ही, सद्गुणों का उपदेश दिया। फल यह हुआ कि सम्पूर्ण सन्त-साहित्य धार्मिक सिद्धान्तों और उपदेशों के कारण नीरस और रूखा हो उठा। उसमें केवल एक श्रेष्ठ सन्देश का सौन्दर्य अवश्य मिलता है, परन्तु साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से वह हिन्दी वाङ्मय का निम्न-तम कोटि का साहित्य माना जाता है। उसमें सरसता कहीं-कहीं भूले-भटके

ही मिलती है। इस सरसता का अंश अन्य सन्त कवियों की अपेक्षा कबीर के साहित्य में अधिक पाया जाता है। उपदेश सदैव नीरस ही होता है। वह बुद्धि को तो प्रभावित कर लेता है, परन्तु उसमें हृदय को प्रभावित और आन्दोलित करने की शक्ति नहीं होती।

निम्नवर्गीय समाज के प्रतिनिधि

इन सन्त कवियों के विषय में एक बात अत्यन्त विचित्र है कि ये लगभग सभी अन्त्यज थे। दादू धुनियाँ, कबीर जुलाहा, सदन कसाई, रैदास चमार, नाभादास डोम और नामदेव दर्जी थे। केवल सुन्दरदास वैश्य थे। उनके लिए ब्राह्मणों ने शास्त्र, ज्ञान, मन्दिर आदि के द्वार बन्द कर रखे थे। इसी से उन्हें अपने अन्तर में ही ब्रह्म का साक्षात्कार करना पड़ा; परन्तु उनकी साधना सच्ची थी। इसी के बल पर उन्होंने ईश्वरत्त्व की अनुभूति प्राप्त की और उस अनुभूति की व्यंजना ही 'सन्त-काव्य' कहलाई। "उसमें वाणी का चमत्कार या प्रयत्न की बोझिलता नहीं, एक नैसर्गिक स्वच्छता और सरलता है। उसमें भावों की एक तीव्रता है जो स्वयं इतनी प्रभावोत्पादक है कि उसे किसी बाह्य सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं।"

सन्त काव्य की विषेशताएँ

सन्तों का ईश्वर निर्गुण और एक है। साम्प्रदायिकता की संकीर्णता उनमें नहीं है। गुरु की महत्ता है। रहस्यात्मक ढंग से योग के प्रति संकेत है। उनके अनुसार आत्मा का परमात्मा से मिलन बड़ी कठोर साधना और प्रतीक्षा के बाद होता है। उनका ईश्वर के प्रति प्रेम अडिग, खरा और निर्मल है; परन्तु "सन्तों के प्रेम में वह गलदश्रु भावुकता नहीं, जो जरा-सी आँच से पिघल जाय। भक्ति के अतिरेक से वे झुके नहीं। सिर से पैर तक मस्तमौला थे। बेपरवाह, दृढ़ और उग्र।" (आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी)। सन्तों में वैष्णव-भक्ति का प्राधान्य है। इसी कारण उनका निराकार कुछ-कुछ साकार-सा भासित होने लगता है इसलिए उनकी ईश्वरीय भावना अस्पष्ट तथा कुछ-कुछ असंगत-सी लगती है। फिर भी कबीर-काव्य में भक्ति की गहन अनुभूति और तज्जनित तन्मयता के दर्शन होते हैं।

मुक्तकों का प्राधान्य

सन्त-काव्य में मुक्तकों की प्रधानता है। प्रबन्ध-काव्य नहीं के बराबर हैं। काव्य की रचना करना उनका उद्देश्य भी नहीं था। वह सुधार एवं साधना

का माध्यम मात्र था, जिसके लिए प्रबन्ध-पटुता की आवश्यकता भी नहीं थी। इसके लिए मुक्तक ही सबसे सरल और बोधगम्य साधन था। उनका काव्य, शास्त्रीय पिंगल ज्ञान से शून्य था। कबीर से दोहा-जैसे साधारण छन्द का भी शुद्ध निर्वाह नहीं हो सका। समस्त सन्त-काव्य में पद या गीत 'शब्द' या 'सबद' के नाम से मिलते है 'झूलना' छन्द का भी यत्र-तत्र प्रयोग हुआ है।

सधुक्कड़ी भाषा—भाषा इनकी सधुक्कड़ी अथवा खिचड़ी थी; जिसमें ब्रजभाषा, अवधी, खड़ीबोली, पंजाबी, राजस्थानी आदि का अद्‌भुत मिश्रण है। ये सन्त भ्रमणशील थे अतः प्रत्येक स्थान की भाषा के शब्दों को अपनाते जाते थे। क्योंकि स्थानीय जनता को अपनी बात समझानी पड़ती थी, और ऐसा स्थानीय भाषा के शब्दों को अपनाए बिना असम्भव नहीं था। दूसरा कारण यह है कि उनकी वाणी तुरन्त लिपिबद्ध नहीं हुई, अतः जिस प्रान्त में उसका संग्रह हुआ, वहाँ की भाषा का उस पर पूर्ण प्रभाव पड़ा। भाषा प्रायः शुष्क और नीरस है, कहीं-कहीं लालित्य भी मिल जाता है। प्रधानतः इस काव्य का रस 'शान्त' या 'भक्ति' है। कहीं-कहीं प्रतीकात्मक उक्तियों के अन्तर्गत विरह-वर्णन के कारण विप्रलम्भ शृङ्गार के भी दर्शन होते हैं। हठयोग में वीभत्स रस है।

खण्डनात्मक प्रणाली : बहुत बड़ा दोष

इस धारा का सबसे बड़ा दोष यह है कि इन सन्त-कवियों ने स्वमत-प्रचारार्थ खण्डनात्मक प्रणाली का आश्रय ग्रहण किया। वे दलित थे, इससे उच्च वर्णों द्वारा अपनी जाति की उपेक्षा को भूल न सके। अतः उन्होंने उच्च वर्णों के आडम्बर, संकीर्ण और स्वार्थपरक मान्यताओं का उग्र विरोध किया। इस विरोध की तीव्रता के कारण ही उनका प्रभाव दलित वर्ग तक ही सीमित होकर रह गया। उच्च-वर्ग ने उन्हें कोई महत्त्व नहीं दिया। दूसरे, उनका निर्गुण-दर्शन भी जनसाधारण की समझ में नहीं आया। साथ ही, व्यक्तिगत साधना का प्राधान्य रहने से उसमें लोकोपकार के स्पष्ट बाह्य आदर्शों का अभाव रहा। शिक्षित एवं उच्च वर्ग उनसे सदैव दूर बना रहा। इस वर्ग के प्रति तीव्र विरोध की भावना ने सन्त-काव्य में सामाजिक अशिष्टता और उच्छृङ्खलता भर दी। कुछ आलोचक इन्हें इस्लामी परम्परा की उपज बताते हैं; परन्तु पद्धति, भाव, विषय, अलंकार भाषा, छन्द पद आदि की दृष्टि से

ये पूर्णतः भारतीय सिद्ध-नाथों की परम्परा के ही सिद्ध होते हैं। इस मत की स्थायी देन दो हैं—

१. रूढ़ वैदिक और ब्राह्मण धर्म का विरोध तथा साहित्यिक क्रान्ति की भावना।

२. अटपटा रहस्यवाद, जो गुह्य प्रतीकों के कारण बड़ा जटिल और अद्भुत-सा बन गया है।

सन्त-मत का पतन

उच्च वर्ग की दृष्टि से सन्त-मत ने प्रत्यक्ष रूप से भारतीय समाज का विशेष उपकार नहीं किया; परन्तु उन्हें ही इस बात का श्रेय है कि हिन्दू-समाज के दलित वर्ग में उन्होंने स्वाभिमान की भावना उत्पन्न की, जिसका आधुनिक रूप उच्च-वर्ग और दलित-वर्ग के पारस्परिक तीव्र-संघर्ष के रूप में प्रकट हो रहा है। इसके अतिरिक्त अछूतोद्धार की भावना हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य, धार्मिक आडम्बरों के प्रति उपेक्षा, भक्ति की लौकिक दृष्टिकोण, स्त्रियों को भक्ति का अधिकार आदि बातें सन्तों की ही देन मानी जा सकती हैं, परन्तु आंशिक रूप में ही सन्तों की परम्परा में आगे चलकर अङ्गद, अमरदास, अर्जनदेव, आनन्दघन, अक्षर, अनन्य, तुलसी, दूलनदास, चरणदास हुए। १८वीं शताब्दी तक आते-आते सन्त-गण सम्प्रदाय-स्थापना में दत्तचित हो गये और इसी कारण उनमें आडम्बर और सांसारिक माया-मोह का प्रभाव बढ़ने लगा। आज इस मत की दशा भी अन्य मतों से अच्छी नहीं है। सुधारवादी सन्त-सम्प्रदाय स्वयं रूढ़ियों में फँस गया है। आज उसका क्रान्तिकारी रूप साम्प्रदायिक दल-दल की कीचड़ में फँस, लगभग तिरोहित-सा हो चुका है।

प्रश्न ५—सन्त-साहित्य में भारतीय ब्रह्मवाद, सूफियों के रहस्यवाद तथा योगियों के साधनात्मक रहस्यवाद का किस प्रकार समन्वय हुआ? विवेचन कीजिए?

उत्तर—हम गत प्रश्नों में बता आए हैं कि सन्त-मत अपने पूर्ववर्ती विभिन्न मत-मतान्तरों का अद्भूत मिश्रण था। सन्त-कवियों ने जिस सम्प्रदाय अथवा मत में जो बात अच्छी समझी, उसे ग्रहण कर लिया, और जिस बात में उन्हें आडम्बर और विषमता के रूप दिखाई दिये, उसकी कटु शब्दों में निन्दा की। सन्त-साहित्य के इस समन्वयवाद को समझने के लिए पहले यह देख लेना चाहिए कि उस समय भारत में धार्मिक तथा दार्शनिक क्षेत्र की क्या दशा थी।

समकालीन विभिन्न सम्प्रदाय

उस समय समाज में निम्नलिखत आठ दार्शनिक तथा धार्मिक सम्प्रदायों का प्राधान्य था : (१) शंकर का अद्वैत। (२) रामानुज का विशिष्टाद्वैत, जिसमें विष्णु और लक्ष्मी की पूजा का विधान था तथा जिसने आगे चलकर रामानन्द के समय में राम-सीता की उपासना का रूप धारण कर लिया। (३) दाशरथि राम की भाँति कृष्ण की पूजा भी प्रचालेत थी। जयदेव, चण्डीदास और विद्यापति ने राधा-कृष्ण को अपने काव्य का विषय बनाया था। (४) इस्लामी एकेश्वरवाद, जो मूर्ति-पूजा और अवतारवाद का विरोधी एवं एक अल्लाह का अनुयायी तथा सरल जीवन का पक्षपाती था। (५) सूफी मत, जिसकी उपासना में प्रेम की पीर का प्राधान्य था। (६) नाथ-पन्थ, जो हठयोग कि क्रियाओं द्वारा साधना में रत रहता था। (७) योगमार्ग, जिसमें सहजयान सम्प्रदाय के तत्त्व मिल गये थे। कबीर के प्रदेश में भी इसी का प्राधान्य था। (८) शाक्तमत, जो पूर्वी हिन्दी प्रदेश से लेकर बंगाल तक फैला हुआ था। उपर्युक्त आठों प्रकार की साधनाओं में से प्रमुख रूप में सन्त-कवि कबीर ने केवल शाक्तमत का ही घोर विरोध किया था। शेष मतों के आन्तरिक सिद्धान्तों का उन्होंने अपने सामान्य भक्ति-मार्ग में, जिसे हम 'सहज-पन्थ' कह सकते हैं, ले लिया, पर उनके बाह्याचारों का उन्होंने बलपूर्वक खण्डन किया। कबीर ने शाक्तमत का विरोध उसकी वाममार्गी अश्लील और घिनौनी तांत्रिक-साधना के कारण ही किया था। कबीर शुद्ध निर्मल जीवन के समर्थक थे।

तीन प्रमुख धाराओं का समन्वय

ऊपर वर्णित आठों सम्प्रदायों में से शाक्त-मत को छोड़ कर शेष सात को हम तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। शंकर का अद्वैत तथा रामानुज का विशिष्टाद्वैत, **भारतीय ब्रह्मवाद** के दो रूप हैं। इस्लामी **एकेश्वरवाद** और सूफियों की प्रेम-साधना **भावात्मक रहस्यवाद** के अन्तर्गत माने जा सकते हैं। इसी में जयदेव आदि के प्रेम-सम्बन्धी मधुर पदों की गणना भी हो सकती है। क्योंकि कबीर आदि ने तन्मय होकर विरह और मिलन के जो पद गाये हैं, उन पर इनकी छाया है। नाथ-पन्थ और योगमार्ग को हठयोग की प्रधानता के कारण **साधनात्मक रहस्यवाद** की संज्ञा दी जा सकती है। इस प्रकार सन्त-मत में इन तीनों प्रमुख धाराओं का समन्वय लक्षित होता है। यहाँ एक बात विशिष्ट रूप से द्रष्टव्य है कि इस्लाम के एकेश्वरवाद ने भारतीय हिन्दू-चिन्तन

को रंचमात्र भी प्रभावित नहीं किया है। क्योंकि भारतीय दार्शनिक एक ब्रह्म के सिद्धान्त का निरूपण बहुत पहले ही कर चुके थे। प्रभाव केवल सूफी-मत के प्रेम-लपेटे एकेश्वरवाद का ही माना जा सकता है। कबीर के विरह के पदों में जिस ऊहा के दर्शन होते हैं, वह सूफी-प्रभाव के कारण ही है।

भारतीय ब्रह्मवाद का समन्वित रूप

भारतीय ब्रह्मवाद के रूप में सन्त-साहित्य अद्वैत की भावना से प्रभावित है। उसका ज्ञान और उपदेश अद्वैत पर आधारित है। सन्त-कवि माया की सत्ता और जीव-ब्रह्म की एकता को स्वीकार करते हैं। जीव ब्रह्म के मिलन में माया बाधक है। माया के दूर होने पर ही दोनों का मिलन होता है। कबीर के राम भी अद्वैत ब्रह्म की भाँति निराकार और निर्गुण हैं। विशिष्टाद्वैत की भाँति जीव और ब्रह्म की द्वैत सत्ता में कबीर का विश्वास नहीं है; परन्तु ब्रह्म की प्राप्ति में ये विशिष्टाद्वैतियों की भावना को स्वीकार करते हैं। क्योंकि भक्ति के लिए द्वैत भावना अनिवार्य है। इस भक्ति-भावना के कारण इन्होंने अपने ब्रह्म को राम, कृष्ण, गोविन्द, हरि, केशव आदि कितने ही नामों से सम्बोधित किया है। कबीर के गुरु रामानन्द थे। उनके प्रभाव के कारण सन्त-मत की उपासना में एक प्रकार की स्वतन्त्रता-सी आ गई थी। रामानन्द ने यह बात अपने शिष्यों पर छोड़ दी थी कि वे राम को निर्गुण रूप में मानें अथवा सगुण रूप में। सन्त-मत पर रामानन्द का प्रभाव सबसे अधिक इस बात में पड़ा कि उन्होंने अपने मत में मांस-भक्षण-निषेध, वैष्णवी दया और अहिंसा को बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया। जीवन की सरलता और सात्त्विकता सन्त-मत की महत्त्वपूर्ण देन मानी जा सकती है।

ज्ञान और भक्ति का समन्वय

सन्तों ने ब्रह्म की प्राप्ति के लिए ज्ञान और भक्ति—दोनों का सहयोग माना है। शंकर के अद्वैतवाद के रूप में उन्होंने ज्ञान की महत्ता प्रतिष्ठित की; परन्तु भक्ति की सहायता के बिना ज्ञान पंगु हो जाता है। इसलिए भक्ति की प्राप्ति के लिए उन्होंने रामानन्दी सम्प्रदाय की विशेषताओं को भी स्वीकार किया। वैष्णव भावनाओं का रूप भी ब्रह्मवाद से ही सम्बन्धित है। वैष्णव भावनाओं की महत्त्वपूर्ण बात—व्यक्तिगत ब्रह्म की कल्पना और उसकी भक्ति है। कबीर ने अनेक पदों में निर्गुण ब्रह्म से अपने व्यक्तिगत प्रेम का सम्बन्ध प्रकट किया है। कभी वे हरि को 'जननी' कहते हैं, कभी अपने को 'राम की

बहुरिया' मानते हैं, परन्तु मूल भावना में कोई अन्तर नहीं है। वे वैष्णव भक्ति को ही सब कुछ मानते हैं। अन्य सन्त कवि भी यही मानते हैं।

वैष्णव भक्ति को स्वीकृति

वैष्णव भक्त गुरु-भक्ति और नाम-कीर्तन को भक्ति-प्राप्ति का प्रधान साधन मानते हैं। ये दोनों बातें भी सन्तों में पर्याप्त मात्रा में पायी जाती हैं। वैष्णव भक्ति का दूसरा अंग इष्टदेव के प्रति रति की भावना है। सन्तों ने इसका वर्णन रहस्यवाद की भावना के अन्तर्गत किया है। कबीर ने तो स्पष्टतः ब्रह्म-सम्बन्धी मिलन और विरह के गीत गाए हैं। सन्त-मत में लोक-भावना का प्राधान्य भी वैष्णवों की देन है। परन्तु इसे मात्र वैष्णवों की ही देन नहीं माना जा सकता। हिन्दू उच्च वर्णों के अत्याचारों और उपेक्षा ने ही निम्न जातीय समझे जाने वाले सन्तों को लोक की ओर उन्मुख कर दिया था। परन्तु स्वामी रामानन्द इस लोकोन्मुखी भक्ति की स्थापना और प्रचार पहले से ही कर रहे थे। सन्तों ने उसी भावना को अपना लिया था।

सूफी प्रेम-भावना का प्रभाव

सन्त-साहित्य पर सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद का भी यथेष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। सूफियों के प्रेमवाद के कारण सन्त-मत बहुत महत्त्वपूर्ण हो गया है, वरना बिना प्रेम की भावना के यह मत भी नाथ-पन्थ की भाँति शुष्क रह जाता। इस प्रेम-तत्त्व को ग्रहण करने से ही सन्त-मत में रमणीयता आई और जनता का उसके प्रति आकर्षण बढ़ा। बाबू गुलाबरायजी के शब्दों में—"ब्रह्मवाद पर सूफी प्रेमवाद की उन्होंने बड़ी सुन्दर कलम लगाई है।" साधारणतः वैष्णवों की भक्ति-भावना और सूफियों की विरह-साधना लगभग मिलती-जुलती सी चीजें हैं। इन दोनों में अन्तर इतना ही है कि वैष्णव भक्ति-भावना में ईश्वर को प्रियतम माना जाता है और सूफियों में ईश्वर को प्रियतमा माना गया है। कबीर आदि सन्त भारतीय थे, अतः उन पर वैष्णव-भावना का प्रभाव अधिक पड़ा था। उन्होंने ईश्वर से माता-पिता, स्वामी एवं पति का सम्बन्ध जोड़ा है। प्रेम की व्यंजना का तीव्रतम रूप पति-पत्नी सम्बन्ध में ही व्यक्त होता है। कारण, पति-पत्नी में अन्तराल नहीं रहता। कबीर ने इसीलिए अपने को 'राम की बहुरिया' कहा है। परन्तु निर्गुण ब्रह्म को प्रेम का आधार बना देने के कारण वह सगुण-सा भासित होने लगता है। फिर उसमें मिल गया है—सूफी दर्द। सूफियों में दोनों ओर प्रेम पलता है; परन्तु इन सन्तों में केवल

प्रेयसी ही विकल होती है, प्रियतम नहीं। सन्तों का ब्रह्म और सूफियों का अल्लाह, दोनों ही निर्गुण हैं। एतः निर्गुण के प्रति प्रेम प्रदर्शित करने में स्वभावतः रहस्य की भावना आ जाती है। इसी प्रेम का मूलाधार भक्ति-भावना है। इसी से सूफियों की यह भावना भावनात्मक रहस्यवाद कहलाती है।

सिद्ध-नाथ मतों का प्रभाव

साधना के क्षेत्र में सन्तों ने साधानात्मक रहस्यवाद को अपनाया है। साधनात्मक रहस्यवाद में हठयोग-साधना की योग, तन्त्र, रासायनादि क्रियाओं का विशेष महत्त्व है। सन्तों पर सिद्धों और हठयोगियों—दोनों का गहरा प्रभाव है। दोनों ने बाह्य-पूजा, जाति-पाँति, तीर्थाटन आदि को निस्सार बता कर उनका खण्डन किया था। यही परम्परा आगे चलकर सन्तों ने भी जारी रखी। सिद्धों और हठयोगियों ने रहस्यदर्शी बनकर शास्त्रज्ञ विद्वानों का तिरस्कार करने और मनमाने रूपकों द्वारा अटपटी वाणी में पहेलियाँ बुझाने में सन्तों का मार्ग प्रदर्शित किया। साथ ही उन्हें घट के भीतर चक्र, नाड़ियाँ, शून्य देश आदि की साधना करने और नाद, बिन्दु, सुरति, निरति, आदि शब्दों की परम्परा विरासत के रूप में दी। साधनात्मक रहस्यवाद में साधक योग-साधना द्वारा हठपूर्वक ब्रह्म से मिलन प्राप्त करता है। "यह मिलन शरीर के अङ्गों तथा श्वास पर अधिकार प्राप्त कर, उनका उचित संचालन करते हुए एवं मन को एकाग्र कर परमात्मा के दिव्य स्वरूप का मनन करते हुए, आत्मा के समाधिस्थ हो जाने पर होता है।" गोरखनाथ द्वारा चलाये गए इस हठयोग को सन्त-कवियों ने ब्रह्म-प्राप्ति के साधन-रूप में ग्रहण किया था। हठयोग की साधना द्वारा मन और शरीर सारे विकारों से मुक्त हो, सर्वथा शुद्ध बन, ब्रह्म का साक्षात्कार करने के योग्य हो जाता है। इसी कारण सन्तों ने इसे अपना लिया था।

सन्त मत : विरोधी तत्त्वों का अनमेल मिश्रण

उपर्युक्त विवेचन में हमने देखा कि सन्त-मत पर विभिन्न मतों का प्रभाव पड़ा था। सन्तों ने सभी मतों के प्रधान तत्त्वों को अपने मत में शामिल कर लिया; परन्तु अशिक्षित होने के कारण इन तत्त्वों के वास्तविक रूप को समझने में ये सन्त-कवि पूर्णतः सफल नहीं हो पाए। उन्होंने सुने-सुनाए ज्ञान के आधार पर उच्च दार्शनिक तत्त्वों को रूपकों और उलटबासियों द्वारा प्रकट

करने का प्रयत्न किया, परन्तु साहित्यिक-परम्परा से अनभिज्ञ होने के कारण उनका वह प्रयत्न अटपटा और दुरूह बनकर रह गया। इसी से उनके काव्य का अर्थ खोजना विद्वानों के लिए भी आकाश-कुसुम बन गया है। इसमें विभिन्न मतों की ऐसी बेमेल खिचड़ी है, जो इसका एक प्रभावशाली रूप नहीं बनने देती। अशिक्षा और अज्ञान के कारण उत्पन्न रहस्योक्तियाँ अशिक्षितों पर ही प्रभाव डाल सकती हैं, शिक्षितों पर नहीं। इन सन्तों के विचार भी अपरिपक्व और अशास्त्रीय हैं। एक ओर वे कीर्तन की महिमा बताते हैं तो दूसरी ओर ज्ञान की। कीर्तन में श्रद्धा का भाव प्रधान है, पर वे श्रद्धा को कोई महत्त्व नहीं देते। एक ओर कर्मकाण्ड के विरोधी हैं, तो दूसरी ओर हठयोग की साधना करते हैं। इस प्रकार इन विरोधी तत्त्वों के अनमेल मिश्रण से इनका काव्य भरा पड़ा है इसी असंगति ने कालान्तर में सन्तों को घोर सम्प्रदायवादी बनाकर उनकी साधना के रूप को विकृत और प्रभावहीन बना दिया और इस असंगति का प्रधान कारण था—सन्तों का शास्त्र-ज्ञान से वंचित और अशिक्षित होना।

प्रश्न ६—"कविता करना कबीर का लक्ष्य नहीं था; फिर भी उनकी उक्तियों में कवित्व की ऊँची चीजें प्राप्त हैं। साधना के क्षेत्र में वे युग-युग गुरु थे और साहित्य के क्षेत्र में भविष्य-स्रष्टा।"—कबीर-काव्य से उपयुक्त उदाहरण देते हुए इस कथन की समीक्षा कीजिए।

उत्तर—कबीर-काव्य के दो पक्ष

हम पहले कह आये हैं कि कबीर आदि सन्त-कवि अशिक्षित थे। उन्हें न तो विभिन्न सम्प्रदायों का ही शास्त्रीय ज्ञान था और न पिंगल-शास्त्र से ही उनका कोई विशेष परिचय था। कबीर का प्रधान उद्देश्य—अपनी भक्ति-भावना के प्रकाशन तथा अपने नवीन धार्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन एवं प्रचार करना था। कबीर के व्यक्तित्व के दो प्रधान पक्ष हैं : **प्रथम**, धर्म-सुधारक का, एवं **द्वितीय**, शुद्ध भक्त का। इसी के अनुरूप उनके साहित्य के भी दो पक्ष हो गए हैं। धर्म-सुधारक, उपदेशक के रूप में उन्होंने जो कुछ कहा है, वह खण्डन-मण्डन की भावना से ओत-प्रोत होने के कारण नीरस, शुष्क एवं कर्कश भाषा में है। उसमें साहित्यिक सौन्दर्य का अभाव है। सरस काव्य का सृजन करना, उनका लक्ष्य भी नहीं था। वे काव्य को ही महत्त्व देते थे न कि उस

काव्य को प्रस्तुत करने वाली शैली को। कविता को तो उन्होंने अपने विचारों तथा भावों को जनता तक पहुँचाने का माध्यम बनाया था। उन्होंने न 'मसि कागद' छुआ था और न हाथ में 'कलम गही' थी। वे तो केवल प्रेम का 'ढाई अक्षर' पढ़कर ही 'पण्डित' हो गये थे। कवि के लिए अपेक्षित गुणों में प्रतिभा शिक्षा और अभ्यास—तीन गुण माने गये हैं। कबीर में केवल प्रतिभा थी। उनके ज्ञान का साधन एवं स्रोत सत्संग और पर्यटन था। वे बहुश्रुत थे। इसी से उनके काव्य में विभिन्न प्रदेशों में प्रयुक्त अनेक कवि-समयों, प्रतीकों एवं अलंकारों का सौन्दर्य आ गया है। उनके रूपक, उलटबाँसियाँ और विरोधाभास हिन्दी-साहित्य की विचित्र निधि माने जाते हैं। ये गुण उनके काव्य में अनायास ही आ गये थे। यह कबीर काव्य का एक पक्ष है जो अटपटा, रहस्यमय और दुरूह-सा है। इसका कारण यह है कि इसमें कबीर ने गुरुवत् उपदेशक बनने का प्रयत्न किया है जो उनके अशिक्षित होने के कारण अटपटा प्रयास मात्र बन कर रह गया है।

गहन अनुभूति-प्रधान काव्य

कविता की एक विशेषता है कि जो कविता सीधी हृदय से निकलती है, वह सीधी हृदय पर चोट करती है। हमारे अनेक ग्राम्य गीतों में कल्पना, आदि का कोई सौन्दर्य नहीं होता; परन्तु उनमें अनुभूति की गहराई इतनी तीव्र और मार्मिक होती है कि हम उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो, अपने साहित्य की सुन्दर से सुन्दर उक्तियों को उन पर न्यौछावर करने को प्रस्तुत हो जाते हैं। अनुभूति की यही तीव्रता कबीर-काव्य के दूसरे पक्ष में मिलती है। उनके हृदय में सचाई थी और आत्मा में बल, इसीलिए उनकी वाणी में इतनी शक्ति आ गई थी। उनकी वाणी की यह शक्ति ही काव्यगत सरसता बनकर पाठक के हृदय को प्रभावित करती है; परन्तु इस सरसता के दर्शन केवल उन्हीं स्थानों पर होते हैं, जहाँ उन्होंने संसार से नाता तोड़, भक्ति-भावना में आकण्ठ निमग्न हो, ब्रह्म से अपना पूर्ण रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर अपनी विरह-व्यथा का वर्णन किया है। कविता करते समय कबीर को इस बात का ध्यान नहीं रहता था कि जो कुछ वे कह रहे हैं—वह सुन्दर और सरस है अथवा नीरस; परन्तु आत्मा के सच्चे उद्गार होने के कारण सरसता उसमें स्वतः ही आ जाती थी। वस्तुतः साहित्यिक दृष्टि से कबीर-काव्य का यह अंश ही उन्हें कवि सिद्ध करता है। कबीर के प्रेम-भावना सम्बन्धी कुछ शृंगारिक पद तो इतने सरस और

सुन्दर हैं कि यदि उनमें से कबीर का नाम हटा दिया जाय तो काव्य रसिक उन्हें सूर के पद समझ बैठेंगे।

अनुभूति ज्ञान का सम्बल

कबीर का व्यक्तित्व क्रान्तिकारी था। उनका यह क्रान्तिकारी व्यक्तित्व ही अनन्य भक्त, उत्कट प्रेमी तथा शुद्ध मानव की विभिन्न धाराओं में बहा है। इन तीनों क्षेत्रों में उन्होंने किसी से भी समझौता नहीं किया है। उन्होंने अपने अशिक्षित होने की बात बड़े स्पष्ट और निश्छल शब्दों में कह दी थी; परन्तु उन्हें अपने सांसारिक अनुभव और ज्ञान पर पूर्ण आस्था थी, इसी से उन्होंने शिक्षित पण्डितों को ललकार कर कहा था—"तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता आँखिन की देखी।" अंग्रेजी की एक कहावत है कि—कविता का जन्म हृदय से होता है ओर वह हृदय पर ही प्रभाव डालती है। जहाँ कबीर ने खण्डनात्मक प्रणाली का आश्रय ग्रहण कर दार्शनिक तत्त्वों का निदर्शन करने का प्रयत्न किया है, वहाँ उनकी काव्य-शक्ति उनका साथ छोड़ गई है, क्योंकि दार्शनिक विवेचन में मस्तिष्क, तर्क-शक्ति और ज्ञान ही प्रधान रहते हैं। कबीर के पास बुद्धि तो थी; परन्तु अध्ययन द्वारा अर्जित शास्त्रीय ज्ञान नहीं था। शास्त्रीय तर्क-शक्ति और शास्त्रीय-ज्ञान का अभाव होने के कारण ही वे इस क्षेत्र में आकर लड़खड़ा गये हैं। शुद्ध काव्य की दृष्टि से उनका वास्तविक एवं स्वाभाविक क्षेत्र हृदय था, इसी कारण केवल नहीं अर्थात् भक्ति के उद्‌गार में, सरस काव्य के दर्शन होते हैं।

रागात्मक तत्त्व का प्राधान्य

बाबू गुलाबराय के अनुसार—"काव्य के दो पक्ष हैं—भाव-पक्ष और कला-पक्ष। भाव-पक्ष में बुद्धि-तत्त्व, रागात्मक तत्त्व और कल्पना तत्त्व आते हैं। बुद्धि-तत्त्व में कवि के द्वारा उपस्थित किये हुए श्रेष्ठ विचार और सन्देश देखे जाते हैं। कल्पना-तत्त्व में वस्तु की चित्रांकनता और नव-निर्माण देखा जाता है और रागात्मक तत्त्व में हृदय-स्पर्शिता और तन्मयता परखी जाती है।" कबीर का काव्य सन्देश-प्रधान अधिक है, इसी से उसमें कल्पना-तत्त्व की न्यूनता है। इस न्यूनता के कारण उनके चित्र अस्पष्ट और अधूरे रह गए हैं। यह अस्पष्टता केवल अकेले कबीर काव्य में ही नहीं; अपितु सिद्ध-साहित्य, नाथ-साहित्य और सम्पूर्ण सन्त-साहित्य में दिखाई देती है। शिक्षा और वास्तविक शास्त्रीय ज्ञान के अभाव के कारण उनकी उक्तियों में स्पष्टता नहीं आ पाई

खण्डन-मण्डन-प्रचार-प्रधान काव्य में रागात्मकता का प्रश्न ही नहीं उठता, परन्तु जहाँ उन्होंने अपने अज्ञात प्रियतम के प्रति प्रेम से विभोर हो अपने विरह और व्यथा का वर्णन किया है, वहाँ रागात्मक तत्त्व अपनी पूर्ण तन्मयता और हृदय-स्पर्शिता के साथ साकार हो उठा है। उनके विरह के पदों में कहीं-कहीं मीरा की-सी तन्मयता, सूर की-सी सरसता और विद्यापति का-सा सौन्दर्य दिखाई देता है। कबीर के पास मँजी हुई सशक्त, प्रांजल भाषा और काव्य-शास्त्र सम्बन्धी ज्ञान नहीं है। वे दोहा-जैसा साधारण छन्द भी ठीक से नहीं लिख सके हैं। उनके रूपक कहीं-कहीं अटपटे और अस्पष्ट हैं, अलंकार भी शास्त्रीय दृष्टि से शुद्ध नहीं हैं। फिर भी उनके भक्ति-भावना वाले पद हृदय को स्पर्श कर लेते हैं। इसके मूल में इन पदों में व्यक्त उनकी गहन अनुभूति, गम्भीर तन्मयता और एकाग्रता ही मुख्य उपकरण प्रतीत होती है।

मार्मिक काव्य के कुछ उदाहरण

कबीर के काव्य में कहीं-कहीं अत्यन्त सुन्दर उक्तियों के दर्शन होते हैं, जैसे—

माली आवत देखकर, कलियनि करी पुकार।
फूले-फूले चुनि लिये, कालि हमारी बार॥

वे अपने प्रियतम का आह्वान करते हुए कहते हैं कि—

नयना अन्तर आव तू पलक ढाँपि तोहि लेउँ।
ना मैं देखूं और कूं, ना तोहि देखन देउँ॥

काव्य-सौन्दर्य

यहाँ सीधी-साधी सरल भाषा में कितनी मार्मिक बात कह दी गई है! क्या ऐसे पदों को नीरस अथवा साहित्यकता से शून्य कहा जा सकता है? कबीर के काव्य में रूपकों की भरमार है। अन्य अनेक अलंकार; जैसे—उपमा, अतिशयोक्ति, रूपकातिशयोक्ति आदि का भी अत्यन्त सुन्दर निर्वाह हुआ है "घूंघट के पट खोल री, तोय पीउ मिलैंगो"—इस भाषा में कितना साहित्यिक सौन्दर्य है! "गगन गरज बरसै अमी" में रहस्यवादी प्रतीकात्मक भाषा है।

यद्यपि कबीर के काव्य में प्रायः सर्वत्र सिद्धान्तों की प्रधानता मिलती है, परन्तु जहाँ भी वे सिद्धान्तों का मोह छोड़ अपने प्रियतम के चिन्तन में निमग्न

हुए हैं, वहीं उनका काव्य उच्च-कोटि का और सरस बन गया है। कुछ आलोचक कबीर की गणना कवियों में करना अनुचित समझते हैं। ऐसे आलोचकों के या तो हृदय नहीं है अथवा दुर्भाग्यवश उन्होंने कबीर के ऐसे सरस पद ही नहीं पढ़े हैं। अस्तु, यह कहा जा सकता है कि कविता करना कबीर का लक्ष्य नहीं था; फिर भी उनकी उक्तियों में कवित्त्व की ऊँची चीजें प्राप्त हैं।

पथ-प्रदर्शक, एकनिष्ठ साधक

कबीर साधक थे। उनकी साधना के दो रूप थे—कर्मयोग और हठयोग। कर्मयोगी के समान वे संसार के माया-मोह से निर्लिप्त रहते थे। उनकी कथनी और करनी में साम्य था; परन्तु उन्होंने संसार के संघर्ष से पलायन का उपदेश कभी भी नहीं दिया। वे उससे टक्कर लेने के पक्षपाती थे। उन्होंने संसार की माया से स्वयं को मुक्त कर लिया था। इसी कारण वे सच्चे कर्मयोगी होने के कारण युग-युग गुरु थे। उन्होंने सन्त-काव्य का पथ-प्रदर्शन कर साहित्य-क्षेत्र में नव-निर्माण का कार्य किया था। उनके समकालीन एवं परवर्ती सभी सन्त कवियों ने उनकी वाणी का अनुकरण किया था। वृन्द, गिरिधर कविराय, रहीम, दीनदयाल गिरि आदि ने उन्हीं का अनुकरण कर सुन्दर सूक्ति-काव्य रचे थे। हिन्दू-मुस्लिम एकता की जो धारा इतनी प्रबल हो उठी है, उसके प्रवर्तक कबीरदास ही थे। इसी धारा को मैथिलीशरण गुप्त आदि गाँधीवादी कवियों ने अपनाया। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—"इस प्रकार कबीरदासजी न केवल तत्कालीन समाज मे साधना के क्षेत्र में गुरु थे; वरन् सन्त-मत, सूक्ति-काव्य, और हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य सम्बन्धी हिन्दी-साहित्य के पथ-प्रदर्शक और स्रष्टा भी थे।" इसी कारण एक समाज-सुधारक-कवि के रूप में उनकी गणना तुलसी के साथ की जाती है।

प्रश्न ७—प्रेम-काव्य की विशेषताएँ बतलाते हुए सन्त-काव्य तथा प्रेम-गाथा-काव्य का विवेचन कीजिए।

उत्तर—लोक कथाओं का आधार

हिन्दी-साहित्य के मध्यकाल में लोक-प्रचलित प्रेम-कथाओं को लेकर लोक-भाषा में सुन्दर साहित्य का निर्माण हुआ था। कभी-कभी ये काव्य किसी ऐतिहासिक व्यक्ति के नाम के साथ जुड़े हुए होते थे और कभी इनके नायक-नायिका आदि पूर्णतः कल्पित भी हुआ करते हैं। प्राचीनकाल में इन प्रेम-सम्बन्धी कहानियों को लोग बड़े चाव से सुनते और पढ़ते थे। सत्रहवीं शताब्दी

के जैन कवि बनारसीदास ने अपने आत्म-चरित्र में लिखा है कि उन्हें 'मधुमालती' और 'मृगावती' नामक पुस्तकों को पढ़ने का इतना चस्का लगा कि वे अपना काम-काज छोड़ बैठे। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में उस काल में "इन निजंधरी नायक-नायिकाओं की प्रेम-कहानियाँ आजकल के सस्ते ढंग के उपन्यासों का काम करती थीं।" अर्थात् उस युग में ये प्रेम-कथाएँ मनोरंजन का एक प्रमुख और लोकप्रिय साधन थीं। प्रेम-कहानियों का यही साहित्य हिन्दी साहित्य में 'प्रेमगाथा-काव्य' के नाम से प्रसिद्ध है। जायसी का 'पदमावत' इस परम्परा का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ माना जाता है और जायसी सर्वश्रेष्ठ कवि। इसके अतिरिक्त कुतुबन की 'मृगावती', मंझन की 'मधुमालती', उसमान की 'चित्रावली' तथा अन्य अनेक प्रेम-कथाएँ लिखी गईं जिनमें 'स्वप्नावती', 'मुग्धावती', 'खण्डरावती', 'प्रेमावती', 'इन्द्रावती', 'हंस जवाहर' आदि प्रसिद्ध हैं। इनमें से कुछ का केवल उल्लेख मिलता है। इन कथाओं के कवि प्रायः सभी सूफी मुसलमान हैं। दक्खिनी हिन्दी के अनेक कवियों ने भी अरब, फारस आदि देशों में प्रचलित अनेक सूफी प्रेम-कथाओं को आधार बना, सूफी मसनवी पद्धति के प्रेमकाव्य लिखे थे जो सूफियों में बहुत लोकप्रिय रहे थे। परन्तु मध्यकाल में, हिन्दी में अनेक हिन्दू-कवियों ने भी दर्जनों ऐसे प्रेम-काव्य लिखे थे, जिनका फारसी की मसनवी-शैली की सूफी प्रेम-काव्य परम्परा से कोई सम्बन्ध नहीं था। ये विशुद्ध रूप से पुरानी भारतीय प्रेम-कथाएँ मात्र थीं। इनमें साहित्यिक सौन्दर्य के साथ प्रेम की गहरी व्यंजना ने मिलकर इन्हें अपने युग में बहुत लोकप्रिय बना दिया था। अस्तु,

सूफी कवियों ने तीन प्रकार की प्रेम-कथाएँ लिखी हैं—(१) आध्यात्मिक सिद्धान्तों के प्रचार के लिए लिखे गये ग्रन्थ, इनमें मुख्य रूप से सूफी कवियों की लिखी प्रेम-गाथाएँ हैं। (२) विशुद्ध लौकिक प्रेम-काव्य, (३) अर्द्ध-ऐतिहासिक प्रेम-गाथाएँ। तीसरी प्रकार की इन प्रेम-गाथाओं के कवियों में अनेक हिन्दू भी हुए हैं।

विशेषताएँ

प्रेम-गाथा काव्य की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) भारतीय चरित-काव्य शैली—मुस्लिम सूफी-कवियों द्वारा रचित अधिकांश प्रेम-गाथाएँ भारतीय 'चरित काव्य' की सर्गबद्ध शैली में न होकर फारसी की मसनवी शैली में हैं। इनमें मसनवी पद्धति के अनुसार प्रारम्भ में ईश्वर-

वन्दना, मुहम्मद साहब की स्तुति, तत्कालीन बादशाह की स्तुति आदि हैं और सर्गों के शीर्षक घटनाओं के आधार पर रखे गये हैं। फिर इनके रचना-विधान पर अपभ्रंश के 'चरित-काव्यों' के रचना-विधान का गहरा प्रभाव रहा है। परन्तु अनेक ऐसे काव्य न तो सर्गबद्ध ही हैं और न उनमें घटनाओं के शीर्षक ही मिलते हैं। 'पदमावत' ऐसा ही प्रबन्ध-काव्य है। उसके सर्गों के शीर्षक सबसे पहले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रखे थे।

(२) **मुसलमान सूफी कवि**—प्रेमगाथाओं के रचियता अधिकांशतः मुसलमान सूफी कवि हैं। उन्हें हिन्दुओं के धार्मिक सिद्धान्तों, अचार-विचारों, रहन-सहन आदि का भी सामान्य ज्ञान था जिसका प्रमाण उनके ग्रन्थों में मिलता है। इनकी रचना-शैली मसनवी-पद्धति की रही है।

(३) **हिन्दू-कथाएँ**—इन कथाओं में अधिकांश हिन्दुओं की प्रेमकथाएँ हैं। परम्परा से प्रचलित इन प्रेम-कहानियों को अपना आधार बनाकर इन कवियों ने इतिहास और कल्पना के अद्भुत मिश्रण से सुन्दर प्रेम कथाओं का सृजन किया है। इनमें इतिहास की रक्षा वहीं तक हुई है, जहाँ तक कि वह उनके साध्य—अलौकिक की अभिव्यक्ति करता है। इस प्रकार मुस्लिम सूफी-कवियों ने हिन्दुओं के घरों की प्रेमकथाओं को लेकर अपने उदार धार्मिक सिद्धान्तों को व्यक्त किया है। परन्तु केवल उत्तर भारत के सूफी कवियों ने ही हिन्दू प्रेम-कथाओं को आधार बनाकर ग्रन्थ रचे हैं, दक्षिण के सूफी कवियों ने नहीं।

(४) **अलौकिक की व्यंजना**—इन कथाओं में लौकिक कथाओं द्वारा अलौकिक की व्यंजना की गई है। इसका धार्मिक कारण इस्लाम का प्रतिबन्ध था। सूफी मत के अनुसार ईश्वर एक है और आतमा उसी का अंश है। इन गाथाओं में चित्रित अलौकिक प्रेम द्वारा जीवात्मा के परमातमा के प्रति तीव्र प्रेम के साधना मार्ग की कठिनाइयों का चित्रण किया गया है। आतमा परमातमा के इस मिलन में शैतान बाधक है। गुरु की सहायता से उसे दूर कर साधक ईश्वर की प्राप्ति करता है। इन कथाओं का प्रतिपाद्य विषय इसी प्रयत्न और प्राप्ति का वर्णन करना रहा है।

(५) **अवधी भाषा**—इन कवियों का केन्द्र अवध प्रान्त था। इसलिए इनकी भाषा भी अवधी है; परन्तु इनकी इस भाषा में तुलसीदास की अवधी की सी साहित्यिकता का अभाव है। कथानक को गति देने के लिए इन कवियों ने प्रायः उन सभी कथानक-रूढ़ियों का प्रयोग किया है, जो परम्परा से भारतीय

कथाओं में व्यवहृत होती आई हैं; जैसे—चित्र-दर्शन, स्वप्न-दर्शन, शुक सारिका द्वारा नायिका का वर्णन सुनकर नायक का उस पर आसक्त होना, पशु-पक्षियों के वार्तालाप से भावी घटनाओं की सूचना, मन्दिर या चित्रशाला में नायक-नायिका का मिलन आदि।

(६) दोहा-चौपाई छन्द—सभी सूफी कवियों ने प्रायः दोहा और चौपाई छन्दों में ही अपने काव्यों की रचना की है। हिन्दी-साहित्य में जायसी एक प्रकार से इन छन्दों के प्रवर्त्तक माने जाते हैं, यद्यपि उनसे पूर्व ईश्वरदास अपनी रचनाओं में दोहा-चौपाई का प्रयोग कर चुके थे।

(७) मसनवी और भारतीय शैली का मिश्रण—इनके प्रेम-चित्रण में विदेशीपन के साथ-साथ भारतीय शैली की भी छाप है! कुछ विद्वानों का कथन है कि इसी कारण जायसी ने प्रारम्भ में नायक रत्नसेन को प्रियतमा पद्मावती की प्राप्ति में प्रयत्नशील दिखाकर बाद में नायिका (प्रियतमा) के प्रेमोत्कर्ष का भी चित्रण किया है। 'पदमावत' में उन्होंने पद्मावती के सतीत्त्व तथा उत्कट पति-प्रेम आदि के दृश्य दिखाकर भारतीय पद्धति का अनुगमन किया है।

(८) खण्डन-मण्डन से दूर—इन कवियों ने किसी विशेष सम्प्रदाय का खण्डन-मण्डन नहीं किया। इन्होंने सरस भाषा और साधारण शैली में केवल अपने साधना-मार्ग की अभिव्यक्ति को ही प्रधानता दी है। इसी से इनकी अभिव्यक्ति में आडम्बर का प्रदर्शन नहीं है। इसमें सूफी प्रेम-साधना के सैद्धान्तिक पक्ष के प्रति बहुत सूक्ष्म संकेत मिलता है।

(९) प्रबन्ध काव्य—इन्होंने अधिकतर प्रबन्ध-काव्य लिखे हैं, जिनमें कथा की रमणीयता के साथ सुव्यवस्थित सम्बन्ध-निर्वाह भी है; परन्तु इन्होंने वस्तु-वर्णन या कथा-प्रवाह को वहीं तक महत्त्व दिया है, जहाँ तक वह उनके उस अलौकिक प्रेम की व्यंजना करने में सहायक हुआ है।

(१०) भावपूर्ण वर्णन—इनकी भाव-व्यंजना अपना विशेष महत्त्व रखती है। इन्होंने मानव-हृदय के अत्यन्त सूक्ष्म भावों तक गहरे पैठकर रति, विरह और शोक आदि के अत्यन्त भावपूर्ण वर्णन किये हैं।

(११) मूलाधार : सूफी सिद्धान्त—सभी सूफी कवि मुसलमान थे; परन्तु इन पर भारतीय अद्वैतवाद का भी यथेष्ट प्रभाव पड़ा था। इन्होंने वैष्णवों से अहिंसा की भावना ली है। उपनिषदों के 'प्रतिबिम्बवाद' की झलक जायसी में

कई स्थानों पर मिलती है। हठयोग की क्रियाओं को भी सन्तों के समान उसी रूप में ग्रहण किया है। परन्तु इनका मूल आधार सूफी-सिद्धान्त ही रहे हैं। इन्होंने भारतीय प्रेम-कथाओं को माध्यम बना, भारतीय वातावरण का चित्रण करते हुए अपने सिद्धान्तों को ऐसे सूक्ष्म रूप में प्रस्तुत किया है कि उनमें धार्मिक आग्रह का रूप स्पष्ट रूप से कहीं भी नहीं उभरने पाया है।

(१२) **रहस्यवाद की सरस व्यंजना**—आचार्य शुक्ल के शब्दों में सूफियों के काव्य में रहस्यवाद की बड़ी सुन्दर, सरस और सरल व्याख्या हुई है। उसमें सन्तों के रहस्यवाद की-सी नीरसता और शुष्कता नहीं है। सूफियों ने प्रेम द्वारा अव्यक्त सत्ता को व्यक्त किया है। साथ ही अपनी रहस्यात्मक प्रेमानुभूति को प्रकृति के माध्यम से प्रस्तुत किया है, इसलिए वह अधिक सरस और प्रभावक हो उठी है।

सांस्कृतिक समन्वय का आदर्श

संक्षेप में, प्रेमगाथा काव्य की सामान्य विशेषताएँ यही हैं। उसमें अलौकिक के प्रति प्रेम-भावना की बड़ी सुन्दर और सरस व्याख्या हुई है। सन्तों के रहस्यवाद की-सी नीरसता उसमें नहीं मिलती। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसने हिन्दू-संस्कृति और मुस्लिम-संस्कृति का समन्वय कराने का अप्रत्यक्ष रूप से सफल प्रयास किया था। मसनवी शैली, विभिन्न प्रकार की स्तुतियाँ (अल्लाह, पैगम्बर, बादशाह की), सूफी सिद्धान्त, इस्लाम में पूर्ण आस्था, इस्लामी सूफी प्रेम-पद्धति का अनुकरण, विरह-वर्णन में ऊहात्मकता, मसनवी-शैली की वर्णनात्मकता आदि बातें इस्लामी फारसी साहित्य एवं संस्कृति की देन हैं। दूसरी ओर हिन्दू-संस्कृति एवं हिन्दी-साहित्य के प्रभाव एवं प्रतीक के रूप में इनकी अवधी भाषा दोहा-चौपाई की छन्द-पद्धति, अनेक धार्मिक और दार्शनिक विचार, हठयोग, रसायन, शृङ्गार के दोनों पक्ष, हिन्दू पात्र, हिन्दू-दृष्टिकोण, षटऋतुवर्णन, बारहमासा, अलंकारों में—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि का चित्र-आधार इत्यादि एकमात्र हिन्दू-संस्कृति और साहित्य से ओत-प्रोत है। इसीलिए कहा जाता है कि सन्त कवियों ने हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों को एक-दूसरे के अधिक निकट लाने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया था।

विरोध

सन्त काव्य और प्रेमगाथा-काव्य में अग्रलिखित बातों में विरोध है—

सन्त-काव्य	प्रेमगाथा-काव्य
१—माया का स्थान माना है।	१—माया का कोई स्थान न होकर शैतान का स्थान।
२—ईश्वर की प्रियतम के रूप में कल्पना।	२—प्रियतमा के रूप में कल्पना।
३—भारतीय वेदान्त से प्रभावित।	३—प्रेरणा स्रोत फारस का सूफी-सम्प्रदाय।
४—भिन्न प्रतीत होती हुई ईश्वर की परोक्ष सत्ता की एकता का आभास।	४—भिन्न प्रतीत होती हुई मानव की एकता का आभास।
५—खण्डनात्मक दृष्टिकोण।	५—खण्डन-मण्डन से सर्वथा दूर।
६—अहं का प्राधान्य।	६—सरलता और नम्रता की भावना।
७—मुक्तक काव्य, प्रबन्ध का अभाव।	७—प्रबन्ध काव्य, मुक्तक का अभाव
८—खिचड़ी भाषा।	८—व्यवस्थित भाषा—अवधी।
९—ब्रह्म का दर्शन हृदय में, प्रकृति उपेक्षित।	९—व्यक्त प्रकृति में ब्रह्म के रूप का दर्शन।
१०—ज्ञान, ईश्वर-प्राप्ति का प्रधान साधन—प्रेम सहायक मात्र।	१०—ज्ञान सहायक मात्र, प्रेम प्रधान।

समानता

उपर्युक्त विरोधों के अतिरिक्त निम्नलिखित बातों में इन दोनों में समानता दिखाई देती है—

(१) निर्गुण ईश्वर, (२) गुरु की महत्ता, (३) प्रेम-माधुरी, (४) हठयोग, (५) विरह, (६) माया और शैतान का एक ही रूप।

प्रश्न ८—सूफी काव्य-परम्परा में जायसी का स्थान निर्धारित करते हुए उनका साहित्यिक महत्त्व बतलाइए।

उत्तर—सूफी प्रेमाख्यान परम्परा

जायसी ने अपने से पूर्व की चार प्रेम-कहानियों—सपनावती, मुग्धावती, मृगावती और मधुमालती का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त, 'खंडरावती' और 'प्रेमावती' नामक दो और प्रेमाख्यान काव्यों का पता चला है, जो जायसी से पूर्व लिखे गये थे। मुल्ला दाऊद सूफी परम्परा के हिन्दी के सबसे प्राचीन कवि हैं। उन्होंने 'नूरक और चन्दा' अथवा 'चन्दायन' नामक

प्रेम-कथा लिखी थी। इसके उपरान्त 'प्रेमपन जीव निरंजन' नामक ग्रन्थ की रचना की गई। सन् १५९१ में शेख कुतुबन ने अवधी भाषा और दोहा-चौपाई छन्दों में 'मृगावती' लिखी। यह सूफी-साहित्य का मूल और पूर्ण रूप में उपलब्ध पहला ग्रन्थ है। कहा जाता है कि इसी ग्रन्थ द्वारा हिन्दी-साहित्य में सूफी मत का प्रवेश हुआ। कुतुबन के बाद मंझन की 'मधुमालती' की गणना की जाती है। इसमें विस्तृत वर्णन एवं विशद् कल्पना की विशेषता है। इसके उपरान्त सूफी फकीर शेख मोहिदी के शिष्य मलिक मुहम्मद जायसी इस क्षेत्र में अपने 'पदमावत' को लेकर आए। जायसी से पूर्व की सभी प्रेम-कथाएँ कल्पित थीं। जायसी ने अपनी कथा में सबसे पहले इतिहास और कल्पना का सुन्दर समन्वय किया। प्रबन्धात्मकता, कवित्त्व, गुण और भाषा की दृष्टि से जायसी हिन्दी के अन्य सूफी कवियों से श्रेष्ठ हैं। जायसी के 'पदमावत' को हिन्दी का श्रेष्ठ महाकाव्य माना गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तुलसी के 'श्रीरामचरितमानस' के बाद 'पदमावत' की अवधी भाषा का दूसरा महाकाव्य माना है। जायसी ने 'चित्ररेखा' नामक एक छोटा-सा प्रेमकाव्य और लिखा था।

जायसी के परवर्ती सूफी प्रेमाख्यान

जायसी के पश्चात् लिखा गया जमालउद्दीन का 'जमाल पच्चीसी' नामक एक हस्तलिखित ग्रन्थ प्राप्त हुआ है। जहाँगीर के समय में उसमान ने 'चित्रावली' लिखी। इसकी रचना 'पदमावत' के ढंग की है। 'चित्रावली' के योगी अंग्रेजों को भी देख आए थे। हिन्दी-साहित्य में सम्भवतः अंग्रेजों का स्पष्ट उल्लेख सर्वप्रथम इसी पुस्तक में मिलता है। 'चित्रावली' के उपरान्त शेख नबी ने 'ज्ञानदीप' नामक एक प्रेमाख्यान लिखा। इसमें राजा ज्ञानदीप और रानी देवयानी की कथा वर्णित है। जटमल की 'गोरा बादल की बात' भी इसी परम्परा में मानी जाती है। इसके पश्चात् खड़ीबोली-मिश्रित भाषा में लिखी हुई 'प्रेमी नामक सूफी-सन्त की 'प्रेमी परकाश' नामक एक पुस्तक प्राप्त हुई है। इसमें प्रेम और विरह का सुन्दर वर्णन है। कासिमशाह की 'हंस जवाहर' और नूर मुहम्मद की 'इन्द्रावती' भी इस परम्परा में अपना विशेष महत्त्व रखती हैं। इन्द्रावती' दोहा-चौपाई के बीच में बरवै छन्द का भी प्रयोग हुआ है। फाजिलशाह ने 'प्रेमरतन' नामक ग्रन्थ में वैराग्य, विरह और प्रेम का सुन्दर वर्णन किया है।

दक्खिनी हिन्दी के प्रेमाख्यान

दक्खिनी खड़ीबोली में भी कुछ प्रेमाख्यानक काव्य लिखे गये थे। कुतुब-शाह मुहम्मद अली तथा मुहम्मद कुतुबशाह ने कुछ प्रेम-कथाओं की रचना की थी। खड़ीबोली एवं फारसी छन्दों में लिखी हुई इब्नु निशाती की 'फूलवान' और तहसीनुद्दीन की 'किस्सए कामरूप और कला' भी इसी पद्धति की सुन्दर रचनाएँ मानी जाती हैं। गद्य में मौलाना बजही ने 'सबरस' नामक एक प्रेम-कहानी लिखी थी। नसरती ने मसनवी शैली में 'गुलशने इश्क' और हाशिमी ने 'यूसुफ जुलेखा' इसी परम्परा में लिखीं। हिन्दी की सूफी-काव्य परम्परा का यही संक्षिप्त इतिहास है।

मलिक मुहम्मद जायसी

इन्हें मुसलमान सूफी-कवियों की प्रेमाख्यान-परम्परा का एक जगमगाता रत्न माना जाता है। इनका 'पदमावत' हिन्दी-साहित्य की एक अमूल्य निधि एवं प्रेमाख्यान-परम्परा का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। जायसी से पूर्व की अन्य सभी प्रेमकथाएँ प्रायः कल्पित हैं। जायसी ने ही सर्वप्रथम रत्नसेन और पदमावती के ऐतिहासिक वृत्त को अपनी कथा का आधार बनाया यद्यपि उसमें आधा इति-हास और आधी कल्पना है। जायसी मुसलमान थे, अतः उनका फारसी काव्य और काव्यशास्त्र का ज्ञान अच्छा था, जिसका परिचय 'पदमावत' में सफलता-पूर्वक अपनाई गई मसनवी शैली द्वारा मिल जाता है; परन्तु हिन्दी-साहित्य और काव्य का उनका ज्ञान केवल सुना-सुनाया था। वे न तो हिन्दी काव्य के मर्मज्ञ ही थे और न बहुश्रुत ही। उन्हें भारतीय मत-मतान्तरों और काव्य शास्त्र का केवल हल्का-सा स्थूल ज्ञान था। परन्तु उन्होंने बड़े प्रयत्न और कौशल-पूर्वक हिन्दुओं के देवी-देवताओं, रीति-रिवाजों, रहन-सहन आदि का सुन्दर और कुछ सीमा तक यथार्थ चित्रण किया है। काव्याङ्गों में रस, अलंकार आदि का निर्वाह भी सुन्दर हुआ है। भाषा शुद्ध अवधी है, जिसमें अरबी-फारसी के शब्दों, हठयोग की पारिभाषिक शब्दावली आदि का भी मिश्रण है। भाषा गठी हुई साहित्यिक न होकर, बोलचाल की प्रतीत होती है।

अन्य सूफी कवियों ने अपने काव्य में जहाँ प्रेम, करुणा, श्रद्धा, भक्ति आदि कोमल भावों का ही निरूपण किया है, वहाँ जायसी ने अपने काव्य में लोकपक्ष का समन्वय कर वीरता, उत्साह, क्रोध, ओज, युद्ध आदि का भी वर्णन किया है। उनकी चार रचनाएँ मिलती हैं—पदमावत, अखरावट, आखरी कलाम

तथा चित्ररेखा । इनमें से 'पदमावत' और 'चित्ररेखा' प्रबन्ध-काव्य हैं तथा शेष दोनों धर्म-प्रधान मुक्तक काव्य। 'पदमावत' की कहानी का पूर्वार्द्ध काल्पनिक और उत्तरार्द्ध अर्द्ध-ऐतिहासिक है । विद्वानों का कहना है कि इसमें भौतिक प्रेम के आधार पर आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना की गई है । हिन्दी-साहित्य में जायसी अपने विप्रलम्भ शृङ्गार के लिए प्रसिद्ध हैं । यद्यपि उन्होंने संयोग और वियोग दोनों का ही वर्णन किया है; परन्तु कुछ आलोचकों की दृष्टि में नागमती का विरह-वर्णन हिन्दी-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ विरह-वर्णन है । पदमावत में वेदान्त, हठयोग आदि का भी सुन्दर वर्णन हुआ मिलता है। जायसी का रहस्यवाद भावात्मक रहस्यवाद कहा जाता है; क्योंकि इसमें प्रेम की प्रधानता है । सन्त-कवि ब्रह्म का दर्शन हृदय में करते हैं; सूफी कवि ब्रह्म का वर्णन व्यक्त प्रकृति में करते हैं । इसी से इनके काव्य में प्रकृति के विविध रूप अंकित होने के कारण अधिक सरसता और रमणीयता आ गई है। जायसी ने अपने काव्य में शिक्षाप्रद सूक्तियों, भौतिक तत्वों, मुहावरों और किम्बदन्तियों का भी सुन्दर प्रयोग किया है।

सूफी काव्य परम्परा का पूर्ण परिपाक

जायसी के ग्रन्थों का अध्ययन-मनन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि हिन्दी की सूफी-प्रेमकाव्य-परम्परा का पूर्ण परिपाक यदि कहीं हुआ है तो केवल जायसी के साहित्य में ही । वे एक विशेष वर्ग के कवि हैं । उन्होंने इस्लाम की सूफी-धारा को वेदान्त-योग-समन्वित भारतीय रूप में उपस्थित किया है । वेदान्त और योग—उनके समय की प्रमुख धाराएँ थीं। सूफी-काव्य में प्रेम की पीर का जो महत्त्व है, जायसी ने अपने काव्य में उसकी अत्यन्त सुन्दर अभिव्यक्ति की है । धर्म के क्षेत्र में उनकी दृष्टि बड़ी उदार है। "उनकी प्रवृत्ति, उनके हृदय की कोमलता और उनकी माधुर्य भावना उन्हें अपने वर्ग का और अपने समय का सफल कवि सिद्ध करती है। उनका स्थान सूफी काव्य परम्परा में सर्वोपरि है।"

प्रश्न ९—सगुण भक्ति-धारा की प्रमुख विशेषताओं एवं सिद्धान्तों पर प्रकाश डालते हुए, राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति शाखाओं के पारस्परिक साम्य वैषम्य पर अपना मत प्रकट कीजिए।

उत्तर—सगुण भक्तिधारा का विकास

सगुण-भक्ति-धारा के विकास में दो प्राचीन ग्रन्थों का विशेष प्रभाव रहा

है—भागवत और वाल्मीकि-रामायण। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक स्मृति-ग्रन्थों का भी प्रभाव पड़ा माना जाता है; परन्तु सर्वाधिक प्रभाव भागवत का ही स्वीकार किया गया है। वैष्णव मत का, जो सगुण भक्ति-धारा का मूल-स्रोत है, उद्‌गम ईसा से पाँच-सौ वर्ष पूर्व हो गया था। इसमें नारायण की भावना भागवत या पांचरात्र धर्म के रूप में की गई थी। आठवीं शताब्दी में शङ्कर के मायावाद से इसका संघर्ष हुआ। कालान्तर में यह रामानुजाचार्य के श्री सम्प्रदाय के रूप में विकसित हुआ। आगे चलकर निम्बार्क ने इसमें नारायण अथवा विष्णु के स्थान पर कृष्ण की आराधना को अधिक महत्त्व दिया। तदनन्तर मध्वाचार्य ने इस भावना को और विकसित किया। दूसरी ओर रामानन्द ने विष्णु के स्थान पर राम की उपासना पर अधिक बल दिया। सोलहवीं शताब्दी के लगभग बल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु ने राधा और कृष्ण का प्रेम-प्रधान निरूपण कर उनके सौन्दर्य-पक्ष को अधिक महत्त्व-शाली रूप में प्रतिपादित किया। दूसरी तरफ रामानन्द ने राम के शील, शक्ति और सौन्दर्य समन्वित रूप का प्रचार कर लोकहित की भावना को पुष्ट किया। इस प्रकार विभिन्न रूपों वाली यह भक्ति-धारा जीवन के मधुर लोकरंजक तथा लोक-कल्याण परक रूप में प्रवाहित होने लगी।

ईश्वर का धर्म-स्वरूप विग्रह

आचार्य शुक्ल के मतानुसार—सगुण भक्ति के सम्यक् प्रसार का दृढ़ आधार रामानुजाचार्य द्वारा स्थापित विशिष्टाद्वैत का सिद्धान्त था। इसके अनुसार सम्पूर्ण जगत के प्राणी चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म के अंश से उत्पन्न होकर उसी में लीन हो जाते हैं। उसी अंशी के सामीप्य लाभ द्वारा प्राणी का उद्धार हो सकता है। अंशी अर्थात् ब्रह्म का सामीप्य प्राप्त करने के लिए ही सगुण भक्ति-धारा का प्रवाह चला। निर्गुण की प्रतिद्वन्द्विता में सगुण धारा जो इतना अधिक प्रचार पा सकी, उसके कई कारण थे। कबीर में भक्ति और योग का योग तो था; परन्तु कर्म का नहीं था। कबीर के ईश्वर ज्ञान-स्वरूप और प्रेम-स्वरूप ही रहे, वे धर्म स्वरूप नही बन सके। साथ ही कबीर में हल्का-सा इस्लामी प्रभाव का भी पुट रहने से एक विचित्रता आ गई थी, जो परम्परागत हिन्दू भक्ति-पद्धति से भिन्न-सी प्रतीत होती है। सांस्कृतिक-परम्परा की दृष्टि से जायसी मुसलमान होने के कारण भारत की अपेक्षा फारस के अधिक निकट थे। सूफी-काव्य भारतीय होते हुए भी अपने मूल सैद्धान्तिक रूप में विदेशी ही था। अकबर के

समय में मुस्लिम-शासकों में धार्मिक सहिष्णुता की भावना आ गई थी जिससे सामाजिक दशा में सुधार के साथ जनता के मनोबल में भी वृद्धि हुई। जनता एक ऐसे ईश्वर का स्वप्न देखने को उत्सुक थी जिसे वह अपने दुःख-सुख में अपना अभिन्न साथी और शक्तिशाली रक्षक के रूप में स्वीकार कर सके। इसी कारण जब रामोपासक सगुण भक्ति-धारा में ईश्वर के धर्म-स्वरूप की अभिव्यक्ति लोक-रंजन एवं लोक-रक्षक की भावना को लेकर हुई तो जनता ने उसे ललक कर अपना लिया। इस भक्ति-भावना के दो रूप रहे। कृष्ण-भक्ति में केवल प्रेम-स्वरूप भगवान् की आराधना की गई; उसमें भगवान का लोक-रक्षक रूप अधिक नहीं उभर पाया। उसमें प्रेमलक्षणा-भक्ति का प्राधान्य था। दूसरी धारा राम-भक्ति की थी। लोक-कल्याण की दृष्टि से राम-भक्ति धारा की भक्ति ही सर्वाङ्गपूर्ण रही। उसमें कृष्ण-भक्ति की सी शृंगारिक विलासिता के लिए स्थान नहीं था। साथ ही, उसमें कर्म एवं ज्ञान का पूर्ण सामंजस्य रहा। वह शक्ति, शील और सौन्दर्य का समुच्चय रूप थी। कर्म उसका प्रधान लक्षण था।

रामानन्द : भक्ति के जनवादी रूप के स्थापक

राम-भक्ति धारा की व्यापकता का एक दूसरा कारण और था। राम-भक्ति के आदि प्रवर्तक रामानुजाचार्य ने केवल द्विजों को ही धार्मिक दीक्षा का अधिकार दिया था। उनके पश्चात् उनके उत्तराधिकारी राघवानन्द की मृत्यु के उपरान्त दक्षिण से भक्ति का प्रवाह उत्तर की ओर प्रवाहित हुआ। रामानन्द ने अध्यात्म-रामायण का प्रचार किया। इनके भक्ति-मार्ग में रामानुजाचार्य की सी साम्प्रदायिक संकीर्णता न होकर उदारता अधिक थी। रामानन्द ने सबके लिए भक्ति का द्वार उन्मुक्त कर दिया। स्त्री भी भक्ति की अधिकारिणी मानी गई। उपासना में जाति-भेद को दूर कर दिया गया। इस उदारता से सामान्य जनता इस धारा के प्रति अधिक आकर्षित हुई। जनता ने भक्ति के इस जनवादी रूप को अपने लिए ग्रहणीय और कल्याणकारी समझ अपना लिया।

सिद्धान्त

सगुण भक्ति-धारा की अत्यधिक लोकप्रियता के यही प्रधान कारण माने गये हैं। सगुण भक्ति-धारा के सिद्धान्त इस प्रकार हैं—

(१) **सगुणोपासना**—ब्रह्म के दोनों रूपों में से सगुण की अपेक्षा निर्गुण

रूप अधिक दुर्लभ है। इसीलिए सगुण भगवान् के सुगम, फिर भी अगम, चरित्र को सुनकर भक्त लोग उसमें अनुरक्त होते हैं।

(२) **अवतार**— भगवान भक्तों के कल्याणार्थ अवतार धारण करते हैं। अवतार का मुख्य हेतु भक्तों के लिए लीला का विस्तार करना और उन्हें अपनी भक्ति प्रदान करना है। यह भक्ति का नया रूप था, जो गीता से भिन्न था।

(३) **भक्ति का स्वरूप**—भक्ति के दो रूप हैं—**रागानुगा** और **वैधी**। रागानुगा भक्ति में तन्मयता का आधिक्य है। वह एकान्तिक भक्ति है। वैधी भक्ति में प्रारम्भ से अन्त तक विधि-नियमों का पालन करना पड़ता है।

(४) **भगवान् का स्वरूप**—भगवान के तीन रूप हैं—क्षमाशील, शरणागतवत्सल और करुणायतन। इन्हीं तीन रूपों में भगवान् भक्त के करोड़ों पातकों को क्षमा करके उसे मोक्ष प्रदान करते हैं।

(५) **भगवान् की लीला**—भगवान् की माधुरी चार प्रकार की है—ऐश्वर्य माधुरी, क्रीड़ा-माधुरी वेणु-माधुरी और विग्रह-माधुरी। कृष्ण-भक्तों ने वेणु-माधुरी और गोपी-लीला के रूप में क्रीड़ा-माधुरी को अपनाया है। राम-भक्तों ने प्रमुख रूप से ऐश्वर्य-माधुरी की उपासना की है।

(६) **मोक्ष**—सगुण भक्तों की भक्ति का परम लक्ष्य—मोक्ष है। भक्त भगवान में लीन होकर अन्त में मोक्ष की प्राप्ति करते हैं; परन्तु स्वयं भक्ति के सम्मुख मोक्ष की भी कामना नहीं करते। उन्हें एकमात्र भगवान् की सतत भक्ति ही काम्य है। भगवान् उन्हें मोक्ष प्रदान करें, या न करें इसकी उन्हें कोई चिन्ता या कामना नहीं होती।

विशेषताएँ

(१) वैष्णव धर्म के आदर्शों को सामने रखकर विष्णु के दो रूप—राम और कृष्ण की क्रमशः दास्य-भाव और सख्य-भाव से उपासना की गई। (२) दोनों शाखाओं के भक्तों ने ज्ञान और कर्म से भक्ति को श्रेष्ठ ठहराया। (३) राम-काव्य में लोक-मर्यादा का विशेष ध्यान रखा गया। इसमें भगवान् के लोक-रक्षक और लोकरंजक दोनों स्वरूपों को अपनाया गया; परन्तु बल लोक-रक्षक रूप पर ही अधिक रहा। कृष्ण-काव्य में भगवान् के केवल लोक-रंजक रूप की ही स्थापना हुई, लोक-रक्षक रूप कम अपनाया गया। (४) राम काव्य में प्रबन्ध-काव्य और मुक्तक तथा कृष्ण-काव्य में केवल मुक्तकों की रचना

प्रश्न २—हिन्दी-साहित्य के आरम्भिक-काल की जो साहित्यिक सामग्री उपलब्ध है, उसका उल्लेख कीजिए और उसकी भाषा तथा शैली की समीक्षा कीजिए।

उत्तर—उपलब्ध सामग्री

सामान्यतया ग्यारहवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक के काल को 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' अथवा 'आरम्भिक काल' कहा जाता है। शुक्लजी ने इस काल की अपभ्रंश और देश-भाषा काव्य की निम्नलिखित बारह पुस्तकें विवेचन-योग्य समझी थीं—विजयपाल रासो, हम्मीर रासो, जयचन्द्र-प्रकाश, जयमयङ्क, जसचन्द्रिका, परमाल रासो (आल्हा का मूल रूप), खुसरो की पहेलियाँ और विद्यापति की पदावली। "इन्हीं बारह पुस्तकों की दृष्टि से आदिकाल का लक्ष्य-निरूपण और नामकरण हो सकता है। इनमें से अंतिम दो तथा बीसलदेव रासो को छोड़कर शेष सब ग्रन्थ वीरकथात्मक हैं। अतः आदिकाल का नाम 'वीरगाथा-काल' ही रखा जा सकता है।"

—शुक्लजी

ग्रन्थों की अप्रामाणिकता

इसके अतिरिक्त अपभ्रंश की कुछ पुस्तकें ऐसी हैं, जिन्हें साहित्यिक इतिहास में विवेच्य माना जा सकता है। 'संदेश-रासक' ऐसी ही सुन्दर रचना है। मिश्र-बन्धुओं ने 'सन्देश-रासक' जैसे अन्य ग्रन्थों को भी इस काल के अन्तर्गत माना है। परन्तु शुक्लजी उनमें से बहुत-सी पुस्तकों को विवेचन योग्य नहीं मानते, क्योंकि उनकी दृष्टि में उनमें से कुछ पीछे की रचनाएँ हैं, कुछ नोटिस मात्र हैं तथा कुछ जैन-धर्म के उपदेशों से सम्बन्ध रखती हैं। परन्तु नवीनतम शोधों से ज्ञात हुआ है कि शुक्ल जी द्वारा वर्णित उपर्युक्त बारह पुस्तकों में से कई पीछे की रचनाएँ हैं, कई के मूल रूप का ही निश्चय नहीं है, कई नोटिस मात्र हैं। अतः इन्हें भी आदिकाल के विवेचन का आधार नहीं माना जा सकता और अपभ्रंश की रचनाओं को तो हिन्दी-साहित्य का अंग माना ही नहीं जा सकता।

धार्मिक-काव्य की समस्या

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि जैन-धर्म-भावना से प्रेरित कई

रचनाएँ इतनी सरस हैं कि वे 'हम्मीर रासो' और 'विजयपाल रासो' के समान हिन्दी-इतिहास के लिए स्वीकार हो सकती हैं। धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश, यदि उनमें सरसता है, तो काव्यत्व के लिए बाधक नहीं समझी जानी चाहिए, इसलिए, स्वयंभू, चतुर्मुख, पुष्पदन्त और धनपाल जैसे अपभ्रंश के जैन कवियों की कृतियों की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। यदि धार्मिक दृष्टिकोण को हम काव्य के लिए बाधक मान लें तो हमें अपने भक्ति-साहित्य से भी हाथ धोना पड़ेगा। परन्तु साथ ही, हमें यह भी देखना चाहिए कि आलोच्य ग्रन्थों में साम्प्रदायिक या धार्मिक दृष्टिकोण की प्रधानता है या साहित्यिक दृष्टिकोण का निरूपण ! शुद्ध धार्मिक ग्रन्थों को साहित्य में स्थान नहीं दिया जा सकता। परन्तु काव्य सौन्दर्य से युक्त धार्मिक ग्रन्थ साहित्य के ही अंग माने जायेंगे। परन्तु असली समस्या तो यह है कि अपभ्रंश की रचनाओं को हिन्दी के अन्तर्गत कैसे स्वीकार कर लिया जाय ? उपर्युक्त सभी कवियों की रचनाएँ अपभ्रंश की ही रचनाएँ हैं ?

प्रामाणिकता की छानबीन

अब शुक्ल जी द्वारा उल्लिखित और स्वीकृत बारह रचनाओ की प्रामाणिकता की विवेचना कर ली जाय, क्योंकि इनमें से अनेक अप्रामाणिक सिद्ध हो चुकी हैं। दलपति विजय के 'खुमान रासो' में प्रतापसिंह तक का वर्णन देखकर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अनुमान कर लिया था कि इसका वर्तमान रूप "विक्रम की सत्तरहवीं शताब्दी में प्राप्त हुआ होगा।" यद्यपि उसकी मूल रचना उसी आरम्भिक युग में हुई थी। बाद में उसमें परिवर्द्धन होता रहा। इधर अगरचन्द नाहटा ने दलपति को परवर्ती कवि सिद्ध कर दिया है। मोतीलाल मेनारिया का मत है—"हिन्दी के विद्वानों ने इसका (दलपति का) मेवाड़ के रावल खुम्माण का समकालीन होना अनुमानित किया है, जो गलत है। वास्तव में इसका रचना-काल संवत् १७३० और १७६० के मध्य है।" इस प्रकार 'खुमान रासो' अठाहरवीं शताब्दी का ग्रन्थ प्रमाणित होता है। नरपति नाल्ह के 'बीसलदेव रासो' के विषय में भी सन्देह प्रकट किया है। मेनारिया जी ने नाल्ह को सोलहवीं शताब्दी का नरपति नामक कवि माना है। शुक्लजी को भी यह ग्रन्थ अधिक ग्रहणीय प्रतीत नहीं हुआ था। शार्ङ्गधर के 'हम्मीर रासो' को भी उनकी कृति नहीं माना जाता। 'प्राकृत-पैंगलम्' नामक ग्रह में शुक्लजी को कई पद मिले और उन्होंने उन्हें 'हमीर रासो' के पद

मान लिया। क्यों और कैसे माना, इसका कोई कारण उन्होंने नहीं बताया। परन्तु राहुल जी ने उन्हीं पदों को 'जज्वल' कवि लिखित माना है। पदों में स्पष्ट रूप से 'जज्वल भणई, अर्थात् 'जज्वल कहता है' की 'भणिति' है। द्विवेदी जी इस ग्रन्थ को नोटिस मात्र मानते हैं।

धार्मिक साहित्य की बहुलता

आरम्भिक-काल के राज्याश्रित कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा करते समय उसमें धार्मिक पुट अवश्य दिया है। चन्दवरदाई ने इसी कारण अपने ग्रन्थ में दशावतार-चरित का वर्णन किया है। कीर्तिलता के कवि विद्यापति ने भी इसका मोह नहीं छोड़ा है। उस युग में धार्मिक समझे जाने वाले साहित्य का संरक्षण अधिक सावधानी से किया जाता रहा था, इसलिए धर्म-ग्रन्थों की संख्या अधिक मिलती है। प्रायः इन धर्म-ग्रन्थों के आवरण में सुन्दर कवित्व का विकास हुआ है। तत्कालीन काव्य-रूपों और काव्य-विषयों के अध्ययन के लिए इनकी उपयोगिता असंदिग्ध है। राहुल जी ने स्वयम्भू कवि की रामायण को 'हिन्दी का सबसे पुराना और उत्तम काव्य' माना है। क्योंकि राहुल जी अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी में अन्तर नहीं मानते थे। अतः आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार, आरम्भिककाल की सामग्री में इन पुस्तकों की गणना अवश्य होनी चाहिए।

'वीरगाथा काल' शीर्षक का अनौचित्य

भट्ट केदार और मधुकर भट्ट कृत 'जयचन्द प्रकाश' और 'जयमयंक जसचन्द्रिका' नामक ग्रन्थ भी उपलब्ध नहीं हैं। केवल उनका उल्लेख सिंघायच दयालदास कृत 'राठोडाँरी ख्यात' में मिलता है। अतः ये दोनों भी नोटिस-मात्र हैं। जगनिक का 'आल्हखण्ड' भी मूल रूप में अप्राप्त है। चन्द्र का 'पृथ्वी-राज रासो' भी अपने मूल और मौलिक रूप में प्राप्त नहीं हो रहा है। इससे प्रमाणित होता है कि जिन ग्रन्थों के आधार पर शुक्लजी ने इस काल का नाम वीरगाथाकाल रखा था, उनमें से कुछ नोटिस मात्र हैं तथा कुछ या तो पीछे की रचनाएँ हैं या प्राचीन रचनाओं के परिवर्द्धित और विकृत रूप मात्र हैं। मेनारिया जी का मत है—"ये रासो ग्रन्थ, जिनको वीरगाथाएँ नाम दिया गया है और जिनके आधार पर वीरगाथा-काल की कल्पना की गई है, राजस्थान के किसी समय-विशेष की साहित्यिक प्रवृत्ति को भी सूचित नहीं करते, केवल चारण, भाट आदि कुछ वर्ग के लोगों की जन्मजात मनोवृत्ति को प्रकट करते

हैं। प्रभु-भक्ति का भाव इन जातियों के खून में है और ये ग्रन्थ उस भावना की अभिव्यक्ति करते हैं।" मेनारियाजी के इस कथन को अतिशयोक्तिपूर्ण ही माना जा सकता है।

ग्रन्थों का संरक्षण कैसे हुआ

हमारे आलोच्यकाल की पुस्तकें तीन प्रकार से सुरक्षित थीं—(१) राज्याश्रय पाकर और राजकीय पुस्तकालयों में सुरक्षित रहकर, (२) सुसंगठित धर्म, सम्प्रदाय का आश्रय पाकर और मठों, विहारों आदि के पुस्तकालयों में शरण पाकर, (३) जनता का प्रेम और प्रोत्साहन पाकर। अपभ्रंश तथा देशी भाषा की कुछ दूसरी जैन पुस्तकें साम्प्रदायिक भण्डारों में सुरक्षित हैं। कुछ पुस्तकें बौद्ध धर्म का आश्रय पाकर सुरक्षित रह गयी हैं। इसके अतिरिक्त योगियों के साहित्य का परिचय दो प्रकार से प्राप्त होता है—(१) सूफी कवियों की कथा में नाना प्रकार की सिद्धियों के वर्णन के रूप में, (२) सगुण या निर्गुण भक्त-कवियों की पुस्तकों में खण्डनों और प्रत्याख्यानों के विषय के रूप में। इसी कारण आरम्भिककालीन हिन्दी साहित्य विशेष सुरक्षित दशा में उपलब्ध नहीं है। "जिन पुस्तकों के आधार पर इस काल की भाषा प्रवृत्ति का कुछ आभास पाया जा सकता है, उनकी संख्या बहुत थोड़ी है। कुछ पुस्तकों की भाषा इतनी परिवर्तित हुई कि उनके विषय में कुछ भी विचार करना अनुचित मालूम पड़ता है।"

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

चार प्रकार की भाषाएँ और उनकी रचनाएँ : अपभ्रंश

भाषा की दृष्टि से आदिकाल में चार भाषाओं की रचनाएँ मिलती हैं—अपभ्रंश, डिंगल, मैथिली और खड़ीबोली। अपभ्रंश का सबसे प्राचीन रूप तान्त्रिक और ज्ञानमार्गी बौद्धों तथा जैनाचार्यों की रचनाओं में प्राप्त होता है। जैन आचार्य मेरुतुङ्ग, सोमप्रभु सूरि आदि के कुछ ग्रन्थ ऐसे मिलते हैं, जो बौद्ध ग्रन्थों से उच्चकोटि के हैं। नाथ-पंथियों ने भी अपने मत के प्रचार के लिए राजस्थान तथा पंजाब की प्रचलित भाषाओं में अनेक ग्रन्थ लिखे थे। इनकी भाषा में अपभ्रंश, राजस्थानी तथा खड़ीबोली का मिश्रण है। विद्यापति ने भी अपभ्रंश में दो छोटे-छोटे ग्रन्थों—'कीर्त्तिलता' और 'कीर्तिपताका' का निर्माण किया था। यह अपभ्रंश उस समय के कवियों की भाषा थी। उन कवियों ने काव्य-परम्परा के अनुसार साहित्यिक प्राकृत के पुराने शब्द तो ले ही लिये हैं, साथ ही विभक्तियाँ, कारक-चिह्न और क्रियाओं के रूप भी कई सौ वर्ष पुराने

रखे हैं। सिद्धों की कृतियों में देश-भाषा मिश्रित अपभ्रंश का रूप मिलता है। उसमें कुछ अरबी शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। पुरानी हिन्दी की व्यापक काव्य-भाषा का ढाँचा—अपभ्रंश, ब्रज और खड़ीबोली के मिश्रित रूप वाला था। हिन्दी जन-सामान्य की बोलचाल की भाषा थी जो धीरे-धीरे साहित्य में प्रयुक्त होने लगी थी। भाषा की दृष्टि से जैन साहित्य में नागर अपभ्रंश का प्रभाव अधिक मिलता है। इसमें चरित रासक, चतुष्पदी, दोहा आदि छन्दों का प्रयोग अधिक हुआ है।

डिंगल

दूसरी महत्त्वपूर्ण भाषा राजस्थानी अथवा डिंगल है। इसके ग्रन्थों का उल्लेख, जो प्रायः सभी 'रासो' हैं, पहले ही चुका है। भाषा की दृष्टि से डिंगल-साहित्य किंचित् अव्यवस्थित है। उसका शुद्ध रूप नहीं मिलता। उसमें पिंगल का मिश्रण है। अपभ्रंश के प्रभाव के कारण उसमें संयुक्ताक्षरों और अनुस्वारान्त शब्दों की प्रचुरता है। अरबी-फारसी के प्रयुक्त दस प्रतिशत शब्दों पर डिंगल की विभक्तियों का प्रभाव है। संयुक्ताक्षरों और अनुस्वारों की अधिकता भाषा की कृत्रिमता की द्योतक है।

मैथिली और खड़ीबोली

तीसरी भाषा मैथली है। मैथिली बिहार की बोली होने पर भी हिन्दी की विभाषा मानी जाती है, क्योंकि इसकी प्रकृति हिन्दी से बहुत मिलती है। इसी कारण मैथिली भाषा में लिखी गई विद्यापति की पदावली हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि मान ली गई है। मैथिली और अवधी पड़ौसी बोलियाँ हैं। सम्भवतः उनके आरम्भिक रूप में कोई बड़ा भेद न था। चौथी भाषा अमीर खुसरो की रचनाओं में मिलती है, जिसे आजकल खड़ीबोली हिन्दी कहा जाता है। उस समय वह हिन्दी या हिन्दवी कहलाती थी और नागरिक-समाज की सामान्य बोलचाल की भाषा थी। तत्कालीन इसी जन-भाषा के वास्तविक रूप का दर्शन खुसरो की पहेलियों और मुकरियों में मिलता है। कहा जाता है कि अपने मूल रूप में यह दिल्ली और मेरठ की भाषा थी। इसमें खड़ीबोली के बोलचाल वाले रूप के दर्शन होते हैं। इस भाषा में अरबी-फारसी के शब्दों का भी प्रयोग होता है, पर क्रियाएँ हिन्दी की हैं, परन्तु खुसरो की भाषा का यही मूल रूप था, यह संदिग्ध है। कुछ लोग तो उसे अप्रामाणिक मानते हैं।

भाषा निर्माण का युग

उस काल में प्रधानता पद्य की ही थी। गद्य के दर्शन गोरखनाथ की कुछ पुस्तकों, तत्कालीन राजाओं के पत्र, ताम्रपत्र, शिलालेख आदि में होते हैं। गद्य का यह रूप अत्यन्त अव्यवस्थित है। वह काल भाषा का संक्रान्ति-काल था। अपभ्रंश की साहित्यिक परम्परा का आधार ग्रहण कर हिन्दी अपना रूप सुधार साहित्य में प्रवेश कर रही थी। व्याकरण और पिंगल-शास्त्र से उनका अधिक सम्बन्ध नहीं था। भाषा में मनमानी चल रही थी। उसके छन्दों में एक प्रकार का बन्धन रहित मुक्त प्रवाह मिलता है। न तो उनमें अन्त्यानुप्रास का ही प्रबन्ध है और न संस्कृत के वर्ण-वृत्तों की सी कठोरता है। भाषा के निर्माण युग में उसकी यही स्थिति रहती है। उस समय हिन्दी-भाषा साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश कर अपने स्वरूप का निर्धारण कर रही थी। इसी कारण उसके व्याकरण और छन्दशास्त्र की रचना नहीं हो पाई थी। उसका रूप अव्यवस्थित परन्तु विकासशील था।

प्रश्न ३—आरम्भिक काल अथवा वीरगाथा काल की परिस्थितियों एवं प्रमुख विशेषताओं का विवेचन कीजिए।

उत्तर—दो प्रकार की रचनाएँ

आरम्भिक-काल अथवा वीरगाथा-काल ग्यारहवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक माना जाता है। इस काल का लोक-भाषा में लिखित जो साहित्य उपलब्ध है, उसमें परिनिष्ठित अपभ्रंश से कुछ आगे विकसित भाषा का रूप मिलता है। छन्द, काव्य-रूप, काव्यगत रूढ़ियों और विषयों की दृष्टि से भाषा रूप में थोड़ी-सी भिन्नता लिये हुए यह अपभ्रंश का ही विकसित और जनवादी रूप प्रतीत होता है क्योंकि अपभ्रंश विकास करती हुई लोक-भाषा के काफी नजदीक आती जा रही थी। इस काल की दो प्रकार की रचनाएँ प्राप्त हुई हैं—जैन भण्डारों में सुरक्षित परिनिष्ठित साहित्यिक अपभ्रंश की रचनाएँ तथा लोक-परम्परा में बहती हुई लोक-भाषा की रचनाएँ। प्रथम श्रेणी में हेमचन्द्र का 'व्याकरण', मेरुतुंग का 'प्रबन्ध-चिन्तामणि', राजशेखर का 'प्रबन्ध-कोष', अब्दुर्रहमान का 'सन्देश रासक' तथा लक्ष्मीधर के 'प्राकृत-पैंगलम्' में संगृहीत लोक-भाषा के छन्द आदि हैं। ये सभी प्रामाणिक रचनाएँ हैं। दूसरी श्रेणी में रासो ग्रन्थ हैं, जिनका मूल रूप परिवर्तित और विकृत रूप में उपलब्ध है। ये संदिग्ध रचनाएँ हैं। मूल मध्य-देश में चौदहवीं शताब्दी से पूर्व की एक

भी प्रामाणिक रचना प्राप्त नहीं हुई है। राजस्थान के 'ढोलामारूरा दोहा' जैसे प्रसिद्ध काव्यों की प्रामाणिकता भी संदिग्ध है। मूल मध्य-देश में प्रामाणिक रचनाओं के अभाव का क्या कारण रहा है, इस पर हमें विचार करना पड़ेगा।

प्रामाणिक रचनाओं के अभाव का कारण

आरम्भिक-काल भारत के इतिहास का वह काल था, जब उत्तर भारत पर निरन्तर मुसलमानों के आक्रमण हो रहे थे। इनका वेग पश्चिमी और मध्य भारत को ही सहना पड़ा जो उस समय भारतीय शासन और सभ्यता का केन्द्र था। दिल्ली, कन्नौज, अह्लवाड़ा और अजमेर राज्यों की प्रसिद्ध राजधानियाँ इसी क्षेत्र में अवस्थित थीं। वहाँ की भाषा ही उत्तर भारत की—मध्य देश की—शिष्ट भाषा समझी जाती थी। अतः वही काव्य की भाषा भी थी। सम्राट हर्षवर्धन की मृत्यु के उपरान्त भारत की केन्द्रीय राज-शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई थी। समस्त उत्तर-भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया था। इन खण्डित राज्यों में परस्पर युद्ध होते रहते थे। भारत पर मुसलमानों के आक्रमण होने आरम्भ हो गये थे। इधर पारस्परिक युद्ध और उधर मुसलमानों के आक्रमणों ने देश के इस भाग में एक अराजकता की स्थिति उत्पन्न कर दी थी। ऐसे ही वातावरण में हिन्दी-साहित्य का जन्म हुआ था। इस युद्ध के वातावरण में दरबारी कवियों का ध्यान अन्य प्रकार की कविताओं से हटकर वीरगाथाओं की ओर अधिक गया। इस घोर अशान्ति के युग में वीररसपूर्ण रचनाओं के होने की सम्भावना ही अधिक थी और साहित्य की सर्वतोमुखी उन्नति असम्भव थी। इसके अतिरिक्त रजवाड़ों के शक्तिहीन एवं नष्ट-भ्रष्ट हो जाने के कारण साहित्य का संरक्षण भी भली-भाँति नहीं हो पा रहा था।

राजनैतिक संघर्ष के इस काल में सामाजिक परिस्थिति भी अत्यन्त चिन्तनीय हो गई थी। मध्य-देश में चलते रहने वाले—"गृह-कलह ने थोथे शौर्य की भावना उत्पन्न कर दी थी, जिसका प्रदर्शन पारस्परिक आकरण युद्धों और स्वयंवरों में किया जाता था। साधारण जनता तो तत्कालीन नृपतियों को आत्म-समर्पण करती गई और अपरिणामदर्शी नृपतियों ने घर में ही वैर तथा फूट के बीज बोए, जिनका कटु फल देश तथा जाति को चिरकाल तक भोगना पड़ा।"—श्यामसुन्दरदास। ऐसे हलचल के युग में लोक-भाषा का साहित्य सुरक्षित न रह सका। उसका अधिकांश भाग लोक-मुख में ही जीवित रहा। बौद्ध और जैन रचनाएँ तो धर्म का सहारा पाकर सुरक्षित रह गईं, परन्तु

लोक-भाषा की रचनाएँ बनती रहीं और उचित संरक्षण के अभाव में परवर्ती काल में परिवर्द्धित और विस्तृत होती गयीं जिससे उनका मूल रूप विकृत हो गया। उनमें से बहुत-सी रचनाएँ नष्ट भी हो गयीं। मुस्लिम आक्रान्ताओं ने अनेक प्राचीन पुस्तकालयों को जलाकर हमारे प्राचीन साहित्य को बड़ी हानि पहुँचाई थी। और यदि राजस्थान के प्राचीन पुस्तकालयों में लोक-भाषा के साहित्य के कुछ ग्रन्थ सुरक्षित भी रह गए होंगे, तो अभी तक उन्हें खोजा नहीं जा सका है।

वीरगाथात्मक काव्य : चार प्रधान विशेषताएँ

उपर्युक्त परिस्थितियों से उद्भूत एवं विकसित आरम्भिक युगीन वीर गाथा-प्रधान साहित्य की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं, जिनमें प्रधान रूप से चार महत्त्वपूर्ण हैं—(१) प्रथम विशेषता—दरबारी-कवियों द्वारा अपने-अपने आश्रय-दाता राजाओं की प्रशंसा तथा व्यापक राष्ट्रीयता का अभाव। इस काल के कवियों की वाणी अपने आश्रयदाताओं के अतिशयोक्तिपूर्ण कीर्ति-कथन में कभी भी कुण्ठित नहीं हुई। देश की विषम स्थिति और भविष्य की ओर उनका ध्यान नहीं था। इसलिए उनमें एक व्यापक राष्ट्रीयता का अभाव रहा। (२) दूसरी विशेषता—युद्धों के सजीव एवं सुन्दर वर्णन। इनका युद्ध-वर्णन अत्यन्त मार्मिक और सजीव है। कर्कश-कठोर पदावली से युक्त, और भावों से ओत-प्रोत हिन्दी के आदि युग की यह कविता हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है। इसकी वीर वचनावली में शस्त्रों की झनकार-सी स्पष्ट सुनाई पड़ती है। हिन्दी के परवर्ती साहित्य में फिर ऐसी कविता के दर्शन नहीं हुए। (३) तीसरी विशेषता—वीर-रस के साथ शृंगार रस का सम्मिश्रण। कवियों ने तत्कालीन युद्धों के मूल में, सदैव किसी रमणी की कल्पना कर, अपने आश्रयदाताओं के शौर्य का वर्णन किया है। अतः युद्ध वर्णन के साथ-साथ रमणियों का रूप-वर्णन भी आवश्यक था इसलिए शृंगार और वीर रस का मिश्रण हुआ। इसके अतिरिक्त शान्ति के समय में वीरों के विलास प्रदर्शन में भी शृंगार का अत्यन्त सुन्दर वर्णन हुआ है। (४) चौथी विशेषता—ऐतिहासिकता की अपेक्षा कल्पना का प्राचुर्य। इन रचनाओं में पाई जाने वाली ऐतिहासिक असंगतियों का यह एक प्रधान कारण रहा है, जिनके कारण इनकी प्रामाणिकता संदिग्ध हो उठी है। कवियों ने अपने राजाओं का पूर्ववती और परवर्ती प्रसिद्ध वीरों से युद्ध होता दिखाया है, जो असम्भव है।

रस-निरूपण

अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा करने में इन कवियों ने इतिहास की अधिकांशतः अवहेलना की है। इन्होंने उनका शौर्य प्रदर्शित करने के लिए ऐसे ऐतिहासिक पुरुषों से उनका युद्ध कराया है जो उनके समकालीन नहीं थे। इससे अनेक ऐतिहासिक विवरणों का रूप विकृत और संदिग्ध हो उठा और ये रचनाएँ संदिग्ध मानी जाने लगीं। इन सभी रचनाओं में 'डिंगल' तथा साहित्यिक राजस्थानी मिश्रित व्रजभाषा 'पिंगल' का प्रयोग किया गया है। दूहा, पाघड़ी, कवित्त आदि डिंगल के छन्दों का विशेष प्रयोग हुआ है। रसों में वीर रस का प्राधान्य रहा है। वीर के साथ शृङ्गार के भी दर्शन होते हैं। शृङ्गार के दोनों पक्ष—संयोग और वियोग अपनाये गये हैं। युद्ध-वर्णन में अद्भुत, रौद्र और वीभत्स रसों का चित्रण है। नारियों के विलाप में करुण-रस है। इस प्रकार हास्य और शान्त रसों को छोड़कर अन्य सभी रसों का समावेश इस काल के काव्य में मिलता है।

इस काल की अधिकांश सामग्री संदिग्ध है। ग्रन्थों की मूल और प्राचीन प्रतियाँ अप्राप्त हैं। इस काल के ग्रन्थ या तो मौखिक रूप में मिलते हैं या केवल उनके निर्देश मात्र ही प्राप्त हुए हैं। राजस्थान की 'ख्यातों' में उनके विवरण से ही हम उनसे परिचित हो सके हैं। प्राप्त ग्रन्थ भी मूल रूप में नहीं मिलते। उनमें प्रक्षिप्त अंशों का बाहुल्य हो गया है। "इन ग्रन्थों का महत्त्व इतना ही है कि इन्होंने हमारे साहित्य के आदि भाग का निर्माण और भविष्य की रचनाओं के लिए मार्ग-निर्देशन किया है। यदि ये साहित्यिक सौंदर्य की दृष्टि से नहीं, तो भाषा-विकास की दृष्टि से तो अवश्य ही महत्त्व पूर्ण हैं।"

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

प्रश्न ४—डिंगल' से क्या तात्पर्य है। इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विद्वानों के मतों का दिग्दर्शन कराते हुए अपना मत प्रकट कीजिए। 'डिंगल' और 'पिंगल' का भेद एवं 'रासो' शब्द से क्या अभिप्राय है, यह भी स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—पश्चिमी राजस्थानी या मारवाड़ी भाषा के साहित्यिक रूप को 'डिंगल' कहते हैं। इस भाषा के लिए इस शब्द का व्यवहार लगभग उन्नीसवीं शताब्दी से होने लगा है। कुछ लोग 'डिंगल' को मारवाड़ी से भिन्न चारणों की एक अलग भाषा बताते हैं। यह विचार भ्रमपूर्ण है। "वस्तुतः डिंगल और मारवाड़ी में उतना ही अन्तर है जितना साहित्यिक हिन्दी और बोलचाल की

हिन्दी में है।" प्रश्न यह है कि इस भाषा का यह डिंगल नाम कैसे और क्यों पड़ा। इस विषय में विद्वानों के विभिन्न मत हैं—

नामकरण-सम्बन्धी विभिन्न मत

पहला मत—डा० टैसीटरी का मत है—"'डिंगल' शब्द का असली अर्थ अनियमित अथवा गँवारू था। व्रजभाषा परिमार्जित थी और साहित्य-शास्त्र के नियमों का अनुसरण करती थी। पर पिंगल इस सम्बन्ध में स्वतन्त्र थी। इसलिए इसका यह नाम पड़ा।" यह मत भ्रांत है, क्योंकि डिंगल पढ़े-लिखे चारणों की भाषा थी। उनकी कृतियों का राज-दरबार में सम्मान किया जाता था, इसलिए यह गँवारू नहीं हो सकती। डिंगल पर अनियमितता का आक्षेप भी भ्रम से रहित नहीं है, क्योंकि डिंगल-साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्याकरण की विशुद्धता के साथ-साथ छन्द, अलंकार आदि का इसमें पूर्ण ध्यान रखा जाता था। शब्दों की तोड़-मरोड़, व्रजभाषा की तुलना में अधिक अवश्य थी; परन्तु इससे इसे गँवारू भाषा की संज्ञा नहीं दी जा सकती। यह एक उन्नत साहित्यिक भाषा थी।

दूसरा मत—हरप्रसाद शास्त्री का कथन है—"प्रारम्भ में इसका नाम 'डगल' था' पर बाद में 'पिंगल' शब्द के साथ तुक मिलाने के लिए 'डिंगल' कर दिया गया। डिंगल किसी भाषा का नाम नहीं है, कविता-शैली का नाम है।" परन्तु जिस प्राचीन ग्रन्थ के आधार पर शास्त्री जी ने अपना यह मत निर्धारित किया है, वह सत्रहवीं शताब्दी की रचना है। उसमें ईश्वर की शक्तिमत्ता का वर्णन है। भाषा का उसमें कहीं नाम भी नहीं है। अतः 'डगल' से 'डिंगल' का कोई सम्बन्ध प्रमाणित नहीं होता। डिंगल मात्र एक काव्य-शैली न होकर एक बहुत उन्नत साहित्यिक भाषा थी। किसी समय यह सम्पूर्ण राजस्थान की साहित्यिक भाषा थी और इसका रूप पिंगल से भिन्न और स्वतन्त्र था। अतः यह मत भी भ्रमपूर्ण है।

तीसरा मत—गजराज ओझा का कथन है—'डिंगल' में 'ड' वर्ण बहुत प्रयुक्त होता है। 'ड' वर्ण की इस प्रधानता को ध्यान में रखकर ही पिंगल के नाम-साम्य पर इस भाषा का नाम डिंगल रखा गया है। जिस प्रकार बिहारी लकार प्रधान भाषा है, उसी तरह डिंगल भी डकार-प्रधान भाषा है।" ओझा जी की यह कल्पना और तर्क दोषपूर्ण और हास्यास्पद है। किसी वर्ण विशेष के आधिक्य से संसार की किसी भी भाषा का नामकरण कभी भी नहीं किया

गया। दूसरे, यह कहना भी अत्युक्तिपूर्ण है कि डिंगल में 'ड' वर्ण का प्राधान्य है। यह कहना भी कि 'पिंगल' शब्द के ध्वनि-साम्य पर 'डिंगल' नाम रखा गया, प्रमाणरहित और भ्रमपूर्ण है।

चौथा मत—पुरुषोत्तम स्वामी का मत है—"'डिंगल' शब्द 'डिम+गल' से बना है। डिम का अर्थ—डमरू की ध्वनि, और गल का अर्थ—गला होता है। डमरू की ध्वनि रणचण्डी का आह्वान करती है, शिव वीर रस के देवता हैं। गले से जो कविता निकल कर डिम-डिम की तरह वीरों के हृदय को उत्साह से भर दे, उसी को डिंगल कहते हैं। इस भाषा में इस तरह की कविता की प्रधानता है। इसलिए यह डिंगल नाम से प्रसिद्ध हुई है।" यह मत भी भ्रान्त है। न तो महादेव वीर रस के देवता हैं, और न डमरू की ध्वनि ही इतनी उत्साहवर्द्धक होती है। वीर रस के देवता इन्द्र हैं और इन्द्र और डमरू का कोई सम्बन्ध नहीं रहा। शिव रौद्र रस के देवता माने गये हैं। साथ ही, डमरू की ध्वनि की भाँति उत्साहवर्द्धक और गले से निकली हुई कविता का गठबन्धन तो और भी तर्कशून्य और हास्यास्पद है। न मालूम ऐसे विद्वान इतनी सारहीन कल्पना कैसे कर लेते हैं।

पाँचवाँ मत—उदयराज का कथन है—"डिंगल के कवि पिंगल को पाँगुली (पंगु) भाषा मानते हैं और पिंगल के मुकाबिले डिंगल को उड़ने वाली भाषा कहते हैं। डिंगल का व्याकरण, छन्द-शास्त्र आदि सुगम है। 'डगल' शब्द से, जो डिंगल भाषा की उक्त विशेषताओं का सूचक है, 'डिंगल' शब्द बना है। डग+पंख, ल=लगे हुए=पंखवाली, उड़ने वाली=स्वतन्त्रता से चलने वाली अर्थात् सुगमता से काम में आने वाली।" यह मत भी निराधार तर्कों पर आधारित है। डिंगल भाषा का व्याकरण और छन्दशास्त्र पिंगल की अपेक्षा अधिक जटिल है। उसमें छंदों की संख्या भी बहुत अधिक है। डिंगल में 'वयण-सगाई' नामक छन्द का नियम इतना कठोर और जटिल है कि पिंगल काव्य के सम्पूर्ण नियम-बन्धन भी उसकी तुलना में नहीं के बराबर हैं। अतः डिंगल समकालीन दूसरी काव्य-भाषा पिंगल से किसी रूप में सरल नहीं है, बल्कि डिंगल से पिंगल अधिक सरल है। 'डगल' शब्द से डिंगल की उत्पत्ति मानना भाषा-शास्त्र की दृष्टि से त्रुटिपूर्ण है। भाषा-शास्त्रानुसार किसी शब्द में मात्रा और अनुस्वार—दोनों की वृद्धि एक साथ नहीं होती। इसका लोप अवश्य होता है। अतः यह मत भी आधार-शून्य है।

छठा मत—डा० ग्रियर्सन और डा० श्यामसुन्दरदास का कथन है कि "जो लोग ब्रजभाषा में कविता करते थे, उनकी भाषा 'पिंगल' कहलाती थी। इनका अनुकरण करने के लिए मारवाड़ी भाषा का उसी ध्वनि पर गढ़ा हुआ 'डिंगल' नाम पड़ा है।" इस मत में भी कुछ सार नहीं है। इन मतों के अतिरिक्त राजस्थान में दो-एक मत और प्रचलित हैं। कुछ लोग इसे डिम+गल तथा कुछ डिग्गी+गल से और कुछ 'डांग' से बना हुआ बतलाते हैं। स्वर्गीय रामकरण जी आसोया और ठाकुर किशोरसिंह जी बारहठ ने इसकी उत्पत्ति क्रमशः 'डैगि' और 'डीङ' धातुओं से मानी है।

सातवाँ मत—श्री मोतीलाल मेनारिया का मत है कि—"यथार्थतः 'डिगल' शब्द 'डींगल' का परिवर्तित रूप है। अंग्रेज लेखकों ने 'डिगल' और 'डींगल' शब्दों में कोई भेद नहीं माना। पिंगल के अनुकरण पर डींगल को 'डिंगल' बोला जाने लगा, परन्तु राजस्थान के वृद्ध राजपूत चारण इसका उच्चारण 'डींगल' ही करते हैं। यह एक अनुकरणात्मक शब्द है जो शीतल, बोझिल, धूमिल आदि शब्दों के अनुकरण पर पिंगल साहित्य में पूर्णतः अत्युक्ति-पूर्ण वृत्तों को ध्यान में रखकर उसकी इस विशेषता के द्योतनार्थ गढ़ लिया गया है। इसकी उत्पत्ति 'डींग शब्द के साथ 'ल' प्रत्यय जोड़ने से हुई है और इसका अर्थ है —डींग से युक्त, अर्थात् अतिरंजनापूर्ण।" मेनारिया जी का यह मत अधिक तर्क-संगत प्रतीत होता है। चन्द्रबली पांडेय डिंगल को पिंगल के आधार पर रची हुई ठेठ रचना मानते हैं और पिंगल का अर्थ—ब्रजभाषा न मानकर काव्य-भाषा मानते हैं। पिंगल का दूसरा अर्थ—छन्दशास्त्र भी माना गया है।

श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी इस शब्द की उत्पत्ति पिंगल के साम्य से ही मानते हैं। उनके मतानुसार इस शब्द का कोई विशेष अर्थ नहीं है। उपर्युक्त विभिन्न मतों में दो प्रकार की प्रमुख प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। कुछ लोग 'डिंगल' शब्द को उपहास का आधार बनाकर इसे गँवारू भाषा मानते हैं तथा कुछ लोग इसका कोई सार्थक और महत्त्वपूर्ण अर्थ निकालने का प्रयत्न करते हैं। वस्तुतः यह एक समृद्ध साहित्यिक भाषा का नाम था। यह नाम क्यों और कैसे पड़ा, यह अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है।

पिंगल : डिंगल से भिन्न रूप

'पिंगल' शब्द का वास्तविक अर्थ 'छन्द-शास्त्र' है, परन्तु राजस्थान में

इससे ब्रजभाषा का भी अर्थ लिया जाता है। इधर कुछ वर्षों से 'पिंगल' से ब्रजभाषा का अर्थ न लेकर 'राजस्थानी-मिश्रित साहित्यिक ब्रजभाषा' से लिया जाता रहा है और ब्रजभाषा को शुद्ध ब्रजभाषा कहते हैं। प्राचीन काल में राजस्थान के पूर्वी भाग में यही साहित्य की भाषा थी। ब्रज का पड़ोस होने के कारण ही इस भाषा में ब्रजभाषा और जयपुर आदि के आस-पास की भाषा का मिश्रण हो गया था। इसमें राजस्थानी की कुछ विशेषताएँ देखकर कुछ लोग इसे भी डिंगल कह देते हैं; परन्तु वास्तव में पिंगल और डिंगल में बहुत अन्तर है। पिंगल एक मिश्रित भाषा है। इसमें दोनों भाषाओं—ब्रज और राजस्थानी की विशेषताएँ हैं; परन्तु डिंगल में केवल मारवाड़ी व्याकरण का ही अनुकरण किया जाता है। पिंगल में इन दो भाषाओं के मिश्रण का अनुपात कवि की इच्छा पर निर्भर करता है। किसी का झुकाव ब्रजभाषा की और अधिक रहता है और किसी का राजस्थानी की ओर; जैसे—'पृथ्वीराज रासो' में राजस्थानी की अपेक्षा ब्रजभाषा का प्रभाव अधिक है। सूर्यमल्ल के 'वंश-भास्कर' में राजस्थानी के प्रति अधिक झुकाव है। राजस्थान में पिंगल और डिंगल—दोनों भाषाओं में लगभग समान परिमाण में रचनाएँ हुई हैं। खुमान रासो, पृथ्वीराज रासो, हमीर रासो, अवतार चरित, रामविलास आदि ग्रन्थ पिंगल के हैं। डिंगल-साहित्य ख्यात, वात, विगत, पीढ़ी, वंशावली आदि रूपों में है।

'रासो' शब्द की व्युत्पत्ति

डिंगल' शब्द के समान ही 'रासो' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में भी विभिन्न मत हैं। फ्रांसीसी इतिहासकार गार्साद तासी इसकी उत्पत्ति 'राजसूय' शब्द से मानते हैं; परन्तु क्यों मानते हैं, इसके समर्थन में उनके पास कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है। आचार्य शुक्ल इसकी उत्पत्ति 'रसायण' शब्द से लेते हैं। नरपति नाल्ह की इस पंक्ति के आधार पर उन्होंने यही अर्थ निकाला है—"नाल्ह रसायण आरम्भई शारदा, तुठी ब्रह्मकुमारि।" कुछ विद्वान इसका सम्बन्ध 'रहस्य' से जोड़ते हैं। नरोत्तम स्वामी इसकी व्युत्पत्ति 'रसिक' से मानते हैं। प्राचीन राजस्थानी में 'रसिक' का अर्थ कथा-काव्य है। यही शब्द क्रमशः 'रासउ' और 'रासो' हो गया है। ब्रज प्रदेश में 'रासो' झगड़े के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है; जैसे—तैने कहा रासो रोपि राख्यौ है"—अर्थात् तूने क्या झगड़ा खड़ा कर रखा है? इन विभिन्न मतों से एक सामान्य ध्वनि यह

निकलती-सी प्रतीत होती है कि 'रासो' शब्द किसी ऐसी घटना के लिए प्रयुक्त होता चला आया है जो ऐतिहासिक महत्त्व रखती हो और जिसमें भव्यता हो तथा चमत्कार एवं शौर्य से ओतप्रोत कथा हो, परन्तु इन सब बातों के साथ जिसमें युद्ध द्वारा वीरत्व-प्रदर्शन की भावना प्रमुख हो। चन्द्रवली पांडेय 'रासो' शब्द की उत्पत्ति शुद्ध संस्कृत शब्द 'रासक' से मानते हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र में 'रासक' की गणना रूपक अथवा उपरूपक में हुई है। इसके लिए आपने 'पृथ्वीराज रासो' का हवाला देते हुए बताया है कि इसका आरम्भ नट-नटी की भाँति कवि चन्द्र और उनकी पत्नी के पारस्परिक वार्तालाप को लेकर हुआ है और आगे भी यह रूप बना रहा है। इससे यह सिद्ध होता है कि वस्तुतः 'पृथ्वीराज रासो' की रचना प्रदर्शन की दृष्टि से हुई थी और उसमें पृथ्वीराज की कीर्ति का कीर्त्तन भी इसी प्रकार किया गया था। पाण्डेय जी की इस उक्ति को भी अंशतः ठीक माना जा सकता है।

वस्तुतः 'रासो' शब्द अपभ्रंश का है। अपभ्रंश में 'रासा' अथवा 'रासक' शब्द कथा-काव्यों तथा चरित-काव्यों के लिए प्रयुक्त होते रहे थे। उन्हीं के आधार पर आरम्भिक हिन्दी के कथा काव्यों को 'रासो' कहा जाने लगा था। 'रासा', 'रासक' और 'रासो' समानार्थक शब्द हैं। अपभ्रंश के जैन साहित्य में अनेक रासक, रासा आदि चरित-काव्यों की रचना हुई थी। हमें वही परम्परा रासो-ग्रन्थों के रूप में हिन्दी में विकसित होती दिखाई देती है।

प्रश्न ५—'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता का विवेचन कीजिए।

उत्तर—'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता का प्रश्न हिन्दी-साहित्य का सबसे अधिक विवादग्रस्त विषय बना हुआ है। इसके विषय में विभिन्न उच्च-कोटि के विद्वानों के इतने मत प्राप्त हुए हैं कि उनसे हिन्दी-साहित्य के इतिहास का विद्यार्थी यह निश्चय नहीं कर पाता कि किस मत को सत्य और संगत माना जाय। अतः विवेचन की सुविधा के लिए विभिन्न आलोचकों के मतों की समानता के आधार पर उन्हें चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है, जो इस प्रकार हैं—

प्रामाणिकता-सम्बन्धी चार प्रकार के मत

प्रथम वर्ग—यह वर्ग रासो के वर्तमान रूप को **प्रामाणिक और राजा पृथ्वीराज चौहान की समकालीन रचना** मानता है। इस मत के पक्ष में श्याम सुन्दरदास, मथुराप्रसाद दीक्षित, पं० मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या, मिश्रबन्धु,

कर्नल टाड आदि हैं। इनमें से कुछ रासो में बहुत बड़ी संख्या में प्रक्षिप्त अंशों का होना भी मानते हैं।

द्वितीय वर्ग—यह वर्ग रासो को **सर्वथा अप्रामाणिक रचना** मानता है। यह वर्ग पृथ्वीराज के दरबार में चन्द कवि के अस्तित्व को तथा रासो को पृथ्वीराज की समकालीन रचना नहीं मानता। इस पक्ष के समर्थकों में कविराज श्यामलदास, कविराज मुरारिदीन, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, डॉ० बूलर, मॉरिसन, मुंशी देवीप्रसाद, डॉ० अमृतलाल शील तथा रामचन्द्र शुक्ल आदि प्रमुख हैं।

तृतीय वर्ग—यह वर्ग मानता है कि पृथ्वीराज के दरबार में चन्द नामक कवि था, जिसने रासो लिखा था, किन्तु वह अपने मूल रूप में अप्राप्य है। **आज उसका परिवर्तित एवं परिवर्द्धित रूप ही उपलब्ध है।** इस पक्ष के समर्थकों में डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी, मुनि जिनविजय, अगरचन्द नाहटा, डॉ० दशरथ शर्मा, कविराज मोहनसिंह, हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रमुख हैं।

चतुर्थ वर्ग—यह वर्ग मानता है कि **चन्द्र पृथ्वीराज का समकालीन था,** परन्तु उसने प्रबन्ध रूप में रासो की रचना नहीं की थी। यह पक्ष जैन ग्रन्थ-माला में प्राप्त उसके पदों को उसकी **फुटकर रचना** मानता है। नरोत्तम स्वामी का यही मत है।

प्रामाणिकता-सम्बन्धी विवाद का आरम्भ

रासो की अप्रामाणिकता की बात सबसे पहले कविराज श्यामलदास ने उठाई थी। इस पर पांड्या जी ने रासो का पक्ष ग्रहण किया। आगे चलकर प्रसिद्ध इतिहासकार ओझा जी ने पुष्ट प्रमाणों के आधार पर रासो को जाली ग्रन्थ घोषित किया। कुछ वर्ष हुए जिनविजय जी को 'पुरातन प्रबन्ध-संग्रह' में अपभ्रंश भाषा में लिखित चन्दवरदाई के चार छन्द मिले थे। ये छन्द रासो की अनेक प्रतियों में भी मिलते हैं। इससे अनुमान लगाया गया कि रासो पूर्णतः जाली नहीं है। अब तक रासो का वृहद् रूप ही प्राप्त था; परन्तु अब उसकी दो लघुत्तम प्रतियाँ भी मिली हैं, जिनके आधार पर पं० मथुराप्रसाद दीक्षित और दशरथ शर्मा ने रासो को प्रामाणिक ग्रन्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। आजकल अधिकांश विद्वानों का मत यही है कि रासो चन्दवरदाई द्वारा उसी युग में या उसके आसपास लिखा अवश्य गया था; परन्तु वीर रस पूर्ण एवं श्रव्य-काव्य होने से उसके वर्तमान रूप में बहुत परिवर्तन हो गया है।

दो कारण

रासो को अप्रामाणिक मानने के दो कारण रहे हैं—**घटना-वैषम्य** और **काल-वैषम्य**। और इन दोनों का ही सम्बन्ध इतिहास-सम्बन्धी अनेक भ्रान्तियों से रहा है, जिनका उद्घाटन अनेक शिलालेख, ताम्रपत्र और 'पृथ्वीराज विजय' नामक ग्रन्थ के आधार पर किया गया है। जब 'रॉयल एशियाटिक सोसायटी, बंगाल' पृथ्वीराज रासो का प्रकाशन कर रही थी, तभी उसके सम्पादक डॉ० बूलर को कश्मीर के जयानक कवि रचित 'पृथ्वीराज-विजय' नामक ग्रन्थ की एक खंडित प्रति मिली। उसका अध्ययन करने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि उसमें वर्णित अधिकांश घटनाएँ, ऐतिहासिक दृष्टि से, 'पृथ्वीराज। रासो' की अपेक्षा अधिक शुद्ध हैं। अतः उन्होंने रासो का प्रकाशन रुकवा दिया इसी बात को लेकर विद्वानों में हलचल मच गई और रासो की ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचना आरम्भ हो गई। इससे पूर्व कर्नल टॉड ने रासो को ऐतिहासिक दृष्टि से शुद्ध मानकर, उसने आधार पर राजस्थान का इतिहास लिख डाला था। **घटना-वैषम्य** के प्रधान कारण यही रहे हैं कि रासो में दिये गये अधिकांश नाम और घटनाएँ इतिहास-सम्मत प्रमाणित नहीं होतीं। रासो में परमार, चालुक्य और चौहान अग्निवंशी माने गये हैं, परन्तु प्राचीन ग्रन्थों एवं शिलालेखों के आधार पर वे सूर्यवंशी प्रमाणित होते हैं। साथ ही, चौहानों की वंशावली, पृथ्वीराज की माता का नाम, माता का वंश; पुत्र का नाम, सामन्तों के नाम आदि भी ऐतिहासिक शिलालेखों एवं 'पृथ्वीराज विजय' से भिन्न और अशुद्ध हैं। पृथ्वीराज की माता अनंगपाल की पुत्री नहीं थी और न कन्नौज-नरेश जयचन्द ही अनंगपाल का दौहित्र तथा राठौर-वंशीय था। शिलालेखों में जयचन्द को सर्वत्र गहरवार क्षत्रिय बताया गया है। भारतीय इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान ओझाजी पृथ्वीराज और जयचन्द की शत्रुता एवं संयोगिता-स्वयंवर को भी कपोल-कल्पित मानते हैं। इतिहास के अनुसार न तो पृथ्वीराज की माता का नाम कमला था और न उस समय अनंगपाल दिल्ली का राजा ही था। पृथ्वीराज की बहिन पृथा का विवाह मेवाड़ के राजा समरसिंह के साथ भी नहीं हुआ था, क्योंकि शिलालेखों से ये प्रमाण मिल चुके हैं कि समरसिंह पृथ्वीराज के उपरान्त १०६ वर्ष तक जीवित रहे। गुजरात के राजा भीम चालुक्य का वध पृथ्वीराज द्वारा होना भी गलत है, क्योंकि राजा भीम के एक दानपत्र से यह सिद्ध होता है कि वह पृथ्वीराज की मृत्यु के उपरान्त ५० वर्ष

हुई। (५) दोनों ने ही ज्ञानमार्गी और प्रेममार्गी कवियों की रहस्य-भावना और अटपटी वाणी को स्थान न देकर वेद-शास्त्र-सम्मत साधना-मार्ग को श्रेयस्कर समझा। (६) अपने कर्मों और गुणों की अपेक्षा भगवान् की कृपा को अधिक महत्त्व दिया। (७) साहित्यिक और परमार्जित भाषा का प्रयोग हुआ। राम-काव्य में व्रजभाषा और अवधी—दोनों भाषाओं का तथा कृष्ण काव्य में केवल व्रजभाषा को अपनाया गया। (८) विविध प्रकार की रचना शैलियों का प्रयोग हुआ। भाषा, छन्द, अलंकार, भाव, कल्पना, अनुभूति आदि की दृष्टि से सगुण भक्ति-काव्य हिन्दी-साहित्य का सबसे विस्तृत और समृद्ध काव्य माना जाता है। (९) दोनों ही धाराओं में गुरु के महत्त्व को स्वीकार किया गया है—राम-काव्य में स्पष्ट रूप से और कृष्ण-काव्य में प्रच्छन्न रूप से। संक्षेप में, सगुण-भक्ति-धारा की यही विशेषताएँ हैं।

राम-काव्य और कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन

राम-काव्य	कृष्ण-काव्य
१—मुख्य प्रवर्त्तक—रामानुजाचार्य, पश्चात् रामानन्द।	१—मुख्य प्रवर्त्तक—वल्लभाचार्य।
२—दास्य-भाव की उपासना।	२—माधुर्य एवं सख्य-भाव की उपासना।
३—भगवान् के लोक-रक्षक और लोक-रंजक—दोनों रूप।	३—लोक-रंजक रूप प्रधान।
४—साधनावस्था को मान्यता—प्रयत्न-पक्ष प्रधान।	४—सिद्धावस्था को मान्यता।
५—प्रबन्ध और मुक्तक रचनाएँ।	५—केवल मुक्तक रचनाएँ।
६—उद्गम स्थान—रामायण, रघुवंश उत्तररामचरित, हनुमन्नाटक आदि।	६—उद्गम स्थान—मूल स्रोत भागवत।
७—मर्यादावादी—शास्त्रीय मर्यादा का प्राधान्य।	७—स्वच्छन्द प्रेम-प्रधान, अतः मर्यादा की अवहेलना।
८—विधि नियमों का पालन।	८—प्रेम के आगे विधि नियमों की अवहेलना।

९—काव्य में गाम्भीर्य—हास्य का अभाव।	९—व्यंग्यात्मक काव्य—उपालम्भ की प्रधानता।
१०—ब्रज और अवधी दोनों भाषाएँ।	१०—केवल ब्रजभाषा।
११—अनेक शैलियों का प्रयोग, संगीत का समावेश।	११—अधिकतर पदों की शैली का प्रयोग—संगीत का प्राधान्य।
१२—लोक जीवन के समानान्तर।	१२—लोक-जीवन के प्रति बाह्य तटस्थता की-सी भावना।

प्रश्न १०—राम-भक्ति का उद्भव और विकास दिखाते हुए उन कारणों पर प्रकाश डालिए जिनके कारण राम-साहित्य का आगे विकास न हो सका।

उत्तर—रामभक्ति का महत्त्व

वैष्णव भक्ति में रामोपासना का अस्तित्व कृष्णोपासना से अधिक प्राचीन माना जाता है। यद्यपि रामानुजाचार्य के 'श्री-सम्प्रदाय' में राम को नारायण और विष्णु के रूप में माना जाता है, परन्तु राम-भक्ति के वास्तविक प्रवर्त्तक रामानन्द ही माने जाते हैं। उन्होंने लोक-मर्यादानुकूल सदाचार-मूलक राम-भक्ति का प्रचार किया था। कृष्णोपासकों में अति मानवी विषयों का आधिक्य था; क्योंकि कृष्ण का चरित्र अलौकिकताओं से परिपूर्ण है। रामचरित्र में मर्यादा का प्राधान्य था, अतः रामोपासक राम के मर्यादा पुरुषोत्तम आदर्श रूप को ग्रहण कर उनका अनुकरण कर सकते थे। इसलिए रामभक्ति का प्रचार अधिक हुआ। इसका एक कारण यह भी था कि दुखी-त्रस्त जनता को राम अपने और धर्म के रक्षक प्रतीत हुए थे, इसीलिए उन्हें अधिक जन-स्वीकृति प्राप्त हुई।

राम : सगुण-निर्गुण मिश्रित रूप

रामानन्द के समकालीन महाराष्ट्रीय सन्त नामदेव और त्रिलोचन ने महाराष्ट्र में रामोपासना का प्रचार किया। उत्तर भारत में यह कार्य तुलसी से पूर्व सदन और बेनी ने किया था। रामानन्द राम के सगुण रूप के उपासक थे। वे राम को विष्णु का अवतार न मानकर परात्पर ब्रह्म का अवतार मानते थे। इसी से उनकी उपासना में निर्गुण ब्रह्म का भी कुछ अंश आ गया था। रामानन्द द्वारा प्रचारित रामभक्ति ने दो रूपों में अपने को प्रकट किया। निर्गुण मार्ग के रूप में उसका विकास कबीर, दादू आदि निर्गुण-परम्परा के भक्तों में हुआ। निर्गुणमार्गी अवतारों में विश्वास नहीं करते, इसलिए उनके राम

दशरथ-सुत नहीं हो सकते, किन्तु सगुणमार्गी अवतारों में पूर्ण आस्था रखते थे, इसलिए उनके राम 'दशरथ अजिर बिहारी' नर-रूपधारी दशरथ-सुत थे। यही कबीर और तुलसी के दृष्टिकोणों में प्रधान भेद था। अपने आराध्य की लीला में दोनों का ही विश्वास था, किन्तु निर्गुणमार्गी भक्ति के लिए सम्पूर्ण दिग्देशकाल उस लीला की भूमि था, जबकि सगुणमार्गी भक्तों के लिए लीला का अर्थ था—नर-रूप में अवतरित भगवान् की जीवन-चर्या। इस प्रकार रामानन्द के दोनों प्रकार के अनुयायियों ने 'राम नाम' के रूप में उनसे एक सर्वमान्य तत्त्व ग्रहण किया; परन्तु 'राम नाम' के बारे में दोनों मतों में मतभेद रहा। कबीर ने कहा था—"दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना। राम नाम को मरम है आना।" तुलसी ने इसका उत्तर देते हुए कहा था—

"जेहि इमि गावहिं बेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दशरथ सुत भगत हित, कौसलपति भगवान॥"

रामभक्त कवि

रामानन्द की लोक-सत्ता की भावना का सच्चा संगठन केवल तुलसीदास ने किया। इसी से आज हिन्दू-धर्म को तुलसी का हिन्दू-धर्म कहा जाता है। राम-भक्ति शाखा के दूसरे कवि कृष्णदास पयहारी के शिष्य अग्रदास हुए; परन्तु इनकी काव्य-कला का अधिक विकास नहीं हुआ। अग्रदास के शिष्य नाभादास भक्त और सन्त थे। 'भक्तमाल' के अतिरिक्त उनकी एक अन्य पुस्तक राम-भक्ति पर भी मिलती है। भक्तमाल में भक्तों का गुणगान किया गया है। नाभादास के उपरान्त प्राणचन्द चौहान और हृदयराम ने नाटकों की शैली में रामकथा का वर्णन किया। इनके रचे हुए ग्रंथ क्रमशः 'रामायण' और 'हनुमन्नाटक' हैं। इनमें हृदयराम की रचना अधिक प्रौढ़ है। कुछ विद्वान केशव की 'रामचन्द्रका' की गणना भी इसी धारा के अन्तर्गत करते हैं; परन्तु अनेक विद्वान उन्हें भक्त न मान केवल दरबारी वातावरण में रहने वाला चमत्कार-प्रिय कवि मानते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य रामभक्त कवियों में लालदास, प्रियादास, कलानिधि, महाराज विश्वनाथ, महाराजसिंह आदि प्रसिद्ध हैं। आधुनिक युग में आकर मैथलीशरण गुप्त ने 'साकेत', 'पंचवटी' आदि की तथा हरिऔध ने 'वैदेही वनवास' की रचना कर राम-काव्य की परम्परा को अक्षुण्ण बनाए रखने का प्रयत्न किया।

विकास न होने के कारण

राम-काव्य में लोक-धर्म के प्रति इतना व्यापक दृष्टिकोण रहते हुए भी उसका आगे विकास क्यों न हुआ, जबकि लोकधर्म से विमुख कृष्ण-काव्य इतना लोकप्रिय हुआ, यह एक आश्चर्य का विषय है। विद्वानों ने इसके कई कारण बताए हैं, जिसमें प्रधानता तत्कालीन परिस्थितियों की ही अधिक रही है। इसके मुख्य कारण निम्नलिखित हैं—

(१) **तत्कालीन परिस्थितियाँ**—राम-काव्य में भगवान् के लोक-रक्षक रूप को प्रधानता दी गई है और लोक-रंजक रूप को गौणता; परन्तु कृष्ण-भक्त और कृष्ण-काव्य के उन्मत्त गायक-कवि जयदेव, चण्डीदास और विद्यापति की माधुर्य-भाव-परम्परा से प्रभावित जनता भगवान् कृष्ण के मधुर रूप के प्रति अधिक आकृष्ट हो रही थी। उनके पश्चात् सूर आदि परवर्ती कृष्ण-भक्तों ने भगवान् के उस मधुर रूप को और अधिक मादक और आकर्षक बना दिया था। रीतिकालीन परिस्थितियों ने इस भावना को और प्रोत्साहित किया, फलस्वरूप जनता मर्यादावादी राम-काव्य को श्रद्धा की दृष्टि से तो देखने लगी; परन्तु उसके साथ तादात्म्य स्थापित करने में संकोच करती रही। यह काव्य जनता की स्वाभाविक चित्त-वृत्ति—माधुर्य भावना को सन्तोष देने में असमर्थ रहा। मानव-हृदय शृंगार में अधिक रमता है। इसलिए यदि उसे शृंगार के रूप में भक्ति का आधार मिल जाता है तो वह उसके प्रति अधिक आकर्षित होता है। श्रद्धा में हल्का-सा अलगाव का भाव रहता है और प्रेम में पूर्ण अपनत्व का। कृष्ण-भक्ति के अधिक प्रचार पाने का यही रहस्य था।

(२) **राम-काव्य की गम्भीरता और मर्यादा**—राम-भक्ति सम्बन्धी साहित्य सामाजिक मर्यादा के रक्षण का साहित्य है। इसमें सामाजिक विधि-निषेध की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। इसमें मर्यादाओं का ध्यान इतना अधिक रखा गया है कि आगे चलकर कम प्रतिभाशाली कवियों के हाथ में पड़कर वह ऊपरी स्तर की नैतिकता के रूप में प्रकट हुई। उसमें पद-पद पर यह चिन्ता है कि कहीं सामाजिक और पारिवारिक क्षेत्रों के जो ऊपरी विधान हैं, उनका रंचमात्र भी उल्लंघन न हो जाय। मर्यादा की इस गम्भीरता, गुरुता और नैतिकता के उच्च स्तर के कारण जनता से उसका तादात्म्य का सम्बन्ध टूट गया। वह मात्र श्रद्धा का पात्र रह गया। दूसरा कारण यह भी

है कि तुलसी के परवर्ती कवि तुलसी के समान राम के लोक-रक्षक और लोक-रंजक—दोनों स्वरूपों में समन्वय और सन्तुलन स्थापित करने में असमर्थ रहे। इसी गाम्भीर्य और मर्यादा के कारण यह काव्य जनता की श्रद्धा और भक्ति का विषय तो बना रहा, परन्तु आन्तरिक प्रेम का विषय नहीं बन सका। जनता ने राम को एक प्रजा-वत्सल कृपालु रक्षक के रूप में तो स्वीकार कर लिया, परन्तु अतिशय श्रद्धा-भाव के कारण उनके साथ पूर्ण तादात्म्य का अनुभव न कर सकी। आगे चलकर परवर्ती रामभक्त-कवियों ने कृष्ण के प्रेम-प्रधान क्रीड़ा-प्रिय विलासी रूप का अनुकरण करते हुए जब राम को भी कृष्ण के ही समान घोर विलासी रूप में प्रस्तुत करना आरम्भ कर दिया तो राम का लोक-रक्षक रूप पूर्णतः तिरोहित हो गया और समाज राम के इस नए रूप को अपनाने में संकोच करने लगा। क्योंकि इस नवीन प्रकार के राम-काव्य में प्रेम का वह उन्मुक्त और स्वच्छन्द रूप नहीं आ पाया जो कृष्ण-काव्य का सबसे बड़ा आकर्षण था। वह केवल गर्हित राजसी विलास का रूप बनकर रह गया। राम-काव्य का आगे सुचारु विकास न होने का यह भी एक प्रधान कारण था।

(३) **तुलसी का अद्वितीय काव्य-कौशल**—तुलसीदास जैसे प्रतिभाशाली कलाकार के हाथों निर्मित होकर रामकाव्य अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच चुका था। उनके परवर्ती रामकाव्य के रचयिता कवि उनके आलोक के सम्मुख फीके पड़ गए। जनता ने भी तुलसी के सम्मुख राम-काव्य के अन्य कवियों को कोई महत्त्व नहीं दिया। 'मानस' में भावात्मक और साहित्यिक सौन्दर्य पूर्णता को प्राप्त हो चुका था।

(४) **काव्य-भाषा में परिवर्तन**—राम-काव्य का जब निर्माण हो रहा था। उस समय ब्रजभाषा क्रमशः प्रधान काव्य-भाषा का स्थान ग्रहण करती जा रही थी। तुलसी भी इस भाषा के साहित्यिक सौन्दर्य का मोह छोड़ने में असमर्थ रहे थे। उन्होंने अपने अधिकांश ग्रन्थ ब्रजभाषा में ही लिखे थे। जैसे-जैसे कृष्ण-चरित्र का प्रचार और महत्त्व बढ़ता गया, ब्रजभाषा भी प्रमुखता प्राप्त करती गई। अवधी भाषा एक प्रकार से प्रबन्धात्मक राम-काव्य के ही अधिक अनुरूप मानी जाती है, क्योंकि इस भाषा में प्रधान रूप से प्रबन्ध रूप में ही राम-काव्य की रचना हुई है। इसका कारण सम्भवतः इसका राम की क्रीड़ा भूमि अवधी की भाषा होना भी हो सकता है। अवधी प्रकृति से ही प्रबन्ध-काव्य के अति-रिक्त उपयुक्त है। अवधी कालान्तर में प्रमुख साहित्यिक भाषा नहीं रही थी।

इसके अतिरिक्त ब्रजभाषा में जो रामकाव्य लिखा गया, वह इतना उच्चकोटि का नहीं था कि जिसका प्रचार हो सकता। रीतिकाल में मुक्तक-काव्य की प्रधानता रही और अवधी मुक्तक-काव्य के उपयुक्त भाषा नहीं थी, इसलिए उसका प्रयोग धीरे-धीरे कम होता चला गया। इसलिए जब अवधी साहित्यासन से अपदस्थ हो गई तो राम-काव्य का प्रवाह भी क्षीण हो गया। राम-काव्य प्रधानतः प्रबन्ध काव्य के रूप में ही रचा गया था। प्रबन्ध-काव्य लिखना मुक्तक की अपेक्षा कठिन होता है।

(५) **कृष्ण-काव्य की लोकप्रियता**—कृष्ण-काव्य अपनी माधुर्य भावना के कारण जनता की सहज शृङ्गार-प्रिय चित्त-वृत्ति के अधिक अनुकूल था। इसमें सामाजिक मर्यादाओं का बन्धन नहीं था और न नाना प्रकार के विधि-निषेध ही थे। इसलिए जनता की सरस चित्त-वृत्ति को सन्तुष्ट करने के लिए राम-काव्यकारों के पास मर्यादा का बन्धन होने के करण वे सुविधाएँ नहीं थीं, जो कृष्ण-काव्यकारों को प्राप्त थीं। कृष्ण का मधुर और रसीला व्यक्तित्व जनता को अधिक आकर्षित कर रहा था। इस प्रकार कृष्ण-काव्य की लोकप्रियता राम-काव्य के विकास में बाधक सिद्ध हुई है।

प्रश्न ११—"भारत का लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके।"—इस सिद्धान्त वाक्य को दृष्टि में रखकर डाक्टर ग्रियर्सन के इस कथन पर विचार कीजिए कि बुद्धदेव के उपरान्त भारत में सबसे बड़े लोकनायक तुलसीदास थे।

उत्तर—अराजकता का निवारण : लोक-धर्म की स्थापना

जब समाज में विशृङ्खलता उत्पन्न होकर उसकी गति रुद्ध हो जाती है और सड़ाँध उत्पन्न होने लगती है, उस समय किसी ऐसे महापुरुष का आविर्भाव होता है जो प्रगति-मार्ग के सम्पूर्ण विरोधी तत्त्वों एवं गति-रुद्धता के कारणों का परिष्कार कर समाज में पारस्परिक सहयोग, स्नेह, सौहार्द्र और समानता की भावना उत्पन्न करता है। इतिहास इसका साक्षी है। महाभारत-काल में रामयुग की मर्यादाएँ नष्ट होने के कारण भारतीय संस्कृति के लिए एक भयानक संकट उत्पन्न हो गया था। ब्राह्मण-क्षत्रियों तथा क्षत्रिय राजाओं के पारस्परिक द्वेष से उत्पन्न विषमता के कारण जनता त्रस्त थी। साधकों के विभिन्न दल ज्ञान, कर्म और भक्ति की मनमानी व्याख्या कर इस पारस्परिक विरोध को व्यापकता दे रहे थे। ऐसे समय योगिराज कृष्ण ने महाभारता का

संचालन कर, पारस्परिक विद्वेष और अराजकता की जनक शक्तियों का उन्मूलन किया और गीता का उपदेश देकर ज्ञान, कर्म एवं भक्ति की एकता स्थापित की। कालान्तर में पुनः कर्मकाण्ड की प्रधानता हो जाने के कारण सामाजिक गतिरोध उत्पन्न हुआ। उसका परिष्कार करने के लिए गौतम बुद्ध सामने आए। बुद्ध के लगभग डेढ़ हजार वर्ष उपरान्त जब बौद्ध धर्म भी वाह्य कर्मकाण्ड और आडम्बर के माया-जाल में उलझ गया तो शंकराचार्य ने अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन कर समाज को एक नया मार्ग दिखाया; परन्तु शंकर का प्रभाव केवल दार्शनिक एवं धार्मिक क्षेत्रों तक ही सीमित रहने से अधिक स्थायी और ठोस नहीं रह सका; क्योंकि उसमें समाज के व्यावहारिक पक्ष की उपेक्षा थी। धार्मिक आचार्यों ने उन्हीं के सिद्धान्तों के आधार पर धर्म का पुनः परिष्कार कर सामाजिक मर्यादा स्थापित करने का प्रयत्न किया। आगे चलकर गोस्वामी तुलसीदास ने उनके इस प्रयत्न को पूर्णता प्रदान कर समाज को उदात्त और जन-कल्याणकारी मर्यादा के बन्धन में बाँध दिया और धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में समन्वय की भावना उत्पन्न की। यह लगभग एक हजार वर्ष से चली आती हुई विषमता का परिष्कार था। इसी कारण तुलसी द्वारा स्थापित लोक-धर्म आज भी हिन्दुओं का लोक-धर्म माना जाता है और उनका 'मानस' हिन्दुओं का सर्वाधिक लोक-प्रिय धर्म-ग्रन्थ। तुलसी की महानता का यही ऐतिहासिक महत्त्व और रहस्य है, जो आज भी अक्षुण्ण बना हुआ है। विषमता से त्रस्त जनता आज भी रामायण-पाठ में अगाध आस्था रखती है।

लोकनायक : जन-जन का श्रद्धा-भाजन

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में...."लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके, क्योंकि भारतीय जनता में नाना प्रकार की परस्पर विरोधिनी संस्कृतियाँ, साधनाएँ, जातियाँ, आचारनिष्ठा और विचार-पद्धतियाँ प्रचलित हैं। बुद्धदेव समन्वयकारी थे। गीता में समन्वय की चेष्टा है और तुलसीदास भी समन्वयकारी थे।" लोकनायक वही हो सकता है जो समाज के मनोविज्ञान को भली-भाँति समझ, उसके अनुरूप आचरण करता हुआ, उसे रूढ़ि-मुक्त और प्रगतिशील बनाने की क्षमता से सम्पन्न हो। इसके लिए वह प्राचीनता का संस्कार कर, उसमें अपनी नवीन विचारधारा का मिश्रण कर उसे इस रूप में ढाल देता है, जिसके द्वारा सम्पूर्ण समाज का कल्याण होकर उसे सन्तोष और शान्ति प्राप्त होती है। भौतिक बल के आधार पर कोई व्यक्ति लोक-शासक

तो हो सकता है; परन्तु लोकनायक नहीं। शासक से जनता प्रायः भयभीत और दूर रहती है, जबकि लोकनायक जनता की श्रद्धा का भाजन होता है। शासक का अधिकार केवल तन पर ही रहता है; परन्तु लोकनायक का अधिकार तन और मन....दोनों पर रहता है। इसी से उसका प्रभाव अधिक स्थायी, दृढ़ और स्नेहसिक्त होता है। लोकनायक स्वयं त्याग कर समाज की श्रद्धा, प्रेम और सम्मान प्राप्त करता है। अकबर और तुलसी....दोनों समकालीन थे। अकबर लोक-शासक था और तुलसी आज भी हिन्दू समाज के कर्णधार का आसन ग्रहण किये हुए हैं। यही दोनों में अन्तर है। साथ ही लोकनायक का पद उस व्यक्ति को प्राप्त होता है, जो सामाजिक परिस्थितियों का सम्यक् अध्ययन कर प्रचलित ऐसी मान्यताओं को; जो समाज के लिए घातक हो उठती हैं, मानने से स्पष्ट इन्कार कर देता है। उसमें प्रगतिशीलता की भावना होती है। वह उन प्राचीन मान्यताओं का निराकरण कर, समय के अनुकूल उचित नवीन मान्यताओं की स्थापना करता है। तुलसी ने यही किया था। इसी से सुप्रसिद्ध समाजवादी आलोचक डॉ० रामविलास शर्मा तुलसी को प्रगतिशील साहित्यकार की संज्ञा से विभूषित करते हैं। ऐसा साहित्यकार, जो प्राचीन हो अथवा नवीन, यदि आधुनिक प्रगतिवादी आलोचकों की प्रशंसा और सहानुभूति प्राप्त कर लेता है; वह निश्चय ही प्रगतिशील और लोकनायकत्व का वास्तविक अधिकारी माना जा सकता है। तुलसी ने यह प्रशंसा और सहानुभूति प्राप्त की है। तुलसी सच्चे अर्थों में लोकनायक थे और ऐसे लोकनायक, जिनका प्रभाव तब तक बना रहेगा, जब तक हिन्दू धर्म और संस्कृति को जनता द्वारा स्वीकृति मिली रहेगी। भारत को तुलसी के उपरान्त वैसा ही शक्ति और क्षमता वाला दूसरा लोक नायक गाँधी के रूप में मिला था, जिसका जीवन-दर्शन आज भी सम्पूर्ण विश्व को प्रभावित कर रहा है। अस्तु,

तुलसी-कालीन परिस्थितियाँ

तुलसी लोकनायक क्यों माने गये, इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए सर्वप्रथम तुलसी के युग पर एक दृष्टि डाल लेना उचित है। उस समय तक देश पर मुसलमानों का पूर्ण प्रभुत्व स्थापति हो चुका था। समाज की दशा विश्रृंखलित थी। उसके सामने कोई उच्च आदर्श नहीं था। समाज का उच्च-वर्ग विलासिता में निमग्न था और निम्न-वर्ग उच्च-वर्ग के अत्याचारों का शिकार

हो रहा था। जरा सी बात पर संसार त्याग कर वैरागी हो जाना साधारण-सी बात थी । विभिन्न सम्प्रदाय वाले अपने-अपने मतों का प्रचार करने में प्रयत्नशील थे और इसके लिए नाना प्रकार के चमत्कारों, बाह्य आडम्बर आदि तरह-तरह के हथकण्डे अपनाते थे। सन्तगण वेद, पुराण, साधु आदि की निन्दा कर सामाजिक और धार्मिक मर्यादाओं पर कुठाराघात कर रहे थे। योगमार्गी साधु अपने तांत्रिक चमत्कारों से जनता को चमत्कृत करने में प्रयत्नशील थे। 'अलख' को लखने की भावना जोरों पर थी । सन्तों, योगमार्गियों के इस दल में अशिक्षा एवं उच्च-वर्ग के प्रति उपेक्षा की भावना रहने के कारण उनके आत्मविश्वास ने दुर्वह गर्व का रूप धारण कर लिया था। ऊँची जातियाँ उनसे चिढ़ा करती थीं। हिन्दू समाज बल-वैभवहीन था तो मुसलमानी समाज धार्मिक उन्माद, शासकीय अहं, प्रजा-पीड़न और विलास में डूबा हुआ था। मदांध मुस्लिम शासक तलवार के बल पर इस्लाम का प्रचार कर रहे थे। हिन्दू त्रस्त थे। तुलसी से पूर्व कबीर ने इस समस्या को सुलझाने का प्रयत्न तो किया था; परन्तु उन्हें आंशिक सफलता ही प्राप्त हुई थी। सूफियों के साहित्य में इस्लामी धर्म की हलकी-सी गन्ध थी। कृष्ण-भक्त भी जनता के सम्मुख एक शक्तिशाली आदर्श उपस्थित करने में असमर्थ रहे थे। अतः विदेशी-विधर्मी राजनीतिक उत्पीड़न और शोषण और उच्चवर्गीय हिन्दुओं के सामाजिक अत्याचारों से त्रस्त सामान्य जनता को इन प्रयत्नों से कोई ढाढ़स नहीं मिला। अन्त में तुलसी ने इस भयभीत जनता के मनोनुकूल राम के शक्ति, शील एवं सौन्दर्य समन्वित रूप की स्थापना कर उसे एक दृढ़ सम्बल प्रदान किया। तुलसी के राम सर्व-शक्तिमान, दीन-प्रतिपालक और दयालु थे। जनता ने राम के इस सर्वशक्ति-मान रक्षक और दयालु रूप से प्रभावित हो गदगद हृदय से तुलसी का यह आभार नतमस्तक होकर स्वीकार कर लिया । हिन्दू-धर्म की रक्षा हुई और जनता में अत्याचार का प्रतिरोध करने की शक्ति उत्पन्न हुई। राम जनता के सम्मुख अत्याचार का समूल नाश करने वाले शक्ति-पुंज के प्रतीक बन गये।

तुलसी के राम का कार्य यही है कि—

"जब-जब होइ धरम की हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी ।।
तब-तब धरि प्रभु मनुज शरीरा। हरहि कृपानिधि सज्जन पीरा ।।"

राम के इस स्वरूप की कल्पना में जनता को अपना रक्षक मिला, वह

आश्वस्त और सन्तुष्ट हुई। 'मानस' के विभिन्न पात्रों में जनता ने अपने आदर्शों का साकार रूप देखा।

अनुभूत सत्य के चित्रकार : तुलसी

तुलसी समन्वयकारी थे। उन्होने जीवन के नाना स्तरों का जीवन भोगा था। वह गृहस्थ-जीवन की निकृष्टतम कोटि की आसक्ति के शिकार रह चुके थे। उच्च कुल के ब्राह्मण-वंश में जन्म लेकर भी दरिद्रता के कारण उन्हें दर-दर भटकना पड़ा था। उन्होंने सामान्य जनता के दुःख-कष्टों और समस्याओं को निकट से देखा और उनका अनुभव किया था। वे अपने जीवन में अशिक्षित एवं उच्चकोटि के शिक्षित दोनों प्रकार के व्यक्तियों से लेकर परम साधकों और काशी के दिग्गज पण्डितों तक के संसर्ग में रह चुके थे। उनका प्राचीन संस्कृत-साहित्य एवं प्रचलित भाषा-साहित्य का ज्ञान विस्तृत और गम्भीर था। उनका पिंगल शास्त्र का ज्ञान भी अपूर्व था। लोक और शास्त्र के इस सम्मिलित और यथार्थ ज्ञान ने उनके चिन्तन और उससे उद्भूत उनके काव्य को व्यापक बना दिया था। कुछ कवि केवल आश्रयदाताओं की प्रशंसा में ही अपनी सम्पूर्ण काव्य-शक्ति का अपव्यय कर रहे थे। तुलसी क्रान्तिकारी थे। ज्ञान के इस दुरुपयोग से वे तिलमिला उठे। उनकी दृष्टि में "कीन्हे प्राकृत जन गुणगाना, सिर धुनि गिरा लागि पछताना"—वाला सिद्धान्त था। 'गिरा' का वास्तविक उपयोग प्राकृत (सांसारिक) जन का गुणगान करने के लिए न होकर जन-कल्याण के लिए होना चाहिए, तभी उसकी सार्थकता है। कहा जाता है, तुलसी ने अपना काव्य 'स्वान्तः सुखाय' लिखा था; परन्तु उस 'फक्कड़' का अपना व्यक्तिगत सुख ही क्या था ? समाज और वह—दोनों अभिन्न थे। इसलिए उसके सुख में निश्चित रूप से समाज का सुख सम्मिलित था। उसका 'स्वान्तः सुखाय' 'जन हिताय' ही था। और सच्चे साहित्य-मनीषी 'स्वान्तः सुखाय' को 'जन-हिताय' बना देने की कला में पारंगत होते हैं।

तुलसी : अद्भुत समन्वयकारी

तुलसी का सम्पूर्ण काव्य समन्वय की विराट् चेष्टा है। लोक और शास्त्र का समन्वय; भाषा और संस्कृति का समन्वय; भक्ति, ज्ञान और कर्म का समन्वय; शैव और वैष्णव का समन्वय; निर्गुण और सगुण का समन्वय; ब्राह्मण और चांडाल का समन्वय, भिन्न-भिन्न काव्य-प्रणालियों का समन्वय,

आदि विभिन्न क्षेत्रों के समन्वय द्वारा उन्होंने उपर्युक्त सम्पूर्ण क्षेत्रों में व्याप्त विषमता का निराकरण कर एक नवीन, स्वस्थ और स्फूर्तिदायक समानता का आदर्श उपस्थित किया। राम के शक्ति-शील-सौन्दर्य समन्वित व्यक्तित्व के रूप में उपर्युक्त सभी समन्वयों का उपयोग कर उन्होंने राम के लोक-संग्रही रूप का एक अत्यन्त सशक्त, प्रभावशाली, मार्मिक और कलापूर्ण चित्र प्रस्तुत किया। तुलसी से पूर्व कोई भी कवि, आचार्य या साधक राम के ऐसे सर्वग्राह्य प्रखर और उदात्त रूप की स्थापना नहीं कर सका था। उस काल के हिन्दू-धर्म में अनेक भ्रान्तियाँ प्रचलित थीं। शैवों, वैष्णवों और शाक्तों में परस्पर घोर वैषम्य और शत्रुता थी। तुलसी ने शिव और राम की एकता स्थापित कर उस विरोध को मिटाने का स्तुत्य प्रयत्न किया; परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि उन्होंने बुराई से भी समझौता करने का प्रयत्न किया था। शाक्तों के विरोध थे। इसी कारण उन्हें कबीर का "वैस्नों की छपरी भली, ना साकत को बड़गाँव" वाला सिद्धान्त मान्य था। भक्तों की वाममार्गी साधना-पद्धति वाली रीति-नीतियों को वे समाज के लिए घातक समझते थे। इसी से उन्होंने सीता में 'आदि-शक्ति' का रूप प्रतिष्ठित कर शाक्तों का भी संस्कार करने का प्रयत्न किया था। शैवों, वैष्णवों और शाक्तों का समन्वय उनके काव्य में सर्वत्र बिखरा पड़ा है। इसी कारण उनके काव्य में अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत और पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों का भी समन्वय हुआ है। उन्होंने भगवत्कृपा को ही प्रधान माना है। वे ज्ञान, कर्म और भक्ति की, उनके एकांगी रूप में कोई उपयोगिता स्वीकार नहीं करते, परन्तु समय की परिस्थितियों के अनुसार उन्होंने ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को ही माना है, क्योंकि तत्कालीन परिस्थितियों में ज्ञान की उपादेयता क्षीण हो चली थी। जनसाधारण का मानसिक स्तर उसे समझने में असमर्थ था। ज्ञान अपने एकाकी रूप में जन-सामान्य को कभी प्रभावित नहीं कर पाता। उसका कर्म और भक्ति-समन्वित रूप ही सदैव लोकग्राह्य रहा है।

लोक-कल्याण : एकान्त लक्ष्य

तुलसी समाज के सजग प्रहरी थे। उन्हें लोकहित पूर्ण ध्यान था। वे चाहते थे कि जब तक लोक मर्यादा का पालन नहीं होगा, जब तक जनकल्याण असम्भव है। मर्यादा के अभाव में लोक-व्यवस्था उत्पन्न होना आकाश कुसुम के समान है। इसी कारण तुलसी के काव्य में एक भी पंक्ति ऐसी नहीं मिलेगी,

जिसमें कहीं भी मर्यादा का उल्लंघन हुआ हो। उनके राम मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं। फिर मर्यादा का उल्लंघन कैसे सम्भव था ? उन्होंने शृङ्गार के दोनों पक्षों का ऐसा सन्तुलित और मर्यादित चित्रण किया है कि सहसा इस मनीषी कवि की प्रतिभा पर साधारण बुद्धि अविश्वास कर उठती है। हिन्दी-साहित्य की यह निधि शाश्वत है। राम पूर्ण मानव हैं। मानव के सुख-दुःख, राग-विराग की सम्पूर्ण भावनाएँ उनमें हैं। राम के रूप में युग ने मानव का पूर्ण रूप देखा। उनमें अपने आदर्शों का पूर्ण प्रतिबिम्ब देखकर लोक ने उन्हें ललक कर अपना लिया। यह तुलसी की ही विराट् कल्पना का परिणाम था। तुलसी का जनवादी दृष्टिकोण ही राम-राज्य जैसी सामाजिक व्यवस्था की कल्पना करने में समर्थ रहा था।

मर्यादा के अनन्य उपासक

तुलसी ने कबीर आदि की हठधर्मी के स्थान पर सहिष्णुता का सम्बल ग्रहण किया था। उन्होंने समाज भी अव्यस्था पर प्रहार थी किया; परन्तु उस प्रहार में कबीर की-सी निर्ममता और विध्वंसक भावना न होकर एक कल्याणकारी सृजनात्मक भावना थी। तुलसी का व्यक्तित्व सौम्य था और समन्वय का आधार सौम्यता ही मानी जाती है। बुद्ध, ईसा, गाँधी आदि सभी महापुरुषों का चरित्र सौम्य था। इस कारण तुलसी की खण्डनात्मक उक्तियों में कटुता के स्थान पर मिठास अधिक है उन्होंने असन्तों की भी वन्दना की है—"बन्दों सन्त असज्जन चरना।" वे घोर मर्यादावादी भी हैं। वेद, पुराण, शास्त्र, मूर्ति-पूजा, तीर्थ, वर्ण-व्यवस्था, लोकमत आदि का उन्होंने पूर्ण समर्थन किया है। वे विध्वंसक क्रान्ति में विश्वास न कर, निर्माणक परिवर्तन में आस्था रखते हैं। इसी कारण उदार धर्म-प्राण हिन्दू-समाज में उन्हें सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई है। वस्तुतः तुलसी भारतीय धर्म और संस्कृति के सच्चे प्रतिनिधि हैं।

अपूर्व काव्यकला के धनी

भाषा और काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में भी इस युग-पुरुष ने समन्वय किया था। वे भाषा और भावों के पूर्ण अधिकारी थे। उन्होंने अपने समय में प्रचलित दोनों साहित्यिक भाषाओं—ब्रज और अवधी को समान रूप से अपनाया था। दोनों पर उनका पूर्ण अधिकार था। वे संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे; परन्तु लोकहित की भावना से प्रेरित होकर ही उन्होंने इन दोनों जन-भाषाओं को

अपनाया और प्रतिदान में अमर हो गए। भाषा के अतिरिक्त पिंगल-शास्त्र के सभी नियमों का उन्होंने पालन किया था। इसी कारण आलोचक साहित्यिक दृष्टि से भी हिन्दी-साहित्य में 'मानस' का स्थान अत्यन्त उच्च मानते हैं। भाषा और पिंगल-शास्त्र के साथ ही उन्होंने अपनी समकालीन एवं अपने से पूर्व प्रचलित समस्त काव्य पद्धतियों का सफलतापूर्वक उपयोग किया था। चन्दवरदाई के छप्पय, कबीर के दोहे और पद, सूर और विद्यापति की गीत-पद्धति, जायसी, ईश्वरदास की दोहा-चौपाई-पद्धति, रहीम के वरवै, गंग आदि की सवैया, कवित्त पद्धति एवं मंगल काव्यों की मंगल-पद्धति को उन्होंने अपनाया था। साथ ही, तत्कालीन जनता में प्रचलित सोहर, नहछू, चाँचर-वेली, वसन्त आदि लोक-काव्य के रागों में भी उन्होंने राम-काव्य लिखा था। इस प्रकार साधारण जनता में प्रचलित सामान्य गीत-पद्धति के लेकर शिक्षित जनता में प्रचलित उदात्ततम काव्य-रूपों तक को उन्होंने अपनाया था। यह उनकी अद्भुत काव्य-प्रतिभा का प्रमाण है।

विषमताओं में साम्य के प्रतिष्ठापक

इतनी विषमताओं में साम्य स्थापित करने वाला पुरुष यदि लोकनायक नहीं होगा तो और कौन होगा ? तुलसी ने बुद्ध, कबीर, चैतन्य आदि की भाँति कोई मत नहीं चलाया, पर हिन्दुत्व के क्षेत्र में आज तुलसी का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है। तुलसी कवि, भक्त, पण्डित, विचारक, सुधारक, लोकनायक और भविष्य-द्रष्टा एवं भविष्य-स्रष्टा थे। उन्होंने मानव-जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्रों में समता की रक्षा करते हुए ऐसे काव्य का सृजन किया जो शताब्दियों से उत्तर भारत का पथ-प्रदर्शक रहा था और अब भी है। इसी कारण तुलसी को गौतम बुद्ध के बाद भारत का सबसे बड़ा लोकनायक माना गया है।

प्रश्न १२—"सूर भक्ति के क्षेत्र में इतने आगे पहुँच गए थे कि समाज की आवश्यकताओं का उन्हें ध्यान ही नहीं रहा।" इस कथन की उपयुक्तता पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

उत्तर—आराध्य के लोकरंजक रूप के उपासक

हम पहले कह आये हैं कि रामोपासक कवि राम के लोक-रक्षक रूप को और कृष्णोपासक कवि कृष्ण के लोकरंजक रूप को प्रधानता देकर काव्य के क्षेत्र में आये थे। तुलसी के पथ-प्रदर्शनार्थ कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं थे।

उन्होंने रामानन्दी सम्प्रदाय में अनेक परिवर्तन, परिवर्द्धन एवं परिष्कार कर, उसे एक मौलिक लोक-धर्म के रूप में उपस्थित कर अपने मार्ग का निर्माण स्वयं किया था। इसी से उनका काव्य—समन्वय का काव्य कहा जाता है। सूर बल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग में दीक्षित हुए थे। पुष्टिमार्ग के अपने निश्चित सिद्धान्त और नियम थे। माधुर्य-भाव की उपासना उसका मूलाधार थी। इसी अभिप्राय से वल्लभ स्वामी ने सूर को श्रीनाथजी के मन्दिर में कीर्तन-मण्डली का प्रधान नियुक्त किया था। भगवान् का मन्दिर उनका संसार था और भगवान् की दैनन्दिनी लीलाओं का गायन उनका एकमात्र कार्य। पुष्टिमार्ग में कृष्ण के लोक-रक्षक रूप की उपेक्षा कर केवल उनके बाल और किशोर रूप की माधुर्य-पूर्ण उपासना पर ही बल दिया गया है। इस उपासना-पद्धति में महाभारत के कृष्ण के लिए कोई स्थान नहीं है। जब पुष्टिमार्ग में ही कृष्ण के लोक-रक्षक रूप की अवहेलना की गई थी तो उसके अनुयायी भक्त-कवि लोक को साथ लेकर कैसे चल सकते थे? इसी कारण कृष्णोपासक कवियों के लिए लोक सदैव उपेक्षित-सा रहा। उनमें भक्त-हृदय की अगाध तन्मयता थी। स्वयं वे और उनके भगवान् ही उनका लोक था। परिणामस्वरूप इन कवियों में भक्ति की पूर्ण तन्मयता तो मिली; परन्तु प्रत्यक्ष लोक-कल्याण की भावना का अभाव-सा रहा। कृष्ण-काव्य में लोक की उपेक्षा का यही प्रधान कारण था।

पुष्टिमार्ग : व्यक्तिवादी भक्ति-पद्धति

वल्लभाचार्य मूलतः भक्त-आचार्य थे। भक्ति का आकर्षक और लोकग्राह्य स्वरूप प्रस्तुत करना ही उनका प्रधान लक्ष्य था। उनकी प्रतिभा और सारी शक्ति भक्ति और उसके इसी स्वरूप का निरूपण करने में ही लगी रही। भक्ति का यह रूप प्रधानतः व्यक्तिवादी था, जिसका लोक से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं माना गया था। इसी कारण इनकी पुष्टिमार्गीय भक्ति-पद्धति की स्थापनाओं में समाज की स्थितियाँ और समस्याएँ स्थान न पा सकीं और उनके अनुयायी भी गुरु के आदेशों का पालन करते रहने के कारण समाज की ओर ध्यान न दे सके। वे केवल अपने आराध्य के लीला-गान तक ही सीमित होकर रह गये।

रागानुगा-भक्ति

वल्लभ-सम्प्रदाय में बाल-कृष्ण की उपासना का विशेष महत्त्व है। बाल-कृष्ण की लीला में भाग लेना ही भक्तों का सर्वस्व है। यह भक्ति माधुर्य भाव

की होने के कारण प्रेम-प्रधान रागानुगा है विधि-निषेधों से भरी वैधी नहीं। इस भक्ति में प्रेम का ही महत्त्व है; परन्तु वैधी भक्ति में लोकाचार और वेद-विधि के पालन का विधान है। रागनुगा भक्ति का यह प्रेम का आदर्श गोपियों के प्रेम के रूप में चरम विकास को प्राप्त हुआ है। यद्यपि नन्द-यशोदा के वात्सल्य-भाव को भी वल्लभ-सम्प्रदाय में पर्याप्त स्थान मिला है; परन्तु भक्ति का पूर्ण परिपाक राधा, कृष्ण और गोपियों के प्रेम के रूप में ही हुआ है। इस पद्धति के प्रेम में किसी भी प्रकार का कोई व्यवधान नहीं रहता और न स्वीकार किया जाता है। इस प्रेमाभक्ति की सम्पूर्ण लीलाओं में राधा, कृष्ण और गोपियाँ पूर्ण तन्मय रहते हैं। ये सब लीलाएँ भक्त और भगवान् एवं जीव और ब्रह्म के अन्तर को लोप करने का साधन हैं। सूर को वल्लभ ने अपने सम्प्रदाय में दीक्षित करते समय केवल भगवद्लीला वर्णन करने का ही आदेश दिया था। सच्चे शिष्य की भाँति सूर ने उस आदेश का एक निष्ठ मन से पालन किया। इस लीला-वर्णन में सूर इतने तन्मय हुए कि उन्होंने अपने पथ-प्रदर्शक गुरु के प्रति एक भी छन्द नहीं कहा। कहा भी तो दूसरों के सुझाने पर, और वह भी अपने अन्तिम समय में। अतः अपने प्रभु के लीलागान में तन्मय ऐसे भक्त को संसार की क्या चिन्ता हो सकती थी? वह तो अपने प्रभु में ही सम्पूर्ण विश्व के दर्शन करने का अभ्यासी था।

प्रभु का लीला-गान : एकमात्र काम्य

दूसरी बात यह है कि पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तनुसार कृष्ण की यह लीला, जो ब्रज हुई, शाश्वत है। वृन्दावन गोलोक का प्रतीक है, जहाँ सदैव ब्रह्म और आत्माओं का आनन्दमय रास होता रहता है। कृष्ण ब्रह्म हैं, राधा उनकी शक्ति और गोपियाँ आत्माएँ हैं। प्रत्येक कृष्ण-भक्त अपने को इस लीला का अंश समझता है। कृष्ण प्रतिदिन उठते, कलेवा करते, गाय चराते, घर लौटते और शयन करते हैं। प्रतिदिन, प्रतिमास और प्रति ऋतु में उनके जीवन की विशेष-विशेष बातों के लिए उत्सव होते हैं। इस प्रकार भक्तों के लिए अपने आराध्य का मन्दिर ही एक अलग विश्व बन जाता है, जहाँ से वे बाहर नहीं जाते। जाएँ भी कैसे; उनके आराध्य भी तो नहीं जाते। उस आराध्य को छोड़कर जाना भक्ति के अभाव का द्योतक होता। इसलिए सूर ने श्रीनाथजी के मन्दिर में हरि-लीला गाने में ही अपनी मुक्ति समझी, वे वहाँ से बाहर नहीं

निकले। प्रभु का लीला-गान ही उनके जीवन का एक मात्र काम्य था और वे जीवन भर उसी में लीन बने रहे।

मात्र माधुर्य रूप के उपासक

तीसरी बात यह है कि कृष्ण के लोक-रक्षक स्वरूप की ओर, महाभारत और गीता के उपदेष्टा कृष्ण की ओर, वल्लभाचार्य ने ध्यान तक नहीं दिया था। इसलिए सूर ने भी नहीं दिया। वल्लभाचार्य तो कृष्ण के मधुर रूप के उपासक ये और माधुर्य की उपासना में पौरुष के लिए स्थान ही कहाँ रहता है? यही कारण है कि कृष्ण द्वारा असुरों का वध किये जाने वाले प्रसंगों का वर्णन करने में सूर की रुचि अधिक नहीं रमी है। वह उनका चलता-सा वर्णन कर आगे बढ़ गये हैं। सूर की 'मथुरा तीन लोक से न्यारी' थी। वे केवल ब्रज और कृष्ण में ही सीमित होकर रह गए। उनकी समस्त चेतना इसी ब्रज में बन्दी हो गई। तुलसी की भाँति राजनीति, धर्म और समाज के मंगल की उन्हें चिन्ता नहीं थी। वे तो 'तन मन-धन गुरुनई जी के अरपन' वाले सम्प्रदाय में दीक्षित थे। उनकी मर्यादा सम्प्रदाय की थी, लोक या समाज की नहीं। उस सम्प्रदाय की सीमा में जो जितना ऊपर उठा, वह उतना ही उच्चकोटि का भक्त हुआ। सूर भक्तराज थे। ये उस भक्ति के क्षेत्र में इतने गहरे उतर गये थे कि उन्हें सम्प्रदाय तक का ध्यान नहीं रहा था। इसीलिए अष्टछाप के कवियों में, सूर में, सबसे कम साम्प्रदायिकता मिलती है।

आराध्य के साथ पूर्ण तादात्म्य

सूर की रचना 'स्वान्तः सुखाय' थी। पुष्टिमार्गी भक्त भगवान् की कृपा के अतिरिक्त अन्य साधनों में विश्वास नहीं करता। भगवान् का अनुग्रह ही उसका सर्वस्व है। इसीलिए भक्ति की उस अपूर्व तन्मयता के क्षेत्र में केवल भक्त और उसके भगवान् ही रह जाते हैं। भक्त को भगवान् के चिन्तन में ही अपूर्व आनन्द मिलता है। भगवान् अपने लोक को स्वयं ही सँभाल लेंगे। भक्त को उसकी चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है! जहाँ अपनी सभी प्रवृत्तियों में 'कृष्णार्पणमस्तु' की दृढ़ भावना हो, वहाँ समाज की ओर क्या देखना! सूर ने तो सुन्दरता के अगाध-अनन्त सागर अपने आराध्य में ही सब-कुछ देख लिया था। उनके कृष्ण सामाजिक मर्यादाओं के भंजक थे। इसी से उनकी सम्पूर्ण लीलाएँ सामाजिक मर्यादा के विपरीत थीं। उन लीलाओं का आनन्द समाज के समक्ष कहाँ सम्भव था! गोपियाँ स्वयं उन मर्यादाओं को तोड़कर कृष्ण-

लीला में सम्मिलित होती थीं। यदि सूर सामाजिक मर्यादाओं का ध्यान रखते तो उन्हें उन लीलाओं में इतना आनन्द कैसे आता और वे उनका इतना सरस वर्णन कैसे कर सकते? सूर-काव्य की अलौकिक-सी सरसता का यह भी एक प्रधान कारण रहा है।

अन्धापन : सीमित क्षेत्र

सूर-काव्य में समाज की उपेक्षा होने का एक कारण यह भी प्रतीत होता है कि सूर अन्धे थे। उनका संसार अत्यन्त सीमित था। वे स्वयं न तो यात्रा ही कर सकते थे और न संसार की भलाई-बुराई को देख, उसका अनुभव ही कर सकते थे। तुलसी के समान न तो उनका अध्ययन ही विशाल था और न कबीर के समान वे अथक पर्यटक और बहुश्रुत ही थे; और फिर श्रीनाथजी के मन्दिर की चहारदीवारी के भीतर जा विराजे थे, जहाँ उनके आराध्य के अतिरिक्त अन्य किसी के भी लिए स्थान नहीं था। इसी कारण मन्दिर का वातावरण सदैव कृष्ण-लीला से गुंजायमान रहता था। समाज की विषमता वहाँ प्रविष्ट नहीं हो पाती थी। इसी से अन्धे सूर को संसार का व्यापक अनुभव नहीं हो पाया।

पुष्टिमार्गी भक्ति की पूर्ण तन्मयता

आचार्य शुक्ल कृष्णभक्ति-साहित्य में लोक और समाज की इस उपेक्षा का कारण बतलाते हुए कहते हैं····"सब सम्प्रदायों के कृष्ण-भक्त भागवत में वर्णित कृष्ण की बाललीला को ही लेकर चले, क्योंकि उन्होंने अपनी प्रेम-लक्षणा भक्ति के लिए कृष्ण का मधुर रूप ही पर्याप्त समझा। महत्त्व की भावना से उत्पन्न श्रद्धा या पूज्य बुद्धि का अवयव छोड़ देने के कारण कृष्ण के लोक-रक्षक और धर्मसंस्थापक स्वरूप को सामने रखने की आवश्यकता उन्होंने न समझी।····उनकी रचनाओं में न तो जीवन के अनेक गम्भीर पक्षों के मार्मिक रूप प्रस्फुटित हुए, न बहुरूपता आई·······ये अपने रूप में मस्त रहने वाले जीव थे; तुलसीदास जी के समान लोक-संग्रह का भाव इनमें न था। समाज किधर जा रहा था, इस बात की परवाह ये नहीं करते थे।" आचार्य शुक्ल के इस कथन के अनुसार अपने सम्प्रदाय, तन्मयता और एकांगी दृष्टिकोण ने ही सूर को समाज से निर्लिप्त बनाए रखा था। सूर भक्तराज थे। भक्ति की पूर्ण तन्मयता उनके पदों में मिलती है। इसी से "सूर भक्ति के क्षेत्र में

इतने आगे पहुँच गए थे कि समाज की आवश्यकताओं का उन्हें ध्यान नहीं रहा।"

प्रश्न १३—भ्रमरगीत-काव्य-परम्परा का वर्णन करते हुए विभिन्न कवियों द्वारा रचित भ्रमरगीतों की विवेचना कीजिए।

उत्तर—भ्रमरगीत की कथा

हिन्दी-काव्य-परम्परा में भ्रमरगीत अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। सूरदास, नन्ददास, रत्नाकर, हरिऔध तथा सत्यनारायण कविरत्न ने इस परम्परा का अनुमान करते हुए बड़े सुन्दर काव्य की रचना की है। यह वास्तव में गोपी-उद्धव-संवाद है। कृष्ण ने सखा उद्धव ब्रह्म के निराकार रूप के उपासक होने के कारण निर्गुण मार्ग के अनुयायी थे। उन्हें अपने ज्ञान का गर्व था कृष्ण ने उनके इसी गर्व को भंग करने के लिए उन्हें गोपियों के पास अपना सन्देश पहुँचाने को भेजा था। ऐसा करके वे उद्धव को भक्ति और प्रेम की तीव्रता का अनुभव करना चाहते थे। साथ ही, उनका यह अभिप्राय भी था कि गोपियाँ उन्हें भूल जायँ, क्योंकि अब ब्रज से लौटकर उन प्रेम-लीलाओं की पुनरावृत्ति न हो सकेगी, क्योंकि अब कृष्ण को मथुरा में ही रहकर लोक-रक्षण का कार्य करना था, अत्याचारियों का विनाश कर लोक-धर्म की स्थापना करनी थी। उद्धव कृष्ण का सन्देश लेकर गोपियों के पास गये। ज्ञान और भक्ति को लेकर उनके और गोपियों के बीच अनेक तर्क-वितर्क हुए। मान-मिलाप भी हुए उपालम्भ भी दिये गए और अन्त में उद्धव प्रेम की, अर्थात् भक्ति की महित्ता स्वीकार कर कृष्ण के पास मथुरा लौट आए और कृष्ण से गोकुल जाने का आग्रह करने लगे। संक्षेप में, भ्रमरगीत की यही कथा है।

मूलतः व्यंग्य-काव्य

भ्रमरगीत प्रधानतः व्यंग्य-काव्य है। इसमें कृष्ण, उद्धव, कुब्जा तथा मथुरावासियों पर गोकुल की गोपियों द्वारा बड़े तीखे प्रहार किये गये हैं। मर्यादा का निर्वाह करने के लिए इस संवाद के मध्य एक भ्रमर की कल्पना कर ली गई है। उद्धव-गोपी-वार्त्तालाप के मध्य एक भ्रमर उड़ता हुआ आकर एक गोपी के पैर पर बैठ जाता है और गोपियाँ उसी को माध्यम बना व्यंग्य करने लगती हैं। गोपियों के सब व्यंग्य उसी भ्रमर को आधार बनाकर किये गए हैं। भ्रमर का होना दो दृष्टियों से बड़ा आवश्यक था। उद्धव गोपियों के अतिथि और उनके प्रियतम कृष्ण के सन्देश-वाहक थे, इसलिए उनके पूज्य थे।

और साथ ही घर आये मेहमान का अनादर करना नीच कार्य है। इसी से गोपियों ने अपने हृदय के तीखे गुबार भ्रमर को माध्यम बनाकर निकाले। भ्रमर की उपमा भी अत्यन्त सुन्दर और संगत है; क्योंकि कृष्ण और उद्धव-- दोनों भ्रमर के समान ही काले थे। दूसरे, भ्रमर प्रेम की रीति नहीं जानता, वह तो केवल रस का लोभी होता है। उधर कृष्ण भी मथुरा में कुब्जा को अपनी प्रेयसी बनाकर इसी 'पावन' कार्य का सूत्रपात कर रहे थे। उद्धव कुटिनी (दूती) के समान घृणित कार्य करने ब्रज आये थे। इस प्रकार भ्रमर के साथ कृष्ण और उद्धव की तुलना करना समीचीन और सार्थक है। इस रूप-साम्य और कार्य-साम्य को ध्वनित करने के लिए ही भ्रमर की कल्पना की गई थी।

सूर का भ्रमरगीत

इस काव्य का मूल स्रोत भागवत का दशम स्कंध है। उसके अनुसार गोपी-उद्धव-वार्त्तालाप के मध्य एक भ्रमर कहीं से उड़ता हुआ आ गया। तब गोपियों ने उसे ही अपने व्यंग्य-बाणों का लक्ष्य बनाया। हिन्दी में काव्य-रूप में यह सर्वप्रथम 'सूरसागर' में वर्णित हुआ मिलता है। सूरदास ने भ्रमर की स्थिति आरम्भ ने ही मानी है। बीच-बीच में मधुकर, अलि आदि शब्दों द्वारा इस भ्रमर की ओर संकेत किया है—"मधुकर यह मन बिगरि परे" तथा "कहि अलि क्यों बिसरत वे बातें"—आदि। सूर-काव्य में तर्क-वितर्कों के लिए बहुत कम स्थान है। यह पूरा संवाद ज्ञान और भक्ति, निर्गुण और सगुण तथा हृदय और मस्तिष्क के संघर्ष के रूप में ही प्रस्तुत किया गया है। सूर हृदय-पक्ष को लेकर आगे बढ़े हैं। उनकी गोपियाँ तर्क नहीं करतीं। उनका कहना तो केवल यह है कि हम अबला हैं, मूर्खा हैं और तुम्हारा निर्गुण का पन्थ बहुत दुष्कर है, इसलिए उसे अपना लेना हमारे लिए दुस्साध्य है, साथ ही "ऊधो! मन नहिं हाथ हमारे"—क्योंकि "रथ चढ़ाय हरि संग ले गये, मथुरा जबहिं सिधारे" वाली विषम स्थिति है। हम तो तुम्हारे रुचिपूर्वक लाये हुए जोग को स्वीकार कर लेतीं परन्तु हम तो "झखत श्याम की करनी, मन लै जोग पठाए।" इसके अतिरिक्त हमारे पास एक ही मन है, इसलिए अब तुम्हारे निराकार ब्रह्म की उपासना कौन करे, क्योंकि उस मन को तो श्याम अपने साथ ही ले गए। गोपियाँ तो यह भी स्वीकार करने को प्रस्तुत हैं कि आपका निर्गुण ब्रह्म हमारे ब्रह्म से ऊँचा है। उसके द्वारा मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। लेकिन इस मन को हम क्या करें? एक बार जिसमें रम जाता है,

फिर उसकी अच्छाई-बुराई, गुण-अवगुण नहीं देखता। इसी से अन्त में उद्धव के निर्गुण ब्रह्म को निराश पथिक के समान ब्रज से खाली हाथ लौटना पड़ता है। इस प्रकार ज्ञान की पराजय और भक्ति की विजय होती है।

नन्ददास का भ्रमरगीत : तर्क प्रधान

नन्ददास ने 'भँवरगीत, में इस प्रसंग का एक दूसरा ही रूप उपस्थित किया है। इनकी गोपियाँ प्रेम के साथ-साथ तर्क और शास्त्र-सम्मत प्रमाण का आधार मान कर चलती हैं। उद्धव और गोपियों के बीच निर्गुण और सगुण सम्बन्धी लम्बा विवाद चलता है। उद्धव भगवान् को निर्गुण बताते हैं—"जो उनके गुन होंय, बेद क्यों नेति बखानैं" तो गोपियाँ तुरन्त पूछ बैठती हैं—"जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहाँ ते", यह जरा समझने की बात है। इसी प्रकार जब उद्धव ब्रह्म को अलक्ष्य और गुणातीत बताते हैं तो गोपियाँ उत्तर देती हैं—"जिनकी वे आखें नहीं, देखैं कब वह रूप।" क्योंकि प्रेम बिना भगवान् के वे गुण देखे ही नहीं जा सकते। इसलिए तुम उन्हें निर्गुण कहकर सन्तोष कर लेते हो। नन्ददास की गोपियाँ तर्क के साथ-साथ बड़ा सुन्दर मजाक भी कर लेती हैं। यह परिहास की प्रवृत्ति उद्धव की ज्ञान-गठरी को एकदम निस्सार कर देती है। उसके साथ ही वे अपने आराध्य कृष्ण की, कुब्जा से प्रेम करने के कारण, बड़ी भर्त्सना भी करती हैं—"यह नीची पदवी हुती गोपीनाथ कहाय, अब जदुकुल पावन भयो दासी जूठन खाय।" परन्तु अन्त में नन्ददास की गोपियों का सारा तर्क समाप्त हो जाता है और इसके साथ ही उद्धव के ज्ञानमार्ग की भी वहीं अन्त्येष्टि हो जाती है और यह दृश्य उपस्थित हो जाता है कि—"ता पाछे इक बार ही रोई सकल ब्रज नारि, हा करुणामय नाथ हो, केशव कृष्णमुरारि।"

रत्नाकर का 'उद्धवशतक'

इसके उपरान्त भक्तिकालीन और रीतिकालीन कई अन्य कृष्ण-भक्त-कवियों ने भी भ्रमरगीत लिखे, परन्तु उन्हें महत्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। नन्ददास के उपरान्त आधुनिक काल में रत्नाकर जी ने 'उद्धव-शतक' लिखकर इस परम्परा को सशक्त-सुन्दर रूप में आगे बढ़ाया। रत्नाकर के काव्य में हम उपर्युक्त सभी बातों का सामंजस्य पाते हैं। उनमें जहाँ एक ओर सूरदास के हृदय की व्याकुलता और बेबसी है, वहीं दूसरी ओर नन्ददास का तर्क और परिहास भी है। इनके 'उद्धव-शतक' में गोपियाँ प्राचीन स्मृति के आधार पर

कृष्ण के जीवन के तुलनात्मक चित्र उपस्थित करती हैं। साथ ही वे यह भी मान लेती हैं कि कान्ह और ब्रह्म वास्तव में एक ही हैं; परन्तु एक भक्त-हृदय अद्वैत की भावना को स्वीकार नहीं कर सकता। वह प्रेम के लिए द्वैत का व्यवधान चाहता है। इसलिए रत्नाकर की गोपियाँ अपने और भगवान् के बीच इस द्वैतता के सम्बन्ध को शाश्वत बनाए रखना चाहती हैं। वे मुक्ति भी नहीं चाहतीं। इसके साथ ही जो भगवान् रूप और रस से हीन है, उसके प्रति आसक्ति नहीं हो सकती। रत्नाकर के वर्णन में व्यंग्य के साथ-साथ मार्मिकता भी बड़ी गहरी है। उन्होंने हृदय के उन कोमल भावों का, जिनके सामने तर्क नहीं चलता, चित्र खींचा है। कृष्ण की ब्रज की स्मृति, गोपियों की विरहाकुल दशा, उद्धव का उपदेश तथा गोपियों पर उसकी प्रतिक्रिया का चित्रण अत्यन्त मार्मिक और मनोरम है। रत्नाकर की गोपियों के 'नन्दलाला' मुक्ति और ब्रह्म से भी श्रेष्ठ हैं। उनकी प्राप्ति के लिए वे सब कुछ करने को प्रस्तुत हैं, यदि उन्हें यह विश्वास हो जाय कि वे उसके द्वारा अपने प्रियतम को प्राप्त कर सकेंगी। इसीलिए वे उद्धव से कहती हैं—"सहिहैं तिहारे कहे साँसति सबै पै बसि, ऐतो कहि देउ कन्हैया मिल जायगो।" परिणामस्वरूप अन्त में उद्धव अपना निर्गुण और ज्ञान का सन्देश भूल, गोपियों के प्रेमरस में पगे हुए लौटते हैं, जिनके—"एक कर राजै नवनीत जसुदा को दियो, एक कर वंशी वर राधिका पठाई है।" इसे रत्नाकर कर जी की मौलिक उद्भावना माना जा सकता है।

हरिऔध का 'प्रियप्रवास' : एक नया रूप

इसके साथ ही हम आधुनिक युग के अन्य कवियों द्वारा लिखे हुए भ्रमर-गीतों के विकसित रूप की ओर आते हैं। कृष्ण का मध्यकालीन माखन चुराने वाला और विलासी रूप अब एक समाज-सुधारक का रूप धारण कर लेता है। वियोग की भावनाओं में भी अन्तर आ जाता है। हरिऔध के 'प्रियप्रवास' में हम भ्रमरगीत के इसी रूप को देखते हैं। यह ठीक है कि उनके काव्य में किसी भ्रमर का स्पष्ट रूप से वर्णन नहीं आता, किन्तु परम्परा के कारण भ्रमरगीत वास्तव में गोपी-उद्धव संवाद का नाम है। 'प्रियप्रवास' की गोपियाँ कृष्ण के केवल उन लोकोपकारी कार्यों की याद करती हैं, जो कृष्ण ने अपने गोकुल-निवास-काल में किये थे। उसकी राधा का रूप केवल शृंगार और वासना को ही लेकर नहीं चला है। उसमें राधा एक स्वदेशानुरागिनी नायिका के रूप में

आई हैं, जिसने विश्व के साथ अपना दुःख मिला दिया है। यह दुःखियों की सेवा में अपने प्रिय वियोग जनित चिर दुःख को भुला देना चाहती है। वह अपनी पूर्ववर्ती सभी राधाओं से अधिक मुखर और चैतन्य है। दूसरी विशेषता यह है कि इसमें गोपियों के अतिरिक्त नन्द तथा यशोदा का भी सन्देश है।

सत्यनारायण कविरत्न : देशकाल व्यंजक

अब हम ब्रजभाषा के अन्तिम प्रतिनिधि कवि सत्यनारायण कविरत्न पर आते हैं। यहाँ सन्देश मथुरा से नहीं, वरन् गोकुल से मथुरा को जाता है और इस सन्देश को भेजने वाली कृष्ण की कोई प्रियतमा नहीं, वरन् यशोदा माता हैं जो अपने हृदय में पुत्र-वियोग की गहन वेदना को छिपाए हुए हैं। वे इस सन्देश के लिए भ्रमर को सबसे उपयुक्त दूत समझती हैं, क्योंकि उनको अपने पुत्र और भ्रमर में बड़ा भारी रूप-साम्य दिखाई देता है—"तेरौ तन घन-श्याम, श्याम घनश्याम उतै सुन" आदि। इस सन्देश में यशोदा माता ने अपने व्यक्तिगत दुःख का वर्णन न कर अपने देश की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं का मार्मिक वर्णन किया है। वर्तमान सभ्यता का अभिशाप, प्रवासियों की दुर्दशा, स्त्री-शिक्षा, स्त्रियों पर वर्तमान फैशन का प्रभाव, भारतीयों की दुर्दशा आदि के बड़े मार्मिक चित्र अंकित किये हैं; जैसे—"अब की गोपी मदभरी अधर चलें इतराय" तथा "जो तज मातृभूमि से ममता होत प्रवासी, तिन्हें विदेशी तंग करत दै विपदा भारी" आदि। सत्यनाराण के काव्य पर वर्तमान राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रभाव है। "अपनी-अपनी ढापुली, अपनो-अपनो राग" शब्द उस काल के विषम राजनीतिक वातावरण के प्रतीक हैं। इससे भावों के सौन्दर्य के साथ-साथ भाषा में संगीत और सौन्दर्य अधिक मिलता है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से भ्रमरगीतों की सरलता और मार्मिकता तथा श्रेष्ठ काव्य-सौन्दर्य का पता चल जाता है। हृदय की विवशता, अकाट्य तर्क, तीखे व्यंग्य, समाज और देश-प्रेम की भावना तथा तत्कालीन समस्याओं के सफल चित्रण हमें इस काव्य-परम्परा में देखने को मिल जाते हैं। इन सभी भ्रमरगीतों का मूल विषय एक ही रहा है, अन्तर केवल भिन्न-भिन्न कवियों की मौलिक कल्पनाओं और नवीन स्थापनाओं के रूप में मिलता है।

श्रृंगार-काल या रीतिकाल

(संवत १७०० से १६०० तक)

प्रश्न १—श्रृंगारकाल (रीतिकाल) की विभिन्न परिस्थितियों और विशेषताओं पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

उत्तर—श्रृंगार की सर्वव्यापी भावना

विभिन्न विद्वानों ने श्रृङ्गारकाल (रीतिकाल) को अनेक नामों से पुकारा है; जैसे—उत्तर-मध्यकाल, अलंकृत-काल, कला-काल, श्रृङ्गार-काल, रीतिकाल आदि। इस युग के वातावरण में अलंकरण, रीति-शैली, कला-साधना और श्रृङ्गार-भावना का ही प्राधान्य रहा है। उक्त चारों प्रवृत्तियों का इतना अधिक समन्वयात्मक सन्तुलन इस युग में देखा जा सकता है कि उनमें से किसी एक के आधार पर ही इस युग का नामकरण किया जा सकता है। आचार्य शुक्ल का दिया हुआ नाम **'रीतिकाल'** यद्यपि तत्कालीन लक्षण-उदाहरण-शैली की प्रमुख प्रवृत्ति को व्यक्त करता है, परन्तु रीतिबद्ध शैली से इतर रचनाएँ इस नाम द्वारा उपेक्षित रह जाती हैं। **'श्रृङ्गार-काल'** नाम तत्कालीन सम्पूर्ण कृतियों को समेट कर चलता है। आचार्य शुक्ल ने भी इसकी व्यापकता और सार्थकता को स्वीकार कर अन्त में कहा था—"वास्तव में श्रृङ्गार और वीर—दो रसों की कविता इस काल में हुई, प्रधानता श्रृङ्गार की रही। इससे इस काल को रस के विचार से कोई श्रृङ्गार-काल कहे तो कह सकता है।" श्रृङ्गार की प्रवृत्ति तत्कालीन काव्य, समाज तथा वातावरण की व्यापक प्रवृत्ति थी। काव्य का कोई भी अंग इससे अछूता नहीं रहा था। इसलिए प्रवृत्ति की प्रधानता की दृष्टि से इस युग को 'श्रृङ्गार-काल' कहना ही अधिक संगत और समीचीन प्रतीत होता है। इसीलिए हम 'रीतिकाल' को श्रृङ्गारकाल' कहना ही उचित समझते हैं। इस काल को यह नाम आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने दिया था।

समकालीन परिस्थितियाँ

श्रृङ्गार की इस सर्वव्यापी भावना के मूल में तत्कालीन परिस्थितियाँ पूर्ण

सहयोग दे रही थीं। यह काल संवत १७०० से १६०० तक माना गया है। यह समय मुगल-साम्राज्य की अवनति और विनाश का युग था; परन्तु इससे पूर्व यह शक्तिशाली मुगल-साम्राज्य देश में एकछत्र साम्राज्य और व्यवस्था स्थापित कर चुका था। छोटे-छोटे रजवाड़े आन्तरिक रूप में स्वतन्त्र थे। जहाँगीर और शाहजहाँ जैसे मुगल शासकों की कलाप्रियता से कला-कौशल को अतीव प्रोत्साहन मिला था। वह सौन्दर्य-उपासना का युग था। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के शासन-काल में काव्य, चित्रकला और संगीत तथा स्थापत्य कला की पर्याप्त उन्नति हुई थी। शाहजहाँ के शासन-काल के उत्तरार्द्ध तक इन ललित-कलाओं का रूप विकृत नहीं हो पाया था। परन्तु आगे चलकर औरंगजेब की धार्मिक असहिष्णुता ने एक बार पुनः देश की .शान्ति को भंग कर दिया। इससे हिन्दू-मुसलमानों में पार्थक्य की भावना का पुनः उदय हुआ। किन्तु दोनों ही जातियाँ जर्जर और पतित हो रही थीं—मुसलमान अपनी अत्यधिक विलास-प्रियता के कारण; और हिन्दू शासित और पददलित होने के कारण। इसलिए इसका प्रभाव साहित्य, कला आदि पर भी पड़ा। राज-ददबार विलासिता—शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की विलासिता, के केन्द्र बन गए थे।

विलासितापूर्ण वातावरण

औरंगजेब के उत्तराधिकारी अपने कर्मचारियों के हाथों को कठपुतखी मात्र थे। नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों ने देश के रहे-सहे नैतिक बल को भी समाप्त कर दिया था। इस काल में भी परम्परागत-काव्य तथा कला की पूजा बहुत कुछ चलती रही। छोटे-छोटे निर्बल परन्तु विलासी शासक कला-प्रेमी थे। उनके दरबारों में कलाकारों और कवियों को आश्रय प्राप्त होता था। अलंकरण तथा विलास के प्रति शासकों की बड़ी रुचि थी; अतः उनकी रुचि के अनुकूल कवियों को भी रचनाएँ करनी पड़ती थीं। राजाओं के सुन्दर महल, वस्त्राभूषण, भरे-पूरे रनिवास, नृत्य, संगीत, चित्रकला, मादक-द्रव्य, हास्य-विनोद आदि के दरबारी वातावरण ने जनसाधारण और शासकों के मध्य एक गहरी खाई उत्पन्न कर दी थी। जनता त्रस्त और दुःखी थी। शासक उस पर मनमाना अत्याचार करते रहते थे।

कला : जीविका उपार्जन का साधन

इस राजनीतिक परिस्थिति का समाज पर पूर्ण प्रभाव था। शृङ्गार और

विलास की प्रधानता रहने से भक्ति की धारा मन्द हो गई थी। जन-साधारण विपन्न और निर्धन था। बाल-विवाह तथा बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। सुन्दर दासियों की माँग दरबारों में बढ़ रही थी। अमीर नैतिक आदर्शों से पतित हो गये थे। प्रत्येक दरबार स्वयं में ही केन्द्रित रहता था। विभिन्न प्रदेशों के पारस्परिक सम्बन्ध विच्छिन्न हो गये थे। इससे समाज की आत्मा संकुचित हो गई थी। अन्धभ्रान्तियों और अन्धरूढ़ियों की जड़ें समाज में गहरी पैठती जा रही थीं। कला वासना-पूर्ति का साधन बन गई थी और इस कला का आलम्बन नारी बनी हुई थी। नारी का सांगोपांग चित्रण कलाकारों का आदर्श बन गया था। उसके जीवन के एक-एक पक्ष और शरीर के एक-एक अंग का सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रण कर कविगण अपनी तथा अपने आश्रयदाताओं की वासना तृप्त करने में लगे रहते थे। अपंगु वीरता का अतिशयोक्तिपूर्ण गान भी खूब होता था। आश्रित कवि अपने प्रभुओं को चमत्कारपूर्ण छन्द सुनाकर तत्काल पुरस्कार प्राप्त करने में ही अपनी काव्य-कला की चरम सार्थकता और अपना कल्याण समझते रहे। इस युग में कविता जीविकोपार्जन का साधन बन गयी थी, इसीलिए धन और सुख-सुविधा के लालची कवि राज-दरबारों में आश्रय पाने लगे थे।

भक्ति का मलिन वासनात्मक रूप

धार्मिक क्षेत्र में कोई नई उद्भावना नहीं हुई। सम्प्रदाय पन्थों का रूप धारण करने लगे। कृष्ण-भक्तों की शृङ्गारिकता ने जनता को आकर्षित किया। कृष्ण और राधा की अनुराग-लीलाओं के साथ जनता का हार्दिक तादात्म्य हो चुका था और शनैः-शनैः यह रासलीला-प्रसंग ही लौकिक शृंगार के चरम उत्कर्ष का प्रतीक बन गया। राधा-कृष्ण के रागात्मक स्वरूप के समक्ष रामोपासना की शुष्क मर्यादावादी धारा फीकी पड़ गई। राधा-कृष्ण की आड़ में रीतिकालीन कवियों ने अपनी कुत्सित वासनाओं का नग्न चित्रण किया। रागानुगा भक्ति ने वासनात्मक लौकिक प्रेम का रूप धारण कर लिया।

दो प्रकार का काव्य-सृजन

साहित्यिक क्षेत्र में संस्कृति के रीति-ग्रन्थों एवं फारसी की ऊहात्मक प्रवृत्ति का प्रभाव गहरा पड़ रहा था। इस काल में प्रमुख रूप से दो प्रकार के साहित्य का निर्माण हुआ—राज्याश्रय-प्राप्त साहित्य और लोक-साहित्य। राज्याश्रय-प्राप्त साहित्य शृङ्गारी और काव्यशास्त्र के प्रेमी दरबारी कवियों द्वारा उद्भूत

हुआ और लोक-साहित्य—भूषण, लाल और सूदन जैसे कवियों द्वारा, यद्यपि ये भी राज्याश्रय-प्राप्त कवि थे। पहले में विलास की तीव्र गन्ध थी और दूसरे में वीरत्व की सजग भावना। साथ ही, नीति-परक और भक्ति-विषयक साहित्य भी इस काल में काफी लिखा गया; परन्तु संस्कृत के रीति-साहित्य (काव्यशास्त्र) का प्रभाव इस युग में इतना व्यापक रहा कि इससे भूषण जैसा कवि भी न बच सका। उन्हें भी काव्य-शास्त्र के लक्षण-ग्रन्थ लिखने पड़े। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि इस युग के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में भी, उदाहरणों के रूप में, शृंगार की ही प्रधानता मिलती है।

प्रमुख प्रवृत्तियाँ

रीतिकाल में प्रमुख रूप से **सात प्रधान प्रवृत्तियाँ** लक्षित होती हैं—

१—लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण,
२—लौकिक शृंगार की व्यंजना,
३—कलापक्ष की प्रधानता,
४—प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण,
५—मुक्तक काव्य-रचना,
६—विरक्ति की भावना,
७—वीर काव्य।

(१) **लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण**—इस युग से पूर्व संस्कृत का साहित्य-शास्त्र पर्याप्त विकसित हो चुका था। भामह, उद्भट, मम्मट, जयदेव, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि संस्कृत-काव्यशास्त्र के आचार्यों ने काव्यांगों का विराट् और विषद विवेचन किया था। इसीलिए मम्मट का 'काव्य-प्रकाश' जयदेव का 'चन्द्रालोक' और विश्वनाथ का 'साहित्य-दर्पण आदि ग्रन्थ हिन्दी के लक्षण-ग्रन्थों के मूलाधार रहे। वातावरण के अनुकूल रस-मीमांसा में शृङ्गार रस की ही प्रधानता रही। हिन्दी-काव्य भक्ति-युग में अपनी सुघड़ता और सौन्दर्य में प्रौढ़ता तक पहुँच चुका था, इसलिए शृंगारकाल तक आते-आते काव्य के विभिन्न अंगों—रस, अलंकार, छन्द आदि के विवेचन की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। केशव ने सर्वप्रथम शास्त्रीय पद्धति पर रस व अलंकारों का निरूपण किया; किन्तु आचार्य शुक्ल के अनुसार लक्षण-ग्रन्थों की अखण्ड परम्परा चिन्तामणि त्रिपाठी से चली। इस प्रवृत्ति के वशीभूत होकर अब काव्य-रचना में हृदय की मार्मिक अनुभूतियों का चित्राङ्कन न होकर केवल छन्द, शब्द-शक्ति, नायिका-भेद और अलंकारों के उदाहरण दिये जाने लगे। संस्कृत-काव्य-शास्त्र के गहरे प्रभाव ने हिन्दी के लक्षणकारों में चिन्ता-पारतंत्र्य की गहरी भावना उत्पन्न कर दी थी, इसलिए इनमें मौलिकता का

अभाव रहा। केवल कुछ ग्रन्थों को छोड़कर, जो नख-शिख, षट्ऋतु, अलक-शतक जैसे बँधे हुए विषयों को लेकर चले, शेष सारा काव्य रसों, अलंकारों और छन्दों के उदाहरणों के रूप में ही रचा गया है।

(२) **मौलिक शृङ्गार की व्यंजना**—इस काल में भक्तों के राधा-कृष्ण शृंगारी कवियों के हाथों में पड़कर साधारण विलासी नायक-नायिका मात्र रह गए। उन्हीं को आलम्बन बनाकर रीतिकालीन कवियों ने अपनी उत्कट शृङ्गार-भावना की कलापूर्ण व्यंजना की। नारी के प्रति इन कवियों की अनन्य आसक्ति थी। उन्होंने उसके अंगों को सराहा था, उसके स्वभाव को समझा था और उसके जीवन के साथ काव्य के रूप में काल्पनिक क्रीड़ा की थी। 'आँख मूँदिबों' खेलने की आयु से लेकर निस्संकोच 'बालम सों दृग' जोड़ने तक की नारी की विभिन्न स्थितियों का उन्होंने गहरा अनुभव प्राप्त किया था, परन्तु उनके इस वर्णन में कोई नवीनता न थी, क्योंकि प्राचीन उपमानों के आधार पर ही वह वर्णन पूर्ण हुआ था। वह वर्णन संस्कृत, प्राकृत के पुराने ग्रन्थों के शृंगार-वर्णन का अनुवाद मात्र था। परिणाम यह हुआ कि शृङ्गार-वर्णन रूढ़ हो गया। अपनी प्रतिभा द्वारा वे सौन्दर्य के नवीन उपमानों की उद्भावना नहीं कर सके। लौकिक शृङ्गार की यह भावना तीन कारणों से आई—(१) संस्कृत के स्तोत्र साहित्य, जयदेव के गीतगोविन्द, विद्यापति की पदावली और सूर की शृंगारात्मक भक्ति का प्रभाव। "भक्ति और शृंगार का यह सम्मिश्रण भक्तों के लिए तो आध्यात्मिक अनुभूति प्रदान करने में समर्थ था, किन्तु जनसाधारण के लिए वह कोरा शृंगार मात्र था।" (२) संस्कृत के सप्तशती-साहित्य का प्रभाव। अमरुक शतक तथा आर्यासप्तशती में जन-जीवन का शृंगारात्मक चित्रण हुआ था, जिससे इन रीतिकालीन हिन्दी कवियों को पर्याप्त प्रेरणा मिली। (३) कामशास्त्र का प्रभाव। नायिका-भेद, काम-क्रीड़ा आदि के अनेक चित्र अपने विस्तृत रूप से इसी कारण प्राप्त होते हैं। कुछ आलोचक शृंगार की अधिकता का उत्तरदायित्व पूर्ण रूप से कृष्ण-भक्त कवियों पर डालते हैं, जो गलत है।

(३) **कलापक्ष की प्रधानता**—रीति-युग में भावना की सुकुमारता, अनुभूति की सत्यता एवं कल्पना की मौलिकता पर उतना ध्यान नहीं दिया गया, जितना कि उक्ति की वक्र व्यंजना पर, जिससे केवल चमत्कार उत्पन्न हो सकता था। इस युग में रचित काव्य में काव्य के बाह्य उपकरण—अलंकार, छन्द

आदि का सम्यक् निर्वाह हुआ है। कवि की दृष्टि काव्य की आत्मा 'रस' से हटकर कला, की ओर गई। इसी कारण 'रसाल' जी ने इस काल को 'कला-काल, माना है। इसमें काव्य का भावपक्ष उपेक्षित-सा रह गया। कविगण अपने वर्ण्य-विषय को 'शैली की दृष्टि से' अधिक से अधिक सुन्दर तथा प्रभाव-शाली बनाने के प्रयत्न में लगे रहे। इस काल में इस बात पर विशेष बल दिया गया कि बात कैसे कही जाय, न कि बात क्या कही जाय। कल्पना की उड़ान, वाग्वैदग्ध्य, चमत्कार-वृत्ति आदि गुण तत्कालीन फारसी-साहित्य तथा उत्तरकालीन संस्कृत-साहित्य की परम्परा से इन कवियों को प्राप्त हुए। भाषा सम्बन्धी कलात्मकता बहुत-कुछ संस्कृत-साहित्य के प्रभाव से आई। उस युग में संस्कृत का अलंकार-सम्प्रदाय बहुत लोकप्रिय था। इसी कारण रीति काल का काव्य एक तरह से अलंकारों का समृद्ध कोश बन गया। भाषा में अवधी और व्रज का मिश्रण था। परन्तु प्रधानता व्रजभाषा की ही रही। फारसी शब्दों का भी सुन्दर प्रयोग हुआ। दोहा, कवित्त और सवैया की प्रधानता रही। चित्र-काव्य-रचना की ओर भी कुछ कवियों का झुकाव था। इन कला-कारों में आचार्य और कवि का भेद जाता रहा। एक ही व्यक्ति ने दोनों का कार्य सम्पादन करने की चेष्टा की। इससे काव्य-सौन्दर्य में तो वृद्धि हुई, परन्तु चिन्तन की नई परम्पराएँ उत्पन्न न हो सकीं।

(४) **प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण**—प्रकृति का चित्रण नायक-नायिका की मानसिक दशा के अनुकूल किया गया। संयोग में प्रकृति का खिला हुआ उन्मादकारी रूप और वियोग में उसके त्रासदायक रूप का चित्रण हुआ। संयोग के समय के सुखदायी उपकरण वियोग के समय दुःखदायी बन जाते थे। इस काव्य में स्वतन्त्र प्रकृति-निरीक्षण का अभाव रहा। आलम्बन के रूप में प्रकृति का चित्रण कम हुआ। यह प्रकृति-चित्रण प्रायः षट्ऋतु-वर्णन और बारहमासा के रूप में किया गया। प्रकृति-चित्रण का मूल रूप उद्दीपनकारी ही रहा। आलम्बर रूप में प्रकृति का चित्रण सेनापति आदि कुछ कवियों के ही काव्य में हुआ मिलता है। इनकी प्रकृति भी स्वच्छन्द और स्वाभाविक न रह विलास और शब्द क्रीड़ा का एक उपकरण मात्र बन कर रह गई थी।

(५) **मुक्तक काव्य-रचना**—इस युग का अधिकांश काव्य मुक्तक के रूप में ही रचा गया। इसके दो कारण माने गये—(१) इन कवियों के आश्रय-

दाताओं में लम्बे-लम्बे प्रबन्धकाव्य सुनने का धैर्य नहीं था। कवि को केवल इतना ही अवसर था कि अपने स्वामी की रुचि देखकर एक-दो पदों में काव्य-रचना कर उसका मनोरजंन कर सके। इससे मौलिकता का ही ह्रास हुआ। (२) इन कवियों में जीवन का सर्वाङ्गीण चित्रण करने की क्षमता नहीं थी। वे केवल स्थूल सौन्दर्य को लेकर काव्य-क्षेत्र में अवतरित हुए थे और इसके लिए मुक्तक का कलेवर ही अधिक उपयुक्त था। चमत्कारपूर्ण दोहा-साहित्य का बाहुल्य इसी के कारण हुआ। परन्तु इस काल में प्रबन्ध-काव्य भी प्रचुर मात्रा में लिखे गये थे, जिनकी संख्या ३५० के लगभग है। इन प्रबन्ध-काव्यों में पौराणिक गाथाओं को प्रस्तुत किया गया। इनमें से कुछ प्रबन्ध-काव्य श्रेष्ठ रचनाएँ हैं। परन्तु मुक्तक के सामने ये प्रचार और प्रसिद्धि पाने में असमर्थ रहे। इसी कारण इतिहासकारों और आलोचकों द्वारा भी ये प्रबन्ध-काव्य उपेक्षित से बने रहे।

(६) **विरक्ति की भावना**—लगभग सभी रीतिकालीन कवियों ने थोड़ी-बहुत भक्ति-सम्बन्धी रचना भी कीं। राम, शिव, दुर्गा, गंगा आदि देवी-देवताओं की स्तुति इन्होंने पूर्ण भक्ति के साथ की। यह भक्ति-भावना उनकी व्यक्तिगत आध्यात्मिक अनुभूतियों का उद्‌गार थी। शृंगार की अतिशयता में आकंठ निमग्न इन कवियों की सम्पूर्ण आत्म-ग्लानि और असहायता के दर्शन इन कविताओं में मिल जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वे अपने संसारी जीवन की निष्फलता तथा तुच्छता से पूर्णतया अवगत होकर जीवन के अन्तिम काल में, इन अनुभूतियों के क्षणों में, भगवद्‌शरण प्राप्त कर अपने जीवन को सार्थक-सफल कर लेना चाहते थे। इसमें उनकी परिस्थितिजन्य विवशता और ईमानदारी—दोनों ही ध्वनित होती हैं।

(७) **वीर-काव्य**—मुसलमानी शासन के विरुद्ध मराठे, सिक्ख और कुछ रजवाड़े विद्रोह कर उठे। एक हिन्दू-राष्ट्र की भावना ने इस विद्रोह को प्रशस्त किया था। इसी कारण भूषण, लाल, सूदन, पद्‌माकर आदि कवियों ने हिन्दू वीरों की वीरता की प्रशस्तियाँ गायीं।

शृंगारकालीन काव्य की न्यूनताएँ

बाबू गुलाबराय ने अपने इतिहास में शृंगारकाल की न्यूनताओं का भी वर्णन किया है—(१) काव्यांगों के विवेचन के साथ शब्द-शक्ति का यथोचित विवेचन नहीं हुआ। (२) नाट्‌य-शास्त्र के विवेचन का भी अभाव रहा, क्योंकि

हिन्दी में नाटक के लक्षण-ग्रंथ नहीं थे। (३) विषयों का संकोच हो गया। कवि परम्परा का अनुगमन कर रहे थे। इससे व्यक्तिगत प्रतिभा का प्रदर्शन कम हुआ। (४) इतना अवश्य कहा जायगा कि यद्यपि ये कवि जीवन की अनेकरूपता को अपने काव्य में न ला सके, तथापि इन्होंने शृंगार के संकुचित क्षेत्र में पारिवारिक जीवन को बाँधकर सौन्दर्य-दर्शन की चेष्टा अवश्य की।

इसके अतिरिक्त इस युग में नीति शास्त्र सम्बन्धी रचनाएँ भी प्रचुर मात्रा में हुईं तथा अनेक कवियों ने शालिहोत्र, पाकशास्त्र आदि नाना प्रकार के विषयों को भी अपनाया। परन्तु इनमें साहित्यिक सौन्दर्य की न्यूनता रहने के कारण इन्हें साहित्यिक-विवेचन ने अन्तर्गत स्वीकार नही किया जा सकता। नीतिकाव्य के क्षेत्र में इस युग को सर्वाधिक समृद्ध माना जा सकता है।

प्रश्न २—हिन्दी-रीति-साहित्य पर संस्कृत-रीति-साहित्य के प्रभाव का विश्लेषण कीजिए। साथ ही, रीति-ग्रन्थों की परम्परा पर भी प्रकाश डालिये।

उत्तर—'रीति' से अभिप्राय

रीति-काव्य का विवेचन करने से पहले 'रीति' शब्द का वास्तविक अर्थ समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। प्राचीन संस्कृत आचार्यों ने काव्य की आत्मा खोजने का प्रयत्न किया, जिसके परिणामस्वरूप काव्यात्मा को स्पष्ट करने वाले छह सम्प्रदाय उठ खड़े हुए—रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और औचित्य। इन सम्प्रदायों ने इन्हीं विभिन्न तत्त्वों को काव्य की आत्मा या प्रमुख तत्त्व के रूप में घोषित किया। डाक्टर भगीरथ मिश्र 'रीति' की परिभाषा करते हुए लिखते हैं—"इन्हीं में एक सम्प्रदाय 'रीति' सम्प्रदाय है जो 'रीति' मार्ग या शैली को काव्य की आत्मा मानता है। इसके अनुसार 'रीति' विशिष्ट, विलक्षण या चमत्कारिक पद-रचना है (विशिष्ट पद-रचना रीतिः—वामन)"। परन्तु जब हम हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत 'रीति' शब्द का व्यवहार करते हैं, तब हमारा तात्पर्य इस प्रकार की विशिष्ट पद-रचना से नहीं होता; वरन् उपर्युक्त सभी काव्य-सिद्धान्तों के आधार पर काव्यांगों के लक्षण सहित या उनके आधार पर लिखे गये उदाहरणों से होता है। अतएव हिन्दी में 'रीतिकाव्य' का अपना एक विशिष्ट अर्थ है—"लक्षणों के साथ अथवा अकेले उनके आधार पर लिखा गया काव्य।" इसमें विभिन्न काव्यांगों के लक्षण और उदाहरण दोनों ही दिए जाते हैं।

प्रेरणा-स्रोत : संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थ

रीति-काव्य की प्रेरणा का मूल स्रोत संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थ, शृंगार-विलास, अलंकार, नायिका भेद, नायक-नायिका का नख-शिख वर्णन और उनकी नाना प्रकार की विलास-क्रीड़ाएँ रही हैं। संस्कृत के उपर्युक्त छह सम्प्रदायों में से ध्वनि-सम्प्रदाय प्रधान माना गया है। 'रीति', 'औचित्य' और 'वक्रोक्ति' सम्प्रदाय तो अधिक जीवित भी न रह सके। इस प्रकार हिन्दी के रीति-काव्यों के सम्मुख तीन काव्य-सम्प्रदाय ही महत्त्वपूर्ण रह गये थे—ध्वनि, रस और अलंकार।

ध्वनिवादी आचार्य

ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आनन्दवर्धनाचार्य थे। मम्मट ने इसे और परिष्कृत किया। हिन्दी के शृंगारकालीन ध्वनि-सम्प्रदाय के विवेचकों ने प्रायः मम्मट का ही अनुकरण किया था। इनमें कुलपति, श्रीपति, भिखारी दास, प्रतापसाहि आदि प्रमुख थे। हिन्दी में ध्वनि का सर्वोत्तम रूप बिहारी और प्रतापसाहि में मिलता है। बिहारी ने कोई लक्षण-ग्रन्थ नहीं लिखा, परन्तु उनकी प्रवृत्ति ध्वनि के अनुकूल थी। ध्वनिवाद में गहन रसानुभूति के साथ बौद्धिक आनन्द को विशेष महत्त्व दिया जाता है।

रसवादी

रस की शास्त्रीय विवेचना सर्वप्रथम भरतमुनि ने की थी। हिन्दी में मतिराम, देव, रसलीन, बेनीप्रवीन जैसे कवि-आचार्य और घनानन्द, ठाकुर, आलम, नेबाज, बोधा आदि स्वच्छन्द प्रवत्ति के रीतिकालीन कवि वस्तुतः पूर्ण रसवादी थे। वातावरण के अनुकूल रस-मीमांसा में शृंगार रस की प्रधानता रही, अन्य रसों का केवल स्पर्शमात्र हुआ और शृंगार में भी नायिका-भेद मुख्य हो गया, क्योंकि उसी के आधार पर सौन्दर्य का चित्रण सम्भव था। काव्यगत रस-मान्यता के अतिरिक्त इन कवियों के रीति-संकेत भी इसी प्रवृत्ति के द्योतक थे।

अलंकारवादी

अलंकार-सम्प्रदाय का प्रभाव रीतिकालीन काव्य पर गहरा और विस्तृत पड़ा। सर्वप्रथम भरतमुनि ने नाट्य-शास्त्र में अलंकारों का विवेचन किया। आगे चलकर भामह, उद्भट आदि ने इस विवेचन को विस्तार दिया। हिन्दी में केशवदास, राजा जसवन्तसिंह, उत्तमचन्द भण्डारी और ग्वाल कवि अलंकार

के विशेष प्रेमी थे। इस प्रकार रीति-काव्य में ध्वनि, रस और अलंकार सम्प्रदायों का विशेष प्रभाव रहा। इनमें भी 'रस' का प्रभाव सर्वाधिक था। संस्कृत-ग्रन्थों में मम्मट के 'काव्य-प्रकाश', जयदेव के 'चन्द्रलोक' और विश्वनाथ के 'साहित्य-दर्पण'—इन तीन ग्रन्थों ने शृंगारकालीन हिन्दी-साहित्य को विशेष रूप से प्रभावित किया था।

काव्यशास्त्र का अपूर्ण विवेचन

हिन्दी-रीतिकाव्य में संस्कृत-रीतिकाव्य का अनुकरण किया तो गया, परन्तु उसमें पूर्णता नहीं आ पाई। इसमें संस्कृत-लक्षण-ग्रन्थों के समान समस्त काव्य-सिद्धान्तों का न तो पूर्ण विवेचन ही हो सका, और न विकास ही। संस्कृत में उपर्युक्त छह काव्य-सम्प्रदायों पर उच्चकोटि के ग्रन्थ लिखे गये थे; परन्तु हिन्दी-रीतिकाव्य अलंकार, रस और ध्वनि के ही लक्षण और उदाहरण देने में मग्न रहा। रीति और वक्रोक्ति की विवेचना न के बराबर हुई। वक्रोक्ति एक विशेष अलंकार के रूप तक ही सीमित रही और रीति का संकेत-मात्र हुआ। इतना ही नहीं, रस विवेचन में भी गम्भीरता और पूर्णता नहीं आ पाई। हिन्दी में समस्त रसों और रसांगों की विस्तृत व्याख्या करने वाले ग्रन्थ बहुत कम हैं। अलंकारों के लक्षण लिखकर उनके उदाहरण लिखने वाले ग्रन्थ प्रचुर परिमाण में हैं, परन्तु अलंकारों के भेदों का विवेचन और अलंकार-तत्त्व पर सैद्धान्तिक प्रकाश डालने वाले ग्रन्थों का अभाव है। इस न्यूनता का कारण यह है कि इन कवियों के सम्मुख कोई वास्तविक काव्य-शास्त्रीय समस्या नहीं थी। इनका उद्देश्य—विद्वानों के लिए काव्य-शास्त्र के ग्रन्थों का निर्माण करना नहीं था, वरन् कवियों और साहित्य-रसिकों को काव्य-शास्त्र के विषय से परिचित कराना तथा कविता करने में उनका पथ-प्रदर्शन करना मात्र था। इसी कारण इनमें खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति नहीं मिलती। अतः इसके द्वारा भारतीय काव्यशास्त्र का कोई महत्त्वपूर्ण विकास नहीं हो पाया। यही कारण है कि रीतिकाल में काव्यशास्त्र के ऐसे ग्रन्थ नहीं लिखे जा सके जिन्हें मौलिक और काव्यशास्त्र का विकास करने वाला माना जा सके। फिर भी इन लक्षणों के उदाहरणों रूप में हिन्दी के इन लक्षण-ग्रन्थ लिखने वाले कवियों ने सुन्दर काव्य का सृजन किया। इस बात में ये कवि संस्कृत के लक्षणकारों से आगे बढ़े हुए थे। इसका कारण यह था कि ये कवि-आचार्य मूलतः अत्यन्त भावुक और सहृदय कवि ही थे। लक्षण-निरूपण

में उनका मन अधिक नहीं रमता था। अतः उनके काव्य में रसों और अलंकारों के बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण प्रचुर मात्रा में प्रस्तुत हुए। इन्हें पढ़कर आचार्य शुक्ल जैसे कट्टर मर्यादावादी आलोचक को भी स्वीकार करना पड़ा कि—"ऐसे सरस मनोहर उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षण-ग्रन्थों से चुनकर इकट्ठे करें तो भी उनकी संख्या इतनी अधिक न होगी।" इसे हिन्दी रीति-काव्य की एक बहुत बड़ी उपलब्धि माना जा सकता है।

केशव : रीति परम्परा के प्रथम आचार्य

भक्ति-काल के उत्तरार्द्ध में रीति-काव्य की परम्परा स्थापित हुई। इस परम्परा के सर्वप्रथम कवि आचार्य केशवदास हैं। उनकी 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' नामक पुस्तकें इस परम्परा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। रीति-काव्य के रूप में लिखा गया सर्वप्रथम ग्रन्थ भक्तिकाल का कृपाराम का 'हिततरंगिणी' है। इसका आधार भरत मुनि का 'नाट्य-शास्त्र' है और इसके बाद रचित भानुदत्त की 'रसमंजरी' का आधार भी यही ग्रन्थ है। इनके अतिरिक्त मोहनलाल मिश्र का 'शृङ्गार-सागर' (सं० १६१६) तथा करनेस बन्दीजन के अलंकारों पर लिखे गये 'करणाभरण', 'श्रुतिभूषण' और भूप-भूषण' नामक ग्रन्थ भी केशव से पहले लिखे गये थे; परन्तु इनमें से कोई भी ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसलिए केशव ही इस परम्परा के प्रथम कवि माने जा सकते हैं।

रीति परम्परा का विकास

केशव ने ही हिन्दी में शुद्ध साहित्य-शास्त्र-रचना का एक नवीन मार्ग खोला था। उन्होंने अपनी उपर्युक्त दोनों पुस्तकों 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' में काव्यशास्त्र के सभी अंगों का सोदाहरण विवेचन किया। केशव चमत्कार वादी और अलंकार सिद्धान्त पर आस्था रखने वाले कवि थे। उनकी रचनाओं का आधार संस्कृत के भामह, दण्डी, उद्भट आदि आचार्य और 'अलंकार-शेखर', 'काव्य-कल्पलता' आदि संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थ थे। लक्षणकारों में केशव के उपरान्त चिन्तामणि का नाम आता है। उन्होंने अत्यन्त सरल रूप में काव्य-शास्त्र की व्याख्या की। आचार्य शुक्ल के अनुसार; लक्षणकारों में चिन्तामणि से बढ़कर सुगम, स्मरणीय लक्षण देने वाला और दूसरा आचार्य नहीं मिलता। इनके उपलब्ध ग्रन्थों में 'पिंगल', 'रसमजरी', 'शृङ्गारमंजरी' 'कविकुल

कल्पतरु' हैं। आगे के कवियों ने चिन्तामणि की पद्धति को ही स्वीकार किया। चिन्तामणि के साथ ही भूषण और मतिराम की भी गणना की जाती है। इनमें से भूषण ने वीर रस को और मतिराम ने शृङ्गार रस को अपनाया। दोनों में ही विलक्षण काव्य-प्रतिभा थी। दोनों के ही भीतर प्रबन्ध-काव्य रचना की प्रतिभा भी थी; परन्तु युग की परम्परा और प्रवाह से प्रभावित होकर उन्होंने मुक्तक रीति-ग्रन्थों की ही रचना की। आचार्य शुक्ल के अनुसार— "रीति-पद्धति को लेकर वीर-काव्य को लिखने वाला भूषण के समान दूसरा कवि नहीं, जबकि भावों की मनोरम सुकुमारता में मतिराम अद्वितीय हैं।"

अन्य प्रमुख रीति-ग्रन्थकार

रीतिकाल की प्रथम अर्द्ध-शताब्दी में कुलपति, सुखदेव और देव के नाम विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। कुलपति ने 'काव्य-प्रकाश' के आधार पर 'रस-रहस्य' नामक अपने ग्रन्थ में 'ध्वनि' का विवेचन किया। सुखदेव ने लगभग ७१ ग्रन्थ लिखे। इनमें छन्दों और रसों का विवेचन किया गया है। इनके उदाहरण काव्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण और सरस हैं। देव के ग्रन्थों में विचार की स्पष्टता, वर्गीकरण की मौलिकता तथा उदाहरणों की रमणीयता द्रष्टव्य है। इनके लक्षणों से इनके उदाहरण अधिक मौलिक, मार्मिक सरल और सरस हैं। ये शब्द-शक्ति के मर्मज्ञ माने जाते हैं। शब्दों और वर्णों का सन्तुलन कर, उनकी भावानुकूल गति की व्यवस्था करना देव की विशेषता है। समिष्ट रूप से, उपर्युक्त सभी कवियों में आचार्यत्व की प्रधानता रही। परन्तु उनकी काव्य-प्रतिभा भी उच्चकोटि की थी, इसमें सन्देह नहीं।

लक्षण-रहित रीतिकवि : बिहारी

'पूर्ण पाण्डित्य और व्यापक विदग्धता को लेकर मर्मस्पर्शी, ललित काव्य के प्रणेता, बिहारी भी इसी काल में हुए थे। इनकी 'सतसई' लक्षण-रहित रीति-ग्रन्थ है। इसमें लगभग सभी पद्धतियों के सुन्दर उदाहरण मिल जाते हैं। अलंकार, रस, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि—सभी 'गागर सागरवत्' इनकी सतसई में प्राप्त हो जाते हैं। ये बड़े सजग और सूक्ष्म दृष्टि-सम्पन्न कलाकार थे। छोटे-से दोहे में एक सम्पूर्ण दृश्य को अपनी पूर्ण सुन्दरता और क्रिया-कलाप के साथ स्पष्ट कर देना बिहारी की सबसे बड़ी विशेषता है। ये हिन्दी-साहित्य के गौरव हैं। सतसई के दोहे इसके प्रमाण-स्वरूप उपस्थित

किये जा सकते हैं। हिन्दी में बिहारी को दोहा-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ कवि माना जाता है।

देव के उपरान्त रीति-काव्य का खूब विस्तार हुआ—कालिदास, सूरति मिश्र, श्रीपति सोमनाथ आदि ने इस परम्परा को खूब आगे बढ़ाया। कालिदास का 'कालिदास हजारा' एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें एक हजार कवियों की रचनाओं का संग्रह है। सूरति मिश्र ने अपने 'काव्य-सिद्धान्त' में काव्य-शास्त्र के सभी अंगों का सुन्दर और सुलझा हुआ विवेचन किया है। श्रीपति ने अपने ग्रन्थ 'काव्य-सरोज' में काव्य-स्वरूप, काव्य-कारण, प्रयोजन, दोष, गुण, अलंकार आदि पर विचार किया है। श्रीपति पहले आचार्य हैं, जिन्होंने अपने पूर्ववर्ती केशव आदि की रचनाओं के दोषों का विवेचन किया था। सोमनाथ का 'रस-पीयूष निधि' एक विशाल ग्रन्थ है, जिसमें काव्य-शास्त्र का सुन्दर और विस्तृत विवेचन किया गया है। सोमनाथ 'व्यंग्य' को ही काव्य का प्राण मानते हैं। इन्होंने पद्य-लक्षणों के साथ उनकी व्याख्या ब्रजभाषा-गद्य में भी की है।

भिखारीदास

भिखारीदास रीतिकाल के अन्तिम बड़े आचार्य थे। इनमें काव्य प्रतिभा के साथ-साथ काव्य-शास्त्र का भी ज्ञान था। इनके ग्रन्थों में 'काव्य-निर्णय', 'शृङ्गार निर्माण', 'छन्दोर्णव विषय' और 'रस-सारांश' विशेष प्रसिद्ध हैं। इनका विवेचन स्पष्ट और वैज्ञानिक है। कतिपय नवीन प्रसंगों; जैसे—अलंकारों का वर्गीकरण, काव्य-भाषा और तुक आदि पर इन्होंने मौलिक रूप से प्रकाश डाला। 'दूलह' कवि ने 'कविकुल-कण्ठाभरण' और बैरीसाल ने 'भाषा-भरण नामक ग्रन्थ अलंकारों पर लिखे थे।

पद्माकर

रीतिकाल के अन्तिम प्रसिद्ध कवि पद्माकर रीति-परम्परा के अन्तिम प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। इनके 'पद्माभरण' और 'जगद्विनोद' इसी रीति-पद्धति के ग्रन्थ हैं। इनके काव्य में रसिकता, सौन्दर्य, प्रेम और विलास के अत्यन्त मनोरम चित्र मिलते हैं। वर्ण-साम्य और शब्द-मैत्री—इनकी विशेषता है। बेनी कवि का 'नवरस तरंग' भी काव्य की दृष्टि से सुन्दर है; परन्तु इनके लक्षण अच्छे नहीं हैं। प्रतापसिंह का 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' नामक ग्रन्थ नायिका-भेद, अलंकार, व्यंग्यार्थ आदि के साथ-साथ अपनी गूढ़ता के लिए प्रसिद्ध है। स्वच्छन्द रीति से कविता लिखने वाले कवियों में घनानन्द, बोधा, ठाकुर,

आलम, नेवाज आदि प्रमुख हैं। इन्होंने कोई लक्षण-ग्रन्थ नहीं लिखा; परन्तु इनके काव्य में उदाहरणों के सुन्दर रूप मिलते हैं। फिर भी इन्हें रीति-काव्य का कवि नहीं माना जा सकता। क्योंकि श्रेष्ठ कवियों के काव्य में काव्यशास्त्र के विभिन्न अंगों के सुन्दर उदाहरण भरे पड़े रहते ही हैं।

रीति-काव्य की यही परम्परा आधुनिक काल तक चली आई है। इस काल के ग्रन्थों के लक्षणों की व्याख्या गद्य में और उदाहरण पद्य में दिये गए हैं। उदाहरण प्राय: प्राचीन या समकालीन ग्रन्थों से उद्धृत किये गए हैं। आधुनिक युग में विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न अधिक हुआ है। (इनका विवेचन आगे चलकर आधुनिक-काल के अन्तर्गत किया जायगा।)

प्रमुख विशेषताएँ

रीति-काव्य की प्रमुख विशेषताएँ—एक प्रसिद्ध आलोचक के शब्दों में निम्नलिखित हैं—

(१) हिन्दी के रीतिकालीन लक्षण-ग्रन्थों के आधारभूत ग्रन्थ संस्कृत अथवा पूर्ववर्ती हिन्दी काव्य-शास्त्र के ग्रन्थ हैं। (२) इनमें काव्य की विशेषताओं को समझने और समझाने का प्रयत्न किया गया है। (३) सैद्धान्तिक रूप से काव्य-समस्याओं का भी पूर्ण विवेचन और समाधान हुआ नहीं मिलता। (४) इस पद्धति पर लिखे गये काव्य के लक्षणों की अपेक्षा उदाहरण अधिक प्रसिद्ध और लोकप्रिय रहें हैं। (५) उदाहरणों में अधिकांश बड़े ही सुन्दर और उत्कृष्ट हैं। (६) उनमें भाषा का परिमार्जन, सौष्ठव और प्रौढ़ता, उक्ति का वैचित्र्य और चमत्कार तथा भाषा की मर्मस्पर्शिनी अभिव्यंजना मिलती है। उदाहरणों के रूप में अधिकांशत: शृंगार को ही महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। कवित्व की दृष्टि से यह काव्य बड़ा मनोरम और समृद्ध है।

प्रश्न ३—"हिन्दी में लक्षण-ग्रन्थों की परिपाटी पर रचना करने वाले सैकड़ों कवि—आचार्य-कोटि में नहीं आ सकते।" विवेचना कीजिए।

उत्तर—हिन्दी-साहित्य के मिश्र-बन्धु आदि आरम्भिक आलोचक शृंगार-कालीन कवियों को आचार्य और कवि—दोंनों ही मानते थे। उनका मत था कि वे साहित्यशास्त्र के पारंगत आचार्य थे, परन्तु परवर्ती आलोचकों में से शुक्लजी, श्यामसुन्दरदास और हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि इन कवियों ने आचार्य बनने का प्रयत्न तो अवश्य किया, परन्तु असफल रहे। संस्कृत में आचार्य और कवि—दो भिन्न श्रेणी के व्यक्ति थे, परन्तु हिन्दी में हमारे रीति-

कालीन कवियों में एक ही व्यक्ति ने दोनों का कार्य सम्पादन करने की चेष्टा की । इस सम्बन्ध में उपर्युक्त तीनों विद्वानों के मत द्रष्टव्य हैं—

आचार्य और कवि : विश्लेषण

आचार्य शुक्ल का कहना है कि—"इस एकीकरण का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा । आचार्यत्व के लिए जिस सूक्ष्म विवेचन और पर्यालोचन-शक्ति की अपेक्षा होती है, उसका विकास नहीं हुआ कवि लोग एक दोहे में पर्याप्त लक्षण देकर अपने कवि-कर्म में प्रवृत्त हो जाते थे । काव्यांगों का विस्तृत विवेचन, तर्क द्वारा खंड-मंडन, नये-नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन आदि कुछ भी न हुआ । उपर्युक्त बातों पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी में लक्षण-ग्रन्थों की परिपाटी पर रचना करने वाले जो सैकड़ों कवि हुए, वे आचार्य-कोटि में नहीं आ सकते थे । वे वास्तव में कवि ही थे । उनमें आचार्यत्व के गुण नहीं थे । उनके अपर्याप्त लक्षण साहित्य-शास्त्र का सम्यक् बोध कराने में असमर्थ हैं ।" इसी से मिलता-जुलता मत **बाबू श्यामसुन्दरदास** का है—"यद्यपि रीतिकाल में हिन्दी-कविता की अंग-पुष्टि बहुलता से हुई, साथ ही कलापक्ष की ओर जितना ध्यान दिया गया, उतना भाव-पक्ष की ओर नहीं दिया गया । आचार्यत्व तथा कवित्व के मिश्रण ने भी ऐसी खिचड़ी पकाई जो स्वादिष्ट होने पर भी हितकर न हुई । आचार्यत्व में संस्कृत की बहुत-कुछ नकल की गई और वह भी एकांगी ।"

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इन कवियों में पाए जाने वाले मौलिक विवेचन के अभाव को लक्ष्य कर लिखा है—"शास्त्रमत की प्रधानता ने इस काल के कवियों को अपनी स्वतन्त्र उद्भावना-शक्ति के प्रति अतिरिक्त सावधान बना दिया । उन्होंने शास्त्रीय मत को श्रेष्ठ और अपने मत को गौण मान लिया इसीलिए स्वाधीन चिन्तन के प्रति अवज्ञा का भाव आ गया ।" चिन्ता-पारतंत्र्य का कारण इसी प्रवृत्ति को माना जा सकता है । इन कवियों ने लक्षण-निरूपण में संस्कृत-काव्यशास्त्र का ही अनुवाद कर डाला था ।

उपर्युक्त तीनों मतों से यही ध्वनि निकलती है कि वे शृङ्गारकालीन कवि जिन्होंने लक्षण-ग्रन्थ लिखे थे, आचार्यत्व की पदवी पाने के योग्य नहीं है ।

संस्कृत का काव्यशास्त्रीय विवेचन

आचार्य वही हो सकता है, जिसमें मौलिक विवेचन और नवीन उद्भावना करने की शक्ति हो । संस्कृत के भामह, उद्भट, मम्मट, विश्वनाथ, आनन्दवर्धन

वामन, दण्डी, कुन्तक, पंडितराज जगन्नाथ आदि काव्यशास्त्रीय आचार्य अपने विस्तृत अध्ययन, प्रकांड पांडित्य और अद्भुत मौलिक विवेचन और नवीन उद्भावना-शक्ति के कारण ही आचार्य कहलाये। उन्होंने विभिन्न काव्य-सम्प्रदायों की स्थापना की। अलंकार, रीति, रस, वक्रोक्ति, ध्वनि और औचित्य की इन लोगों ने विस्तृत और विशद विवेचना कर उनमें भेद-उपभेद स्थापित किये। अलंकार, रीति और वक्रोक्ति कला-पक्ष के समर्थक थे; रस और ध्वनि भाव-पक्ष को प्रधानता देते थे। और औचित्य सम्पूर्ण काव्यांगों के सुचारु और सन्तुलित समन्वय का समर्थक था। इन आचार्यों ने शास्त्रीय मतों के आधार पर इनका अत्यन्त सुन्दर विवेचन किया था।

संस्कृत काव्यशास्त्र का अन्धानुसरण

हिन्दी के लक्षण-ग्रन्थकारों ने संस्कृत के इन्हीं लक्षण-ग्रन्थकारों को अपना आदर्श मानकर इस परम्परा का अनुसरण किया। आचार्यत्व के लोभ से इन लोगों ने स्वतन्त्र कविताएँ न लिखकर काव्यांगों का विवेचन करने का प्रयत्न अवश्य किया; परन्तु चिन्तन-पारतंत्र्य के कारण नवीन और मौलिक स्थापनाएँ करने में असमर्थ रहे, केवल संस्कृत के लक्षणों को ही हिन्दी पर आरोपित करते रहे। इसीलिए इनमें प्रायः मौलिक उद्भावना का अभाव पाया जाता है। कुछ कवियों ने भूले-भटके कुछ नवीन उद्भावनाएँ भी की हैं, परन्तु वे प्रायः अशुद्ध ही हैं। उन्होंने लक्षणों का अनुवाद संस्कृत से कर उनके उदाहरण स्वयं बनाए हैं। लक्षणों का अनुवाद भी कहीं-कहीं अशुद्ध है। कहीं-कहीं उदाहरण भी गलत और अस्पष्ट हैं। इस अशुद्धता और अस्पष्टता के मूल में उनका सीमित अध्ययन, संस्कृत काव्य-शास्त्र का अन्धानुकरण और मौलिक तथा स्वतन्त्र चिन्तन का अभाव ही प्रधान कारण थे। दूसरे, उनकी हीन-भावना भी उन्हें पथ-भ्रष्ट किए हुए थी। संस्कृत के आचार्यों के सम्मुख वे स्वयं को नितान्त हीन समझते थे, क्योंकि उनकी दृष्टि में संस्कृत भाषा 'देववाणी' थी। शब्द-शक्ति का विषय दो-चार कवियों ने उठाया अवश्य, परन्तु वह नाम-मात्र का ही रहा। दृश्य-काव्य की पूर्ण उपेक्षा हुई, क्योंकि उस युग में हिन्दी में नाटक लिखे ही नहीं जा रहे थे। इन ग्रन्थों की काव्य-शास्त्र सम्बन्धी सामग्री इतनी सीमित और अपर्याप्त है कि कोई व्यक्ति इनका अध्ययन कर साहित्य-शास्त्र का पर्याप्त ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। गद्य का अभाव भी इसका एक कारण था। गद्य के बिना सांगोपांग शास्त्रीय विवेचन

नहीं किया जा सकता, इसलिए काव्य-शास्त्र के अध्ययन के लिए इन ग्रन्थों की उपयोगिता आधुनिक काल में स्वीकार नहीं की जाती। इनमें पाए जाने वाले उदाहरण ही प्रायः उद्धृत किये जाते हैं, लक्षणों को विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता। परन्तु शृंगार-काल में ये ग्रन्थ पर्याप्त लोकप्रिय थे और कवि बनने के इच्छुक लोग इनका अध्ययन करते थे। इसके प्रमाण मिलते हैं। अतः यह कहना कि हिन्दी-काव्य के विकास में इनका कोई स्थान या महत्त्व ही नहीं रहा, असंगत और भ्रामक है।

कतिपय मौलिक स्थापनाएँ

इस युग के आचार्यों ने कुछ नवीन सामग्री उपस्थित करने का भी प्रयत्न किया। केशव ने अलंकार और रस-निरूपण में संस्कृत-ग्रन्थों का पूर्ण अनुसरण किया; परन्तु उन्होंने उपमा के २२ और उत्प्रेक्षा के ९ भेद माने। संकीर्णोपमा; विपरीतोपमा, प्रेमालंकार आदि नए अलंकारों की उद्भावना की। कुछ नए छन्द भी बनाए; परन्तु ये सब दण्डी के रूपान्तर-मात्र माने जाते हैं। 'दास' ने काव्यांगों का विवेचन करते हुए अत्यानुप्रास या 'तर्क' का सुन्दर विवेचन किया। भूषण का 'भाविक छवि', भाविका अलंकार का ही रूपान्तर मात्र है। देव का 'छल' संचारी 'अवहित्था' में अन्तर्भूत हो सकता है। इसका कारण शुक्लजी के अनुसार यह है—"इन कवियों ने अपना मतभेद प्रकट करने के लिए जान-बूझ कर यह भिन्नता कर दी अथवा प्रमादवश और-का-और समझ कर। मतभेद तो तब कहा जाता, जब कोई नूतन विचार-पद्धति मिलती। अतः दूसरा ही कारण है।"

अपूर्व-भ्रान्त विवेचन

मौलिक उद्भावना के इसी अभाव के कारण इस काल में काव्यांगों का स्वतन्त्र विवेचन नहीं हो सका। दूसरे, ये कवि रस को ही काव्य की आत्मा मानते थे अतः अन्य उन्होने सम्प्रदायों का सम्यक् विवेचन नहीं किया। ये लोग प्रधानतः कवि और कलाकार थे। उनका प्रधान उद्देश्य—कविता रचना था, न कि काव्यांगों का विवेचन करना। शृङ्गार की प्रधानता इसका प्रमाण है। फलतः काव्य का क्षेत्र सीमित रह गया। इस सीमित क्षेत्र में भी उन्हें पूर्ण सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। देव जैसा काव्य-मर्मज्ञ भी 'उपमा' में 'उत्प्रेक्षा' का भ्रम कर गया।

भूषण ने 'भ्रम', 'सन्देह' और 'स्मरण' अलंकारों में सादृश्य माना है, जब

कि ये भिन्न हैं। उन्होंने शृङ्गार में नायिका-भेद को ही प्रधानता दी है। परिणामस्वरूप इस काव्य में रस-दोष, रस-विरोध, भाव-ध्वनि, रसात्मक उक्तियों आदि का विवेचन न हो सका।

आचार्य नहीं माना जा सकता

लक्षण-ग्रन्थों की परिपाटी में काव्य-साधना की ही प्रधानता रही। सभी कवियों ने संस्कृत काव्यशास्त्र की प्राचीन पद्धति का ही अनुसरण किया। उनकी मानसिक वृत्ति लक्षण और उदाहरण के रूप में प्रकट हुई; परन्तु शास्त्रीय विवेचन के क्षेत्र में उनके विवेचन में न तो कोई मौलिकता ही दिखाई दी, और न विषय का सम्यक् और पूर्ण विवेचन ही हो सका। अतः उन्हें उस अर्थ में आचार्य नहीं माना जा सकता, जिस अर्थ में संस्कृत के आचार्यों को माना जाता रहा है।

प्रश्न ४—रीतिकाल का प्रवर्त्तक किसे माना जा सकता है—केशव अथवा चिन्तामणि को ? अपना मत लिखिए।

उत्तर—प्रवर्त्तक सम्बन्धी विवाद

हिन्दी में रीति-ग्रन्थों का प्रवर्त्तक किसे माना जाय, केशव को अथवा चिन्तामणि को, यह प्रश्न विवादास्पद रहा है। बाबू श्यामसुन्दरदास का कहना है—"यद्यपि समय-विभाग के अनुसार केशव भक्तिकाल में पड़ते हैं और गोस्वामी तुलसीदास आदि के समकालीन होने तथा 'रामचन्द्रिका' आदि ग्रन्थ लिखने के कारण वे कोरे रीतिवादी नहीं कहे जा सकते; परन्तु उन पर पिछले काल के संस्कृत-साहित्य का इतना अधिक प्रभाव पड़ा था कि अपने काल की हिन्दी-काव्य-धारा से पृथक होकर वे चमत्कारवादी कवि हो गये और हिन्दी रीति-ग्रन्थों की परम्परा के आचार्य कहलाये।" बाबू श्यामसुन्दरदास का यह मत तर्क-संगत और उचित है। उन्होंने केशव को रीति-ग्रन्थ परम्परा का आदि आचार्य माना है, न कि प्रवर्त्तक। केशव से पूर्व भी कई रीति-ग्रन्थ-लिखे गए थे; जैसे—सूरदास का 'साहित्य-लहरी', नन्ददास का 'रसमंजरी', कृपाराम का 'हित-तरंगिणी', करनेस का 'करणाभरण', 'भूपभूषण' आदि। परन्तु इन ग्रन्थों में काव्य शास्त्र का गम्भीर विवेचन नहीं हो सका था। सर्वप्रथम केशव ने ही अपने 'कवि-प्रिया' और 'रसिकप्रिया' जैसे रीति-ग्रन्थों के माध्यम से काव्य-रचना-शास्त्र की प्रणाली का विधिवत् सूत्रपात किया। उनकी 'रामचन्द्रिका' तक में यही प्रवृत्ति मिलती है। इसलिए उन्हें हिन्दी के रीति-ग्रन्थों की परम्परा का आदि आचार्य

माना जा सकता है। प्रवर्त्तक उसे माना जाता है जिसका कालान्तर में अनुगमन किया जाता है। केशव के परवर्ती कवि आचार्यों ने केशव द्वारा अपनायी गई पद्धति को नहीं अपनाया, इसी आधार पर शुक्लजी उन्हें प्रवर्त्तक नहीं मानते। परन्तु यह कहना भी आंशिक रूप से ही सत्य है, क्योंकि केशव के बाद और चिन्तामणि से पहले भी हिन्दी में काव्यशास्त्र-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ लिखे गये थे, जिनमें केशव की परम्परा का ही अनुकरण हुआ मिलता है।

प्रवर्त्तक : चिन्तामणि

शुक्लजी इस विषय का विवेचन करते हुए लिखते हैं—"इस निरूपण का इस प्रकार सूत्रपात हो जाने पर केशवदासजी ने काव्य के सब अंगों का निरूपण शास्त्रीय पद्धति पर किया। इसमें सन्देह नहीं कि काव्य-रीति का सम्यक् समावेश पहले-पहल आचार्य केशव ने किया।" यहां तक उपर्युक्त दोनों विद्वानों के दृष्टिकोण में कोई मतभेद नहीं है। मतभेद तब उपस्थित होता है, जब आगे शुक्लजी लिखते हैं कि "पर हिन्दी में रीति-ग्रन्थों की अविरल और अखण्डित परम्परा का प्रवाह केशव की 'कविप्रिया' के प्रायः पचास वर्ष पीछे चला और वह भी भिन्न आदर्श को लेकर, केशव के आदर्श को लेकर नहीं"। इसका कारण बताते हुए वे आगे लिखते हैं—"साहित्य की मीमांसा क्रमशः बढ़ते-बढ़ते जिस स्थिति पर पहुँच गई थी, उस स्थिति से सामग्री न लेकर केशव ने उसके पूर्व की स्थिति से सामग्री ली। उन्होंने हिन्दी पाठकों को काव्यांग-निरूपण की उस पूर्ण दशा का परिचय कराया—जो भामह और उद्भट के समय थी, उस उत्तर दशा का नहीं—जो आनन्दवर्धनाचार्य, मम्मट और विश्वनाथ द्वारा विकसित हुई।.........पर केशवदास के उपरान्त तत्काल रीति-ग्रन्थों की परम्परा चली नहीं। 'कविप्रिया' के पचास वर्ष पीछे उसकी अखंड परम्परा का प्रारम्भ हुआ। यह परम्परा केशव के दिखाये हुए पुराने आचार्यों (भामह, उद्भव आदि) के मार्ग पर न चलकर परवर्ती आचार्यों के परिष्कृत मार्ग पर चली।....काव्य के स्वरूप और अंशों के सम्बन्ध में हिन्दी के रीतिकार कवियों ने संस्कृत के इन परवर्ती आचार्यों का मत ग्रहण किया। ....हिन्दी रीति-ग्रन्थों की अखंड परम्परा चिन्तामणि त्रिपाठी से चली, अतः रीति-काल का आरम्भ उन्हीं से मानना चाहिए।"

चिन्तामणि त्रिपाठी ने 'काव्य-विवेक', 'कविकुल कल्पतरु' और 'काव्य-प्रकाश, नामक ग्रन्थ लिखकर काव्य के सभी अंगों का पूरा निरूपण किया।

चिन्तामणि के परवर्ती आचार्यों ने भी वही मार्ग ग्रहण किया जो चिन्तामणि ने अपनाया था। उपर्युक्त विवेचन से इतना स्पष्ट हो जाता है कि केशव ने संस्कृत आचार्यों के उस वर्ग का अनुसरण किया था, जिसकी मान्यताएँ खण्डित हो चुकी थीं और चिन्तामणि ने उस वर्ग का अनुसरण किया था, जिसकी काव्य-शास्त्र सम्बन्धी मान्यताएँ अधिक वैज्ञानिक, मौलिक, लोकप्रिय और तर्क-संगत थीं। इसी वर्ग का अनुसरण चिन्तामणि के प्रायः सभी परवर्ती शृंगार-कालीन कवियों ने किया। अतः हम केशव को रीति-ग्रन्थों का प्रेरक आदि आचार्य तो मान सकते हैं, परन्तु रीति-ग्रन्थों के वास्तविक प्रवर्त्तक चिन्तामणि ही माने जायेंगे। केशव कलावादी आचार्य-कवि थे और चिन्तामणि रसवादी। परवर्ती कवि-आचार्यों ने रस को प्रधानता देते हुए लक्षण-ग्रन्थ लिखे थे।

प्रश्न ५—"जिस राधा और कृष्ण के प्रेम को कृष्ण-भक्त कवियों ने अपनी गूढ़ातिगढ़ चरम भक्ति का व्यंजक बनाया, उसी को लेकर आगे के कवियों ने शृङ्गार की उन्मादकारिणी उक्तियों से हिन्दी साहित्य को भर दिया।" इस कथन पर तर्कसंगत विचार कीजिए।

उत्तर—लौकिक शृङ्गार की व्यंजना

भक्त-कवियों ने राधा-कृष्ण के मधुर व्यक्तित्व का आधार ले, उसे अपनी निगूढ़तम भक्ति-भावना का व्यंजक बनाया था; परन्तु शृङ्गार-कालीन शृङ्गारी कवियों द्वारा उस मधुर व्यक्तित्व में निहित सूक्ष्म भक्ति-भावना के आधार का निर्वाह न हो सका। उनके द्वारा राधा-कृष्ण की अलौकिक प्रेम-लीलाएँ साधारण विलासी युगल की लीलाओं के रूप में चित्रित की गईं। भक्तों के लिए राधा-कृष्ण ब्रह्मस्वरूप हैं। उनकी सब लीलाएँ नित्य हैं। बल्लभाचार्य द्वारा स्थापित पुष्टिमार्गी भक्ति में प्रेम को प्रधान और श्रद्धा का गौण माना गया है। प्रेम के सम्यक् निर्वाह के लिए उन्होंने लोक मर्यादा और वेद-मर्यादा का बन्धन स्वीकार नहीं किया है। वे भगवान् की प्राप्ति कर्म या श्रद्धा से न मानकर पुष्टि अर्थात् भगवान् के अनुग्रह से ही मानते हैं। इन बातों से उनका भक्तिमार्ग लोक-जीवन से तटस्थ और पृथक् हो गया। कृष्ण भक्तों के लिए उनके आराध्य और उनका मन्दिर ही सब कुछ था। वृन्दावन स्वर्ग था, जहाँ भगवान् कृष्ण अखण्ड रास-लीला में रत रहते हैं। राधा ब्रह्म की शक्ति और गोपियाँ जीवात्माएँ हैं। यही इन भक्तों का संसार था। इसी प्रेम-लक्षणा मधुरा भक्ति के अनुयायी होने के कारण इन भक्तों ने कृष्ण के मधुर रूप की ही उपासना की। इसी बात को

लक्ष्य कर शुक्लजी ने कहा था—"महत्त्व की भावना से उत्पन्न श्रद्धा या पूज्य बुद्धि का अवयव छोड़ देने के कारण कृष्ण के लोकरक्षक और धर्म-संस्थापक स्वरूप को सामने रखने की आवश्यकता उन्होंने नहीं समझी।" इस धारा में प्रेम की प्रधानता थी; क्योंकि कृष्ण भक्ति रागानुगा-पद्धति की भक्ति थी, जिसमें प्रेम को ही एक मात्र आधार माना जाता है। जहाँ प्रेम की प्रधानता तथा श्रद्धा का अभाव होता है, वहाँ भक्ति, कालान्तर में, लौकिक ऐन्द्रिक भावना में परिणत हो जाती है। शुक्ल जी का मत है कि ऐसी स्थिति में "भक्ति इन्द्रियोपभोग की भावना से कलुषित हो जाती है। भक्ति की निष्पत्ति जहाँ श्रद्धा या पूज्य बुद्धि का अवयव—जिसका लगाव धर्म से होता है—छोड़कर केवल प्रेम-लक्षणा भक्ति ली जायगी, वहाँ वह अवश्य विलासिता से ग्रस्त हो जायगी।............
वैष्णवों की कृष्ण-भक्ति शाखा ने केवल प्रेम लक्षणा भक्ति ली, फल यह हुआ कि उसने अश्लीलता की प्रवृत्ति जगाई।"

अलौकिकता की परिणति लौकिकता में

वल्लभ-सम्प्रदाय की उपासना-पद्धति में भोग, राग तथा विलास की सामग्री का प्रदर्शन रहा। प्रातः से संध्या तक ये भक्त और पुजारी भगवान् कृष्ण की दैनन्दिन लीलाओं का आयोजन और गान किया करते थे। इसमें यदि साधारणता रही तो फिर भगवान् का महत्त्व और प्रभाव ही क्या रहा? वहाँ सब कुछ असाधारण रहता था। वैभव और विलास की प्रचुर सामग्री और शृंगार के रसीले, मादक वातावरण से मन्दिर गूँजते रहते थे। भगवान् के राजसी ठाठ थे। अतः भगवान् के इस वैभवपूर्ण और विलासी जीवन के चित्र इन भक्ति-कवियों के काव्य में साकार हो उठे। इन भक्तों ने राधा और गोपियों के माध्यम से अपने हृदय की उत्कट विरह-वेदना व्यक्त की, संयोग-वर्णन में उन्होंने राधा-कृष्ण के बड़े मादक और मार्मिक चित्र खींचे। इस काव्य में भक्ति का वास्तविक आवेश था; परन्तु भक्ति-भावना से शून्य साधारण जनता इस आवेश को समझ और ग्रहण न कर सकी। क्योंकि वह इन लीलाओं का अध्यात्मकपरक अर्थ समझने में असमर्थ थी, इसलिए उसने इन लीलाओं को लौकिक लीलाएँ समझा। परिणामस्वरूप परवर्ती रीतिकालीन शृंगारी काव्य में वासना का नग्न रूप मुखरित हो उठा। एक आलोचक के शब्दों में, "काव्य सरोवर में एक कमल खिल रहा था, उसे भक्तिकाल के कवि-रूपी हस्तियों ने तोड़ लिया। बाद में तो लोगों के हाथ केवल कीचड़ ही लगी। इस कीचड़ को

लेकर रीतिकालीन कवियों ने राधा-कृष्ण के सौम्य रूप पर खूब कीचड़ उछाली है। वस्तुत: ये कवि भक्त न होकर केवल शृंगारी कवि थे, इसी कारण राधा-कृष्ण के अलौकिक ब्रह्म-रूप की रक्षा करने में असमर्थ रहे।

विलास-भावना का उदय

मन्दिरों के उस भोग-विलासी वातावरण का प्रभाव वहाँ रहने वाले सेवक-सेविकाओं पर भी पड़ता था। इससे दक्षिण भारत के मन्दिरों की देवदासियों और पुजारियों में विलास और व्यभिचार का वातावरण गरम हो उठा। जब भगवान् ही विलासी हैं तो उनके सेवक क्यों न विलासी बनें? इस विलासी वातावरण का ऐसा घातक प्रभाव पड़ा कि क्रमश: राधा-कृष्ण का देवत्व तिरोहित होता चला गया और कालान्तर में हिन्दी के शृंगारकालीन कवियों के चंगुल में फँसकर वे साधारण नायक-नायिका मात्र रह गए। वे विद्यापति के राधा-कृष्ण के समान पुन: लौकिक रति-क्रीड़ा में व्यस्त हो उठे। तथाकथित भक्तों ने कहीं-कहीं लोक-निन्दा के भय से राधा-कृष्ण के अलौकिक रूप का भी चित्रण किया; परन्तु यह सब प्रवंचना मात्र था। उनके राधा-कृष्ण सदैव काम-पीड़ित युगल के रूप में ही विशेष स्पष्ट हुए। कृष्णभक्त कवि सच्चे भक्त थे। उनकी भक्ति-व्यंजना का आधार आध्यात्मिक था। उनका विरह लौकिक न होकर आत्मा-परमात्मा का विरह था। उनकी भावना भी अलौकिक थी। उन्होंने यह स्वप्न में भी न सोचा था कि उनके काव्य में पाए जाने वाले अलौकिक वासना के इस गहरे पुट के कारण कालान्तर में शृंगारकालीन कवि उसे लौकिकता का आवरण पहनाकर राधाकृष्ण की पावन युगल-मूर्ति की यह दुर्गति करेंगे। कालिदास के समान इन कवियों को अपने आराध्य का इतना अश्लील चित्रण करने पर भी ये कभी कुष्ठ रोग नहीं हुआ! यदि इन्हें शृंगार ही धारा बहानी थी तो राधाकृष्ण को ही अपना शिकार क्यों बनाया? किसी और माध्यम से भी ये अपना कार्य पूरा कर सकते थे। परन्तु जब बना-बनाया और लोकप्रिय माध्यम मिल जाए तो नए माध्यम खोजने का कष्ट क्यों उठाया जाय। कृष्णभक्तों की कृपा से उस समय तक राधा-कृष्ण शृंगार के सर्वाधिक लोकप्रिय आलम्बन के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे।

प्राचीन साहित्य का प्रभाव

इसका एक कारण और भी था। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश काव्य में भी इस प्रकार की लौकिक शृंगारिक लीलाओं के वर्णन मिलते हैं। इसी के

अनुकरण पर जयदेव का 'गीत-गोविन्द' और विद्यापति की 'पदावली' की रचना हुई थी। सूर में भी यह शृङ्गारिक भावना पल्लवित हुई ; परन्तु भक्ति का आवरण धारण कर अलौकिक बन गई। शृंगारकाल में विलासपूर्ण गन्दी जलवायु पाकर यह हरे-भरे विष-वृक्ष के रूप में लहराने लगी। संक्षेप में, कृष्ण काव्य के लौकिक शृङ्गार में परिणत होने के कारण निम्नलिखित हैं—

शृंगार-प्रधान काव्योत्पत्ति के प्रमुख कारण

(१) **कृष्ण-भक्ति की दार्शनिक जटिलता**—वल्लभाचार्य की आध्यात्मिक और दार्शनिक विचारधारा को समझने में साधारण जन असमर्थ रहे। इसे केवल भक्त ही समझ सकते थे। शृंगारकालीन कवि और उनके विलासी, रसिक आश्रयदाता भक्त नहीं थे।

(२) **तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियाँ**—हार की मनोवृत्ति में दो ही बातें सम्भव हैं—अपनी आध्यात्मिक श्रेष्ठता दिखाना या हास-विलास में अपनी हार भूल जाना। शृंगारकाल में दूसरी भावना-प्रधान रही। उस समय के हिन्दू राजा विदेशी मुस्लिम विजेताओं के समान स्वयं को भी विलास में डुबा-कर पराजय की वेदना को भुलाने का उपक्रम करने लगे। इसके लिए राज्या-श्रित कवियों ने राधा-कृष्ण का विलास भरा नंगा नाच कराकर अपने आश्रय-दाताओं का मनोरंजन किया। माध्यम तो विद्यापति और सूर प्रच्छन्न रूप में पहले ही दे चुके थे।

(३) **कवियों का राज्याश्रित होना**—प्रायः शृंगारकालीन सभी कवि राज्याश्रित थे। स्वामी को प्रसन्न रखना—उनका प्रधान कर्त्तव्य था। चमत्कार-पूर्ण उक्तियों से वे अपने स्वामी का मनोरंजन किया करते थे। ऐसा न करने पर उन्हें जीविका के निमित्त दर-दर भटकना पड़ता था। उनमें भक्तों की-सी धार्मिक निष्ठा और दृढ़ता का अभाव था। उनका नैतिक बल क्षीण हो गया था। इसीलिए वे शृंगारिक काव्य की रचना कर अपने आश्रयदाताओं का मनोरंजन किया करते थे।

उनके अतिरिक्त घनानन्द जैसे स्वच्छन्द-धारा के कवि भी 'प्रेम की पीर' के कवि थे, इसलिए उन्होंने भी राधा-कृष्ण को ही अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बना शृंगार की ऐसी लौकिक धारा बहाई जो अपनी गहनता के कारण अनुपम और अलौकिक-सी तो प्रतीत होती है, परन्तु रहती लौकिक ही है।

(४) **तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियाँ**—राजाओं की शृंगारी वृत्ति का प्रभाव जनता पर भी पड़ रहा था। राम के मर्यादित, लोक-रक्षक, शक्तिशाली रूप के प्रति तो वह श्रद्धावनत और भयभीत रही; परन्तु उसने कृष्ण के विलासी रूप को ठीक बालक के समान हाथ बढ़ाकर अपना लिया। जनता काव्य-प्रेमी और रसिक होने के कारण इन शृंगारी कवियों के वासनात्मक विष को अमृत समझकर पान करती रही। उसके पथ-प्रदर्शकों ने ही उसे मार्ग-भ्रष्ट किया। उस समय तुलसी-जैसे सशक्त, लोक-कल्याणकारी व्यक्तित्व की आवश्यकता थी। परन्तु इस काल की शृंगारी कविता प्रधान रूप से राजा और दरबारियों तक ही सीमित रहती थी जो स्वभाव से विलासी थे। सामान्य जनता तक तो यह काव्य पहुँच ही कब पाता था। फिर भी 'जो राजा करे, सब ठीक है'—वाली कहावत चरितार्थ हो रही थी।

(५) **शृंगारमूलक संस्कृत काव्य का प्रभाव**—संस्कृत के प्राचीन शृंगारी कवियों का इन विलासी कवियों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। संस्कृत की 'आर्या-सप्तशती', 'गाथा-सप्तशती' और 'अमरुकशतक' जैसे शृंगार-प्रधान ग्रन्थों का उन दिनों काव्य-प्रेमी रसिक-समाज में काफी मान था। काम-शास्त्र और फारसी-काव्य की ऊहा का भी इस शृंगारी वृत्ति को बढ़ाने में यथेष्ट हाथ रहा था। इसलिए यह कहना असंगत है कि भक्तियुग के कृष्ण-भक्त कवियों के शृंगारिक-चित्रण ने ही रीतिकालीन शृंगारी कवियों को राधाकृष्ण के घोर विलासी रूप का चित्रण करने की प्रेरणा प्रदान की थी।

प्रश्न ६—"केशवदास के पीछे हिन्दी-कविता अपने उच्च शिखर से गिर कर अलंकार आदि के मायाजाल में ऐसी फँसी कि वह हृद्तन्त्री को बजाने वाली और समस्त सृष्टि के साथ मनुष्यमात्र के रागात्मक सम्बन्ध को स्थापित करने वाली न रह गई।" इस कथन का विशद् विवेचन कीजिए।

उत्तर—कलापक्ष का प्राधान्य

डाक्टर रमाशङ्कर शुक्ल 'रसाल' शृंगारकाल को 'कलाकाल' मानते हैं। कारण यह है कि इस काल में काव्य का कलापक्ष उसके भावपक्ष की अपेक्षा अधिक प्रबल रहा। भावपक्ष के प्रति कलाकारों के अनुराग में कमी आ गई। कला और कृत्रिमता का सम्बन्ध शाश्वत है। साहित्य में कला अर्थात् प्रदर्शन की भावना का आधिक्य उसके नैसर्गिक भाव-सौन्दर्य को कम कर देता है। इससे साहित्य के मूल उद्देश्य 'हित की भावना' की हत्या ही जाती है। इसी

कारण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और प्रसाद साहित्य को कला नहीं मानते। साहित्य में कला का अपना उचित स्थान है, परन्तु वही सब कुछ नहीं है। कृत्रिमता सदैव श्रमसाध्य होती है। शृंगारकाल में इसी कृत्रिमता-प्रधान 'श्रम-साध्य कला' का प्राधान्य रहा था। परिणामस्वरूप उसमें हृदय के उदात्त भावों को उद्वेलित करने की नैसर्गिक शक्ति का अभाव रहा। समस्त सृष्टि से रागात्मक सम्बन्ध वही स्थापित कर सकता है जो स्वयं उदार, सन्त, भावुक और सहृदय हो। शृंगारकालीन अधिकांश कवियों का चमत्कारप्रिय और विलास-रस में डूबा मस्तिष्क उनके हृदय की अपेक्षा अधिक क्रियाशील बना रहा। वे गहन भावानुभूति की अपेक्षा उक्ति-वैचित्र्य में अधिक आस्था रखते थे।

अतिशय अलंकार की प्रवृत्ति

भक्ति-कवि 'स्वान्तः सुखाय' और 'लोकहिताय' के दृष्टिकोण से अपने काव्य की रचना करते थे। काव्य-रचना का उनका दृष्टिकोण यह था कि "कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सबकहँ हितहोई।"[१] अर्थात् उनकी दृष्टि में 'भनिति (कथन, कविता) वही सार्थक है, जो सुरसरि के समान प्राणि-मात्र का कल्याण कर सके। परन्तु शृंगारकाल के प्रथम आचार्य केशव का मत था—'जदपि सुजाति, सुलच्छनी, सुबरन सरस सुवृत्त। भूषन बिनु न बिराजहीं कविता, बनिता, मित्त।" अर्थात् कविता चाहे सुजाति की हो अथवा सुलक्षणी हो, परन्तु वह भूषण (अलंकारादि) के अभाव में शोभा नहीं पा सकती। यह शृंगारकाल का साहित्य के प्रति परिवर्तित दृष्टिकोण था। जन-कल्याण की भावना उसमें ढूँढ़ने से भी नहीं मिलती। जहाँ केवल बाह्य प्रसाधन ही सब कुछ हो, वहाँ आन्तरिक सौन्दर्य की उपेक्षा की जाती है। एक मित्र के शब्दों में, "रीतिकाल में········रूपक में कहें तो कह सकते हैं कि कविता-कामिनी का हृदय तो निकाल दिया गया और अलंकारों के भार से उसे दबा दिया गया। कविता का हृदयपक्ष निकल जाने से वह केवल मस्तिष्क का खिलवाड़ रह गई।" खिलवाड़ से अभी तक कभी किसी का कल्याण न हुआ है और न हो सकता है। ऐसा काव्य मात्र मनोरंजन की वस्तु बनकर रह जाता है।

आश्रयदाताओं का मनोरंजन : मूल उद्देश्य

इन कवियों ने प्रायः 'स्वामीहिताय' ही अपने काव्य की रचना की। वे

---

१. श्रीरामचरितमानसः : गोस्वामी तुलसीदास।

चमत्कारपूर्ण, वासना से ओत-प्रोत शृंगारिक छन्द सुनाकर अपने आश्रयदाताओं का मनोरंजन किया करते थे। प्रतिदान में उन्हें प्रचुर स्वर्णराशि मिलती थी। दूसरे शब्दों में—कला बिक रही थी और बिकने वाली कला में केवल बाहरी तड़क-भड़क ही अधिक रहती है वहाँ प्रायः शक्कर के आवरण में कड़वा जहर ही मिलता है। इन कवियों ने भाषा, छन्द, अलंकार और शब्द-शक्ति रूपी शक्कर से परिवेष्टित कर स्थूल वासना के कड़वे जहर की गोलियाँ मीठी बनाकर समाज को दिखाई। वे पैसे के गुलाम थे। महाकवि अकबर ने इस पूँजीवादी मनोवृत्ति का सच्चा चित्र खींचते हुए कहा है—"भरते हैं मेरी आह को वो ग्रामोफोन में, कहते हैं आह कीजिए और दाम लीजिए।" यही स्थिति शृंगार-कालीन कवियों और उनके आश्रयदाताओं की थी। उन कवियों को अपने आश्रयदाताओं की रुचि और फरमाइश के अनुसार काव्य-रचना करनी पड़ती थी।

कलावादी दृष्टिकोण

साहित्य के कलापक्ष का केवल इतना ही महत्त्व माना जाता है कि वह मनोगत भावों और अनुभूतियों का चित्रण अधिक यथार्थ और प्रभावशाली रूप में कर सके। केशव का दृष्टिकोण पूर्णतः कलावादी था। वे रस-निरूपण के स्थान पर छन्द और अलंकार के प्रदर्शन को ही काव्य का परम ध्येय एवं चरम उत्कर्ष मानते थे। वे इस क्षेत्र में संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्य दण्डी के अनुयायी थे। परिणामस्वरूप उनकी 'रामचन्द्रिका' रामचरित का मार्मिक और यथार्थ चित्रण न होकर छन्दों और अलंकारों की एक सुन्दर एवं कलापूर्ण प्रदर्शनी मात्र बनकर रह गई। केशव के परवर्ती आचार्यों में भी काव्यशास्त्रीय विवेचन और ज्ञान-प्रदर्शन की यही प्रवृत्ति प्रधान रही। वे काव्यांगों का निरूपण कर आचार्य बनने की धुन में ही व्यस्त रहे।

भावपक्ष की अवहेलना

चिन्तामणि, राजा जसवन्तसिंह, भिखारीदास, कुलपति आदि शृंगार-कालीन आचार्यों ने आचार्य बनने के लोभ में काव्य-हृदय की एक प्रकार से उपेक्षा-सी की उन्होंने लक्षण लिखने में हृदय की भावुकता और कोमलता के स्थान पर मस्तिष्क के तर्क पर बाह्य कला-सौन्दर्य का आश्रय लिया। उनका प्रधान उद्देश्य शृंगाररस, नायिका-भेद, अलंकार आदि के भेदोपभेदों की व्याख्या करना मात्र था। इस विचारधारा का इतना व्यापक प्रभाव पड़ा कि देव,

बिहारी, मतिराम, पद्माकर जैसे सहृदय एवं काव्य-मर्मज्ञ और भूषण जैसे वीर रस के प्रणेता भी इस प्रवृत्ति के घातक प्रभाव से न बच सके। उन्हें भी प्रकट या प्रच्छन्न रूप से लक्षण-ग्रन्थ लिखने को बाध्य होना पड़ा।

पांडित्य-प्रदर्शन का मोह

पांडित्य-प्रदर्शन के मोह के कारण ही केशव 'कठिन काव्य के प्रेत' कहे गये। पांडित्य-प्रदर्शन के इस मोह ने उनके काव्य को बाह्य रूप से सुन्दर तो अवश्य बनाया, परन्तु उसे निर्जीव भी कर दिया। देव जैसा रस-सिद्ध एवं काव्य-मर्मज्ञ कवि भी अलंकार की छटा दिखाने के मोह में उषा के सौन्दर्य में एक रक्त पिये हुई रमणी के रक्तरंजित मुख की झलक देखने लगा। उषा के शाश्वत सौन्दर्य एवं शुभ्र प्रभाव की उसे कोई चिन्ता नहीं रही। बिहारी के दोहों में भी इसी प्रकार के चमत्कारों की छटा मिलती है। उनमें हृदय को उद्वेलित करने वाली अनुभूति के दर्शन कम होते हैं। हम केवल साधारण रूप में चमत्कृत होकर उनकी भाषा और उक्ति की प्रशसा करके रह जाते हैं। शृंगारकालीन कवि दिन-रात इसी फेर में रहते थे कि वे जो कुछ कहें वह अद्भुत हो, अद्वितीय हो और दूसरों को आश्चर्य चकित कर विमूढ़ बना देने वाला हो। इसलिए उनका मस्तिष्क निरन्तर नई-नई उक्तियों की खोज में लगा रहता था। वे भाव सौन्दर्य के अभाव में श्रुति-मधुर शब्द या चयन, स्वर-लहरी, ध्वनि, लाक्षणिक वक्रता, सुकुमार कल्पना एवं अलंकार-वैचित्र्य आदि को ही कवि-कर्म मानकर उसी की साधना में रत रहे। मस्तिष्क-प्रधान काव्य में मर्मस्पर्शिता और राग का अभाव होना स्वाभाविक है। उसमें केवल बाह्य सौन्दर्य का ही प्रदर्शन होता है। ऐसा काव्य हमारे हृदय को छू नहीं पाता।

उक्ति-वैचित्र्य का प्राधान्य

इन कवियों की इस नीरसता के कई प्रमाण हैं। ये लोग, विशेषकर केशव, —प्रबन्ध-काव्य के मार्मिक स्थलों को चुनने में सर्वथा अक्षम रहे हैं 'राम-चन्द्रिका' में राम-कथा के मार्मिक स्थलों की उपेक्षा की गई है। उसमें मार्मिक और चुटीली सम्वाद-योजना तो मिलती है, परन्तु प्रसंगों की मार्मिकता के दर्शन नहीं होते। प्रकृति-वर्णन में भी इन लोगों ने नाम-परिगणन शैली को ही अपनाया है। प्रकृति के साथ मानव-हृदय का तादात्म्य स्थापित करने में ये असमर्थ रहे हैं। वहाँ प्रकृति का रूप केवल उद्दीपनकारी है। लक्षण-ग्रन्थों में

दिये गये अधिकांश उदाहरणों भी हृदय-तत्त्व का अभाव है। उनकी चमत्कार प्रियता भी इसका एक कारण रही है। यदि इनकी कविताओं में से अलंकार और उक्ति का चमत्कार निकाल दिया जाए तो वे महत्त्वहीन और निर्जीव प्रतीत होंगी। इनके मूल में आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने की भावना, संस्कृत के आधार-ग्रन्थों द्वारा उत्पन्न चिन्तन-पारतन्त्र्य का भाव तथा तत्कालीन सांस्कृतिक और नैतिक ह्रास ही प्राधान कारण हैं।

शृङ्गार-काव्य की विशिष्ट उपलब्धि

परन्तु शृंगार-काल में कुछ ऐसे कवियों के भी दर्शन होते हैं जो चमत्कार-प्रियता की भावना से सर्वथा अछूते थे। इनमें घनानन्द, बोधा, रसखान, आलम आदि का नाम लिया जा सकता है। इनमें भी वर्ण्य-विषय की दृष्टि से यद्यपि प्रधानता शृंगार की ही रही है, परन्तु उस शृंगार का निरूपण शास्त्रीय आधार पर न होकर, हृदय की मार्मिक अनुभूतियों के आधार पर किया गया है। इनमें घनानन्द सर्वश्रेष्ठ हैं। इनके अतिरिक्त बिहारी, मतिराम, देव आदि ऐसे भावुक, सरस हृदय और निपुण कवियों ने ऐसे काव्य की रचना की है जिसमें हृदय-पक्ष का अत्यन्त सुन्दर चित्रण हुआ है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में ऐसे कवियों का उद्देश्य—"कविता करना था, न कि काव्यों का शास्त्रीय-पद्धति पर निरूपण करना। अतः उनके द्वारा बड़ा भारी कार्य यह हुआ कि यदि रसों (विशेषतः शृंगार रस) और अलंकारों के बहुत ही सरस और मनोहर उदाहरणों को संस्कृत के सारे लक्षण ग्रन्थों से चुनकर इकट्ठे करें तो भी उनकी संख्या इतनी अधिक न होगी।" इसी को शृंगारकालीन शृङ्गारी-काव्य की विशिष्ट उपलब्धि माना जा सकता है, जिसने ब्रजभाषा को अधिक सुन्दर और प्रांजल रूप प्रदान किया था।

प्रश्न ७—भूषण को शृङ्गारकाल का कवि क्यों माना जाता है? क्या वे अपने समय के राष्ट्रीय कवि थे?

उत्तर—लक्षण-ग्रन्थों के रचयिता

भूषण को शृंगारकाल (रीतिकाल का कवि मानने के दो कारण हैं। पहला कारण यह है कि भूषण इसी काल में उत्पन्न हुए थे, और दूसरा यह है कि उन्होंने इस काल की प्रधान प्रवृत्ति (लक्षण-ग्रन्थ-रचना) को भी अपने काव्य में स्थान दिया था। सामान्यतः उन्हें इस काल में उत्पन्न वीर-रस का प्रणेता कवि ही माना जाता है। अलंकार-सम्प्रदाय के अनुकरण में केशव,

चिन्तामणि, भिखारीदास आदि कवि-आचार्यों ने अलंकार-ग्रन्थों का सृजन किया। भूषण की राष्ट्रीय भावना से परिपूर्ण प्रतिभा को भी इस प्रवृत्ति ने आकर्षित किया और उन्होंने शास्त्रीयता के प्रभाव में आकर 'कविराज भूषण' नामक अपने प्रसिद्ध अलंकार-ग्रन्थ की रचना की। इसमें दोहों में विभिन्न काव्यांगों के लक्षण देकर कवित्त और सवैयों में उनके उदाहरण दिये गये हैं। उनके दूसरे ग्रन्थ 'शिवा-बावनी' में भी उनका झुकाव अलंकारों की ओर ही अधिक रहा है। काव्यांगों में भूषण ने केवल अलंकारों को ही लिया है। रस, शब्द-शक्ति, नायिका-भेद आदि की पूर्ण उपेक्षा की है। इस काल की प्रधान प्रवृत्ति 'शृङ्गार' से सम्बन्धित उनके केवल दो-चार छन्द ही मिलते हैं। इस प्रकार उन्होंने रीति-ग्रन्थों की रचना में अलंकार-सम्प्रदाय का तो प्रभाव ग्रहण किया; परन्तु नायिका-भेद-वर्णन के चक्कर से साफ बचकर निकल गए। भूषण का लक्षण-ग्रन्थ 'कविराज भूषण' अव्यवस्थित तथा गड़बड़ी से भरा हुआ है। कई स्थानों पर लक्षण और उदाहरण—दोनों ही अस्पष्ट हैं। अतः इस वर्ग के कवियों की तुलना में भूषण का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। अस्तु, इन्हीं दो कारणों से भूषण को शृङ्गारकाल (रीतिकाल) का कवि माना जाता है।

वीरकाव्य के श्रेष्ठ कवि

भूषण का दूसरा रूप एक वीररस के प्रणेता कवि का है। इस दृष्टि से उनकी गणना इस काल के उन फुटकर कवियों में होनी चाहिए, जिन्होंने तत्कालीन प्रवहमान शृङ्गारिक धारा से हटकर वीर-काव्य को प्रश्रय दिया। भूषण के वास्तविक साहित्यिक मूल्य का आधार उनकी वीर-रसात्मक कविता ही है। शृङ्गारकाल के उस युग में जहाँ लोगों में भक्ति और शौर्य के प्रति बहुत कम आस्था रह गयी थी, भूषण ने हिन्दू-जाति के जागरण का मंत्र दे, सुषुप्त देश को राष्ट्रीयता की ओर उन्मुख किया था। इस प्रकार वे इस काल में एक नवीन धारा के प्रवर्त्तक अथवा वीरगाथा के संरक्षक के रूप में स्वीकार किए जा सकते हैं। यद्यपि उन्होंने अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा में नर-काव्य की ही रचना की; परन्तु उसे वास्तविकता से दूर नहीं हटने दिया। इसका कारण यह था कि उनके चरित-नायक ऐसे वीर हिन्दू-नरेश थे, जो देश को अत्याचारी शासकों से मुक्त कराने में प्रयत्नशील थे। छत्रपति शिवाजी और महाराज छत्रसाल उनके ऐसे ही राष्ट्रप्रेमी वीर नायक थे। इन्होंने औरंगजेब की धर्मान्धता का विरोध करते हुए उसके विरुद्ध युद्ध ठाना था। भूषण का काव्य-

कौशल भी उच्चकोटि का है। इस प्रकार उन्होंने अपनी निर्भीकता और काव्य-कौशल के बल पर निर्भर रहते हुए प्राचीन विलुप्तप्राय वीर-काव्य की धारा को पुनर्जीवित कर उसे आगे बढ़ाया। वे जातीय स्वातन्त्र्य-संग्राम के संरक्षक और राष्ट्र-उन्नति हेतु अग्रसर होने वाले हिन्दी के सर्वप्रथम राष्ट्रीय कवि थे। भले ही उनकी राष्ट्रीय भावना हिन्दुओं तक ही सीमित क्यों न रह गई हो। परन्तु यह द्रष्टव्य है कि उनके आराध्य नायक शिवाजी की सेना में मुसलमान सैनिक और सेनापति भी शामिल थे।

क्या भूषण राष्ट्रीय कवि थे

भूषण को राष्ट्रीय कवि माना जाय या नहीं, यह विवादग्रस्त प्रश्न रहा है। आधुनिक युग में, जो लोग सारे भारत को एक राष्ट्र मानते हैं, उनकी दृष्टि में भूषण एक संकुचित दृष्टिकोण वाले जातीय गौरव के गीत गाने वाले कवि थे उनकी दृष्टि में भूषण की कविता, अराष्ट्रीय, द्वेषपूर्ण और हिन्दू-मुसलमानों में घृणा फैलाने वाली है। ऐसे आलोचक यह भूल जाते हैं कि समय-समय पर राष्ट्रीयता की सीमा और परिभाषा परिवर्तित होती रहती है। आरम्भिककाल (वीरगाथाकाल) में एक राज्य विशेष ही राष्ट्र माना जाता था। भूषण के युग में सम्पूर्ण हिन्दू-जाति राष्ट्र मानी जाने लगी थी, क्योंकि उस समय औरंगजेबी मुस्लिम-शासन के धार्मिक उन्माद और अत्याचारों से त्रस्त हिन्दू उसका विरोध कर रहे थे, और आज सम्पूर्ण भारत एक राष्ट्र माना जाता है। लक्षण ऐसे हैं कि भविष्य में सम्पूर्ण विश्व ही एक राष्ट्र माना जाने लगेगा। इसलिए हम भूषण को जब उनके उसी युग में रखकर देखने का प्रयत्न करेंगे, तभी उनका महत्त्व हमारी समझ में आ सकेगा। यदि कवि होकर भूषण अपने युग के हिन्दुओं की उस स्वातन्त्र्य भावना का प्रतिनिधित्व न करते तो वह अपने युग, स्वयं अपने और अपनी कवित्व-शक्ति के प्रति घोर विश्वासघात करते, जैसा कि उस काल के अधिकांश कवियों ने किया था। भूषण के काव्य में तत्कालीन जन-जागरण का स्वर गूँजा था। विदेशी-धर्मान्धता और अत्याचारों का विरोध करना संकुचित राष्ट्रीयता नहीं मानी जा सकती। एक पक्ष अत्याचार करे और दूसरा उसका विरोध न करे, इसे कायरता ही माना जायेगा।

राष्ट्रीयता के अनन्य उपासक

उस काल के अनैतिकतापूर्ण गन्दे वातावरण में जन्म लेकर भी सरस्वती के इस वरद पुत्र ने विलासिता का मार्ग न अपनाकर राष्ट्रीयता को अपनाया।

आश्रयदाताओं की मनस्तृप्ति के लिए कलुषित प्रेम की शत-सहस्र उद्भावनाएँ नहीं कीं। 'कलि के कविराजन' के अनुसार उन्होंने नायिका-भेद का राग न अलापकार शिवाजी और छत्रसाल जैसे राष्ट्रनायकों का यश गाया। भूषण से पहले अन्य किसी भी कवि को जातीय जीवन का यह आदर्श नहीं सूझा था। भूषण ने शिवाजी और छत्रसाल के राष्ट्रीय और जातीय रूप का ही चित्रण किया था। उनके वैयक्तिक जीवन या उनके प्रेम-व्यापार पर उन्होंने एक भी शब्द नहीं कहा। उन्होंने अपने नायकों की प्रशंसा केवल इसीलिए की थी कि उन्होंने 'हिन्दुवान द्रुपदी की लाज बचैवे के काज' अत्याचारी मुस्लिम शासकों के विरुद्ध रन ठाना था। आधुनिक युग में जिस प्रकार अंग्रेजों के विरुद्ध एक 'हिन्दू-मुस्लिम राष्ट्र' की भावना का प्रचार किया गया, उसी प्रकार उस समय अंग्रेजों के स्थान पर मुसलमान आसीन थे और हिन्दू उनका विरोध कर रहे थे। तत्कालीन कवियों में इस विरोध का सबसे बड़ा समर्थन केवल भूषण ने ही किया। लाल सूदन, पद्माकर आदि अन्य वीररस के कवि अधिकतर अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा करने तक ही सीमित रहे। भूषण की भावना व्यापक थी। उनकी दृष्टि में यदि—"शिवाजी न हो तो सुनति होति सबकी" का भयङ्कर संकट था। इस संकट से उवारने के लिए ही उन्होंने कहा था—"शिव सरजा न यह महेश है शिव।" भूषण की यही राष्ट्रीय भावना आधुनिक काल में पौराणिक पात्रों के माध्यम से, एक विराट् राष्ट्रीय चेतना के रूप में प्रकट हुई थी।

प्रतिनिधि राष्ट्रकवि

भूषण अपने नायकों को राष्ट्र का प्रतीक मानते हैं। वे उनकी विजय को वैयक्तिक विजय न मानकर राष्ट्र की विजय मानते हैं। इसी विशेषता को लक्ष्य कर आचार्य शुक्ल ने लिखा था—"भूषण ने जिन दो नायकों की कीर्ति को अपने काव्य का विषय बनाया, वे अन्याय-दमन में तत्पर, हिन्दू-धर्म के संरक्षक—दो इतिहास-प्रसिद्ध वीर थे। उनके प्रति शक्ति और सम्मान की प्रतिष्ठा हिन्दू जनता के हृदय में उस समय भी थी और आगे भी बराबर बनी रही या बढ़ती गई। इसी से भूषण के वीररस के उद्गार सारी जनता के हृदय की सम्पत्ति हुए। भूषण की कविता कवि-कीर्ति-सम्बन्धी एक अविचल सत्य का दृष्टान्त है। जिस रचना को जनता का हृदय स्वीकार करेगा, उस कवि की कीर्ति तब तक बराबर बनी रहेगी, जब तक स्वीकृति बनी रहेगी" इस कथन

से यह स्पष्ट हो जाता है कि जब शृंगारकालीन अन्य कवि कामुकतापूर्ण विविध उक्तियों द्वारा हिन्दी-साहित्य के भण्डार में विलास की गन्दगी भर रहे थे, भूषण के भीतर का ओजस्वी कवि तड़प उठा था और उसने अपनी ओजपूर्ण वाणी से राष्ट्र पर पड़ने वाली विपत्ति से मोर्चा लेने के लिए लोगों में संघर्ष की चेतना भर दी थी। अतः भूषण सच्चे राष्ट्रीय कवि थे।

प्रश्न ८—सेनापति शृंगारकालीन (रीतिकालीन) कवि हैं अथवा भक्ति-कालीन ? अपना मत लिखिए।

उत्तर—भक्त-कवि और रीति-कवि : प्रधान लक्षण

इस प्रश्न के विवेचन के लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि भक्त-कवि और रीति-कवि की विशेषताओं का परिचय प्राप्त कर लिया जाय। भक्त-कवियों में सगुण पूजा, गुरु-पूजा, नाम-पूजा, वैराग्य, इन्द्रिय-दमन आदि गुण पाये जाते हैं। संक्षेप में, हम उसे भक्त-कवि कह सकते हैं जो विश्व से विमुख हो, प्रभु के स्वरूप का ध्यान करे और निरन्तर उसी का लीला-गान करने में लीन रहे। इसके विपरीत रीति-कवियों की विशेषताएँ हैं—राज्याश्रय की प्रवृत्ति, स्थूल शृंगार की प्रधानता, कवि और आचार्य बनने की प्रवृत्ति, प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण और चमत्कार-प्रदर्शन। रीति-काव्य में अपने आश्रय-दाता को प्रसन्न करने की भावना के कारण सर्वत्र शृंगार का प्राधान्य पाया जाता है, क्योंकि कवियों को अपने दरबारों में आश्रय देने वाले अधिकांश राजा व सामन्त विलासी और चमत्कार-प्रधान शृंगारी कविता के प्रेमी थे।

सेनापति : भक्ति-रीति का मिश्रण

सेनापति का जन्म संवत् १६४६ के लगभग हुआ माना जाता है, और भक्तिकाल संवत् १७०० तक माना गया है। इस प्रकार सेनापति का आविर्भाव भक्तिकाल और शृंगारकाल के सन्धि-युग में हुआ। इसीलिए उन पर दोनों धाराओं का प्रभाव पड़ा। अनेक विद्वान् उन्हें शृंगारकालीन काव्यधारा का कवि मानते हैं। उन्होंने इसके चार कारण दिये हैं—(१) शृंगारकालीन कवियों के समान ऋतु-वर्णन, (२) अलंकार की ओर विशेष प्रवृत्ति, (३) राज्याश्रय-प्राप्त कवि, (४) अश्लील शृंगार का चित्रण। ऋतु-वर्णन में उन्होंने शृंगार कालीन परिपाटी को अपनाया अवश्य है; फिर भी उसमें उनकी सहृदयता की स्पष्ट छाप है। उनका यह वर्णन परम्परा-मुक्त होते हुए भी उन्होंने कहीं-कहीं प्रकृति के आलम्बन रूप के ऐसे संश्लिष्ट चित्र दिये हैं जो साहित्य में अद्वितीय

माने जाते हैं; परन्तु उद्दीपन की भावना का विस्मरण वे एक-आध स्थल पर ही कर सके हैं। फिर भी उनके ऋतु-वर्णन में सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण का वैभव पाया जाता है।

अलंकार-प्रिय कवि

सेनापति अपनी अलंकार-प्रियता के लिए प्रसिद्ध हैं। उनके 'कवित्त रत्नाकर' की प्रथम तरंग का शीर्षक ही 'श्लेष वर्णन' है। इनके ये सुन्दर श्लेष हिन्दी-साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ माने जाते हैं। इसी ग्रन्थ में उनके 'चित्रकाव्य' तथा 'दृष्टकूट' आदि शब्द-कौतुक प्रधान रचनाएँ भी मिलती हैं। इनके काव्य में अलंकारों के प्रति आग्रह इतना अधिक है कि वे साधन न रहकर साध्य बन गये हैं। अपनी इस प्रकार की कविता द्वारा इनका उद्देश्य शृंगारकालीन कवियों के समान चमत्कार उत्पन्न कर प्रभाव जमाना मात्र प्रतीत होता है। इस दृष्टि से भी सेनापति शृंगारकालीन कवि सिद्ध होते हैं। चमत्कार-प्रियता रीतिकालीन कवियों की सबसे प्रिय कला रही है, क्योंकि इसकी सहायता से वे अपने आश्रयदाता और दरबारियों का मनोरंजन कर उनसे वाहवाही और धन लूटते थे।

गहन भक्ति-भावना

उनके एक कवित्त से यह ध्वनि निकलती है कि वे अपने आरम्भिक काल में किसी मुस्लिम दरबार से सम्बन्धित थे। उसमें उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि "चारि वरदानि तजि पायक म्लेच्छन के, पाइक म्लेच्छन के काहे कौं कहाइए।" इससे स्पष्ट है कि वे दरबारी कवि थे; परन्तु बाद में उस दरबारी-वातावरण से विरक्ति हो गई थी। यह विरक्ति अनेक शृंगारकालीन कवियों को भी हुई थी; परन्तु यह वह विरक्ति नहीं, जो भक्त कवियों की स्वाभाविक अन्तः प्रेरणा पर आधारित हो। यह तो वातवरण की कृत्रिमतापूर्ण एकरसता और चापलूसी से ऊबने का परिणाम है। ऐसा होते हुए भी कहना पड़ेगा कि सेनापति की भक्ति-भावना में अन्य शृंगारकालीन कवियों की भक्ति-भावना की अपेक्षा अधिक गहराई और तन्मयता है। इसका कारण यह है कि वे भक्तिकाल के अन्तिम चरण में हुए थे और उनमें भक्ति की प्रबल भावना थी।

शृङ्गार वर्णन के प्रति अभिरुचि

शृंगार के विवेचन में उन्होंने रूप-सौन्दर्य, वयःसंधि, नख-शिख आदि का वर्णन किया है। नायिका-भेद का पूरा वर्णन कर उन्होंने केवल अपनी रुचि के

अनुसार मुग्धा, खंडिता, वचन-विदग्धा आदि कुछ ही नायिकाओं के अत्यन्त सुन्दर चित्र दिए हैं। उनका विरह-वर्णन भी शृंगारी कविय का-सा है। अन्य शृंगारी कवियों के समान उन्हें भी परकीयों का वर्णन ही अभीष्ट रहा है। संयोग-पक्ष में अश्लीलता की अत्यधिक गन्ध है। श्लेष-वर्णन में कहीं-कहीं नायिका का वीभत्स चित्रण भी किया गया है। इस सबको शृंगारिक-वातावरण का ही प्रभाव माना जा सकता है।

रीति का प्राधान्य

सेनापति ने संस्कृत-साहित्य का अच्छा अध्ययन किया था। वे अपनी पूर्व-साहित्यिक परम्परा से पूर्ण परिचित थे, भले ही उन्होंने शृङ्गारकालीन परिपाटी के अनुसार नायिका-भेद तथा अलंकारों के लक्षण और उदाहरण देकर आचार्यत्व प्रदर्शित नहीं किया; परन्तु लोगों का अनुमान है कि उनका दूसरा अप्राप्त ग्रन्थ 'काव्य कल्पद्रुम' अवश्य ही लक्षण-ग्रन्थ होगा। सेनापति के सम्पूर्ण साहित्य के अध्ययन के उपरान्त पाठक पर यही प्रभाव पड़ता है। परन्तु यह कवि चमत्कार प्रिय अधिक है। यद्यपि उसमें भक्ति-भावना भी है, फिर भी उसमें भक्त कवियों की-सी एकाग्र तन्ययता का अभाव है। उसमें अनुभूति की वह गहराई नहीं मिलती जो भक्त कवियों की विशेषता है। अतः सेनापति को भक्त कवि न मानकर, रीति-कवि मानना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

प्रश्न ६—"साहित्य के किसी युग में भावपक्ष की प्रधानता और कलापक्ष की न्यूनता तथा किसी दूसरे युग में इसके विपरीत स्थिति हो जाती है।" शृङ्गारकाल (रीतिकाल) पर विशेष प्रकाश डालते हुए उपर्युक्त दृष्टिकोण से हिन्दी-साहित्य के विभिन्न युगों की समीक्षा कीजिए।

उत्तर—काव्य के दो पक्ष : भाव और कला

इस प्रश्न के विवेचन के लिए सर्वप्रथम भावपक्ष और कलापक्ष को समझ लेना आवश्यक है। बाबू गुलाब राय के शब्दों में, "कवि साधारण मनुष्य की अपेक्षा कुछ अधिक भावुक और विचारशील होता है; किन्तु वह अपने अनुभव को अपने तक ही सीमित नहीं रखना चाहता। वह अपने हृदय का रस दूसरों तक पहुँचाकर उनको भी अपनी तरह प्रभावित करने को उत्सुक रहता है। इस प्रकार काव्य के दो पक्ष हो जाते हैं—पहला अनुभूति-पक्ष और दूसरा अभिव्यक्ति-पक्ष। इन्हीं को क्रमशः भावपक्ष और कलापक्ष भी कहते हैं। पाश्चात्य समीक्षकों द्वारा प्रतिपादित काव्य के चार तत्व (रागात्मकता, कल्पना, बुद्धि

और शैली) इन्हीं दो पक्षों से सम्बन्धित हैं। इन तत्त्वों में रागात्मक तत्त्व सर्वप्रधान है। इसका सम्बन्ध अनुभूति से है। कल्पना नए-नए चित्र उपस्थित कर दोनों पक्षों को बल देती है। शैली-तत्त्व का सम्बन्ध अभिव्यक्ति-पद्धति से है। इसमें मानसिक पक्ष रहता अवश्य है, किन्तु बल कलात्मक पक्ष पर ही दिया जाता है। बुद्धि-तत्त्व अनुभूति और अभिव्यक्ति—दोनों को औचित्य की सीमा से बाहर नहीं जाने देता।'' समष्टि रूप से, काव्य का विवेचन करते समय भावपक्ष में रस का विवेचन किया जाता है और कला पक्ष में भाषा, शैली, अलङ्कार छन्द एवं विभिन्न प्रकार के वर्णनों पर विचार होता है।

भाव और कला का आनुपातिक रूप

साहित्य के निर्माण में पहले भाषा बनती है और फिर उसका व्याकरण। उसी प्रकार काव्य में पहले हृदय के सहज और अनुभूतिपूर्ण उद्‌गारों के रूप में कविता का विकास होता है; फिर उसकी शाब्दिक अभिव्यक्ति होती है। जब इस अभिव्यक्ति में परिपक्वता आ जाती है, तो स्वाभाविक रूप से इस अभि व्यक्ति का रूप भी कलात्मक हो उठता है। कलात्मक अभिव्यक्ति की सुचारुता के लिए काव्य-शास्त्र का निर्माण होता है। कुछ समय उपरान्त काव्य-शास्त्र के प्रभाव से कलापक्ष प्रबल हो उठता है और भावपक्ष गौण हो जाता है। विभिन्न साहित्यों के इतिहास में यह परिवर्तन सदैव से होता चला आया है और भविष्य में भी होता रहेगा। हिन्दी-साहित्य के इतिहास के चारों कालों में भी यही परिवर्तन होता हुआ मिलता है।

आरम्भिककाल : भावपक्ष का प्राधान्य

आरम्भिककाल भाषा और काव्य का प्रयोग-काल था। उस समय हिन्दी जन-भाषा के रूप से आगे बढ़ साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश कर रही थी। अपभ्रंश की काव्य-परम्परा से प्रभावित होते हुए भी हिन्दी अपना स्वतन्त्र विकास करने में प्रयत्नशील थी। उस काल में अधिकांश कवियों का काव्य-रचना करने का मुख्य उद्देश्य या तो योद्धाओं में उत्साह का संचार करना था अथवा शृंगार की मनोहारी अभिव्यक्ति करना। इसलिए 'रासो' काल के कवि वीर और शृंगार रसों के भावों को प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत करने में दत्तचित रहे। वह हिन्दी का आरम्भिक काल था, अतः उस समय उसका अपना कोई काव्य-शास्त्र नहीं था। अधिकांश कवि ओजस्वी वाणी में अपने स्वामियों का गुणगान करते रहे। ये कवि योद्धा और कवि—दोनों थे। इसलिए इनके काव्य में हृदय

की सच्ची भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई। हृदय की अनुभूति में सदैव एक निश्छलता और अकृत्रिमता रहती है। इन कवियों ने अपने काव्य को आकर्षक बनाने का बहुत कम प्रयत्न किया इस काव्य का प्रधान आकर्षण उसका भाव-सौन्दर्य था। 'रासो' ग्रन्थों में काव्य-सौन्दर्य की अपेक्षा भाव-सौन्दर्य का ही प्राधान्य मिलता है। परन्तु ये कवि प्रतिभाशाली थे, इसलिए इनके काव्य में कलापक्ष का सौन्दर्य प्रकट तो अवश्य हुआ; परन्तु भाव-पक्ष की तुलना में यह अशक्त और अपूर्ण रहा है। ये कवि इन दोनों पक्षों में सन्तुलन स्थापित करने में सफल न हो सके, क्योंकि उस समय तक हिन्दी के काव्य-शास्त्र का विकास नहीं हो पाया था। इसी कारण हमें इस काव्य में भाषा के मनमाने, अनगढ़ रूपों का प्रयोग करने की प्रवृत्ति अधिक मिलती है। इस काल में प्रयुक्त छन्द अलंकार, प्रबन्ध-शैली आदि अपभ्रंश की काव्य-परम्परा से प्रभावित हैं।

सन्त-सूफी-काव्य : भावात्मक सौन्दर्य से ओतप्रोत

भक्ति-काल का पूर्वार्द्ध भी कलापक्ष की दृष्टि से हीन रहा। कबीर और जायसी अधिक शिक्षित नहीं थे। कबीर तो पूर्ण रूप से अशिक्षित ही रहे, इसलिए उनसे कलापक्ष के सौन्दर्य की आशा ही व्यर्थ थी। दूसरे, उनका उद्देश्य केवल काव्य-रचना करना न होकर, काव्य के माध्यम द्वारा जनता को अपना सन्देश पहुँचाना मात्र था। फलस्वरूप वे कलापक्ष के प्रति उदासीन रहे। यदि वे कलापक्ष को सुन्दर बनाने का प्रयत्न भी करते तो उनके लिए ऐसा करना सम्भव नहीं था, क्योंकि उनका काव्य-शास्त्र का ज्ञान शून्य के बराबर था। उनके काव्य में जहाँ कहीं कलापक्ष के थोड़े-बहुत दर्शन होते हैं तो उसका मूल कारण उनकी अनुभूति की तीव्रता ही है। साथ ही जिस काव्य में खण्डन मण्डन की प्रवृत्ति तथा उपदेश की भावना प्रबल होती है' उसका कलापक्ष सदैव हल्का रहता है। जायसी फारसी के विद्वान थे। हिन्दी काव्य-शास्त्र में वे भी पारंगत नहीं थे। उनकी साधारण स्तर की साहित्यिक भाषा और मसनवी शैली इसका प्रमाण है। प्रेमगाथा काव्य के कवियों में सन्त कवियों की अपेक्षा फिर भी कलापक्ष का सौन्दर्य अधिक रहा है। कारण यह है कि इनकी अभि-व्यक्ति सरस अनुभूतियों पर आधारित है। हार्दिक प्रेम की तन्मयता एवं सरसता ने प्रेम-काव्य में स्वतः ही कलापक्ष का सौन्दर्य उत्पन्न कर दिया है; प्रधातना भावपक्ष की ही रही है। वीरगाथा-काल के कवियों का कला-पक्ष उनसे सुन्दर और श्रेष्ठ है। इसका कारण यह था कि अधिकांश प्रेमगाथा

कार कवि मुसलमान थे, जिनका भारत की साहित्यिक परम्परा के साथ घनिष्ठ परिचय नहीं था।

सगुणभक्ति-काव्य : भाव और कला का सन्तुलित रूप

भक्तिकाल का उत्तरार्द्ध हिन्दी-साहित्य का 'स्वर्ण-युग' माना जाता है। इसके प्रतिनिधि कवि—सूर और तुलसी हैं। तुलसी के साहित्य में भावपक्ष और कलापक्ष का अत्यन्त सन्तुलित समन्वय हुआ है। उनका 'मानस' भक्तों को जितना प्रिय है, उतना ही काव्य-प्रेमियों को भी। तुलसी का काव्य-शास्त्र का अध्ययन गम्भीर और विशाल था। उन्होंने उस समय तक प्रचलित सभी काव्य शैलियों का उपयोग साहित्य में किया। ब्रज और अवधी—दोनों भाषाओं पर उनका अधिकार था। उनके काव्य में भाव-सौन्दर्य की प्रधानता तो है ही, साथ ही भाषा, छन्द, अलंकार आदि के निरूपण में भी वे किसी भी उच्चकोटि के कलाकार से कम नहीं हैं। कृष्ण-काव्य के सूर-साहित्य में भावपक्ष प्रधान है। उसमें कलापक्ष का वह परिष्कार और परिमार्जित रूप नहीं मिलता जो तुलसी में है। कारण यह था कि सूर का काव्य-शास्त्र का अध्ययन सीमित था। दूसरे वे भावुक और केवल भक्त थे। इसलिए उन्होंने कलापक्ष को सँवारने का विशेष प्रयत्न भी नहीं किया। उनके काव्य में दोनों पक्षों का सुन्दर सन्तुलन नहीं हो सका। परन्तु कृष्णभक्त-कवियों में नन्ददास-जैसे कवियों के काव्य में इन दोनों का वही सौन्दर्य मिलता है जो तुलसी-साहित्य में है। इसमें सूर की अपेक्षा यह सन्तुलन अधिक है। समष्टि रूप से, भक्तिकाल के उत्तरार्द्ध में भावपक्ष और कलापक्ष का सुन्दर सन्तुलित समन्वय हुआ है। फिर भी सूर-साहित्य को कलात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से किसी भी रूप में कम नहीं माना जा सकता। सूर ने ही ब्रजभाषा को सच्चे अर्थों में परिष्कृत काव्य-भाषा का रूप प्रदान किया था।

शृङ्गारकाल : कलापक्ष की प्रधानता

शृंगारकाल तो कला-काल कहलाता ही। इस काल की प्रधान प्रवृत्ति चमत्कार-प्रदर्शन की रही है है। चमत्कार-प्रदर्शन में हृदय की अनुभूतियों का स्थान गौण और बाह्य सौन्दर्य प्रधान रहता है। इसलिए इस काल में हृदयपक्ष की बहुत अधिक अंशों में अवहेलना हुई है। इस काल में "हिन्दी कविता अपने उच्च शिखर से गिरकर अलंकार आदि के माया-जाल में ऐसी फँसी कि वह हृदयतन्त्री को बजाने वाली और समस्त सृष्टि से मनुष्य मात्र के रागात्मक

सम्बन्धों को स्थापित करने वाली न रह गई।" (इस काल का विस्तृत विवेचन प्रश्न ६ में किया जा चुका है)। समष्टि रूप से, इस काल में कलापक्ष की प्रधानता और भावपक्ष की न्यूनता रही। भावपक्ष केवल घनानन्द आदि स्वच्छन्द प्रेम-धारा के कवियों में परिष्कृत रूप में प्राप्त होता है। घनानन्द में भावपक्ष और कलापक्ष का सुन्दर सन्तुलित समन्वय उनके काव्य को शृंगारकालीन समस्त काव्य की शीर्षमणि बना देता है। ऐसी सुगठित, सुन्दर, सशक्त भाषा में भावों का ऐसा मार्मिक अनुभूतिमय अंकन रीतिकाल में अन्यत्र दुर्लभ है।

आधुनिककाल : दोनों पक्षों का उतार-चढ़ाव

आधुनिक काल के आरम्भ में गद्य का प्रयोग हो रहा था और काव्य में शृङ्गार-कालीन प्रवृत्तियाँ ही अपना प्रभुत्व जमाए हुए थीं। भारतेन्दु-युग की कविता में कलापक्ष अधिक प्रबल था और गद्य में भावपक्ष। इस काल के गद्य साहित्य में एक बाल-सुलभ भोलापन और सौन्दर्य मिलता है। जो मन में आया स्पष्ट रूप से कह दिया। द्विवेदी युग में भाषा का परिष्कार हुआ, इसलिए कला पक्ष पर विशेष ध्यान दिया गया; साथ ही भावपक्ष को भी सन्तुलित रखने का यथासाध्य प्रयत्न होता रहा। उसकी अवहेलना पाप समझी गई। इसमें नवयौवन अथवा किशोरावस्था की सी बनाव-चुनाव की सतर्कता रही। छायावादी युग में यह सतर्कता और अधिक बढ़ी और भाषा के सुन्दरतम रूप के दर्शन हुए; परन्तु केवल बाह्य सौन्दर्य ही नहीं बढ़ा, अपितु कल्पना की ऊँची उड़ानों ने भाव-सौन्दर्य का स्पन्दन भी पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न किया। प्रधानता आंशिक रूप से कलापक्ष की ही रही। प्रगतिवादी युग में पुनः प्रतिक्रिया हुई। इसमें उपयोगिता को प्रधान मानकर कलापक्ष को गौण मान लिया गया। इस काव्य में भाव-सौन्दर्य की अपेक्षा मस्तिष्क का चिन्तन ही अधिक रहा। इसलिए यह काव्य आरम्भ में नीरस था; लेकिन अब इसका परिष्कार हो रहा है। प्रयोगवादी काव्य में भावपक्ष की अवहेलना और कलापक्ष की प्रधानता दिखाई पड़ी। प्रयोगवादी कवि 'क्या कहता है', इस बात की चिन्ता न कर 'कैसे कहना है' की तरफ ही अधिक ध्यान देते थे। परन्तु इधर की नई काव्य-रचनाओं में भाव और कला—दोनों के सन्तुलित समन्वय की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा है। युगानुकूल परिवर्तित नवीन भावों के अभिव्यंजन के लिए भाषा का नवीन, अधिक सशक्त रूप प्रस्तुत किया जा रहा है काव्य प्राचीन रूढ़ियों का मोह त्याग, नवीन भावानुभूतियों का स्पर्श करता आगे बढ़ रहा है।

अभी यह युग द्रुत साहित्यिक-विकास की मंजिल से गुजर रहा है, इसलिए इसके भावपक्ष और कलापक्ष में अपेक्षित सन्तुलित समन्वय नहीं हो पाया है। परन्तु हमारा साहित्य उस सन्तुलित-समन्वय वाली स्थिति के काफी नजदीक पहुँच गया है।

आधुनिक काल या पुनर्जागरण का काल

प्रश्न १—आधुनिक काल की परिस्थितियों तथा प्रमुख प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—**आरम्भिक विभिन्न परिस्थितियाँ**

साधारणतः आधुनिक युग का आरम्भ सन् १८५० से माना जाता है। यद्यपि हिन्दी-गद्य का व्यापक रूप में प्रयोग होना सन् १८०० के आस-पास आरम्भ हो चुका था, परन्तु उसे पूरी तरह से साहित्य का माध्यम बनने में लगभग आधी शताब्दी का समय लग गया था। सन् १८५० भारतेन्दु का जन्म-काल है और आधुनिक काल का प्रथम चरण भारतेन्दु से ही सम्बन्धित है। परन्तु भारतेन्दु-युग का विवेचन करने के लिए हमें उन तत्कालीन परिस्थितियों पर विचार करना पड़ेगा, जब विदेशी अंग्रेजी शासन, संस्कृति, भाषा और आदर्शों के टकराव से भारतीय जीवन में भयंकर नवीन उथल-पुथल आरम्भ हो गई थी। सन् १८५७ के प्रथम स्वतन्त्रता-युद्ध के असफल हो जाने से ब्रिटिस-शासन-सत्ता हमारे देश में पूर्ण रूप प्रतिष्ठित हो गई। उसकी विरोधी शक्तियाँ एक दीर्घकाल के लिए हतप्रभ बन शान्त होकर बैठ गईं। इस असफलता से उन शक्तियों का तीव्र ह्रास हुआ, जो मध्यकालीन रूढ़ समाज-व्यवस्था और संस्कृति की पोषक थीं। फलस्वरूप मध्यकालीन सामन्ती व्यवस्था और संस्कृति इस देश से लुप्त होने लगी और एक नवीन परन्तु विदेशी शोषण पर आधारित आर्थिक-राजनीतिक प्रणाली का सूत्रपात्र हुआ। इस परिवर्तन के लक्षण बहुत पहले से दिखाई देने लगे थे। जनता सामन्ती व्यवस्था से ऊब चुकी थी और उसका विरोध करने लगी थी। जन-क्रान्ति की भावना पनप रही थी। प्रख्यात कम्यूनिस्ट लेखक रजनी पामदत्त का मत है कि विदेशी अंग्रेजों के आगमन से इस जन-क्रान्ति में विलम्ब ही हुआ। अंग्रेजों ने हमारे निरन्तर विकासवान उद्योग-धन्धों का नाश कर हमारी सामाजिक और आर्थिक उन्नति में एक भयंकर व्यवधान उपस्थित कर दिया। शृंगार-काल सामन्ती समाज-व्यवस्था और संस्कृति के ह्रास का युग था। अधुनिक युग व्यावसायिक क्रान्ति और सांस्कृतिक नवजागरण का

युग है। भारत की साहित्यिक आत्मा, जो सीमित और रूढ़िवादी दरबारी तथा सामाजिक जीवन के कारण निष्प्राण हो रही थी, इस नई संस्कृति के संस्पर्श से चेतन हो जाग उठी।

नव चेतना का उदय

डाक्टर रामविलास शर्मा के शब्दों में, "संसार के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कार्ल मार्क्स, डारविन, भारतेन्दु, ईश्वरचन्द विद्यासागर, टालसटाय आदि महापुरुषों के त्याग और तपस्या का यही काल था। इन वैज्ञानिकों, समाज-सुधारकों और साहित्यिकों ने मानव-विकास के मार्ग में अड़ी हुई बड़ी-बड़ी शिलाओं को अपने सबल हाथों से ठेल कर एक ओर कर दिया।.....हिन्दुस्तान में सन् १८५७ के पहले रीतिकालीन परम्परा का जोर था। यह वह संस्कृति थी, जो समाज को निकम्मा बनाए हुई थी। इस परम्परा का मुसलमानी दरबारों में ज्यादा जोर होना स्वाभाविक था।.....एक दिन वह महल ढहकर गिर पड़ा, लखनऊ और दिल्ली की बुलबुलें उड़ गईं। लाखों किसानों का रक्त बहा। नवाबी का अन्त हुआ। लोगों ने एक सुख की साँस ली। रामपुर और हैदराबाद में फिर बुलबुलें चहकने लगीं।" इस वक्तव्य से तत्कालीन साहित्यिक, सामाजिक तथा राजनीतिक परिवर्तन की रूपरेखा स्पष्ट हो जाती है।

देश-प्रेम : मूल चेतना

प्रसिद्ध आलोचक प्रकाशचन्द्र गुप्त ने आधुनिक युग की प्रेरक विभिन्न परिस्थितियों का विवेचन करते हुए लिखा है—"आधुनिक युग का प्रारम्भ उत्पादन, यातायात और वितरण के नए साधनों के साथ होता है। अंग्रेजों ने भारत की आर्थिक व्यवस्था में अनेक नए परिवर्तन किए। एक ओर तो उन्होंने देशी उद्योग-धन्धों को आमूल तहस-नहस किया; किन्तु दूसरी ओर उन्होंने विदेशी पूंजी से नए उद्योग-धन्धे भी भारत में स्थापित करने शुरू किए।.....रेल, तार, डाक जो उन्होंने अपनी आर्थिक और राजनीतिक सत्ता कायम करने के लिए खड़े किए, वे भारत में एक नए जीवन और संस्कृति के दूत भी बन गए। अंग्रेजी शिक्षा का जो अस्त्र उन्होंने अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए चलाया था, सुदर्शन-चक्र की भाँति उलटकर उन्हीं के मर्म-स्थल पर लगा।" इस नवीन शिक्षा से, अंग्रेजों की आशा के विपरीत, जाति में नव-चेतना का प्रभाव प्रस्फुटित हुआ। इस नव-चेतना के आलोक में भारतीयों में

अपने देश, समाज, साहित्य, संस्कृति आदि के प्रति गौरव की भावना उत्पन्न हुई। अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से हमारा पश्चिम से अधिकाधिक सम्पर्क बढ़ता गया। और अंग्रेजों की स्वार्थ-लिप्सा और मक्कारी का रूप अधिक स्पष्ट होता चला गया। भारतवासी-अंग्रेजों के वास्तविक उद्देश्य से पूर्णतः परिचित हो गए। अंग्रेज द्वारा आरम्भ की गई नई शिक्षा-प्रणाली ने भारत की पुरानी शिक्षा-प्रणाली का विनाश कर शिक्षा को ज्ञान का नहीं, केवल जीविकोपार्जन का साधन बना दिया, जिससे देश में निरक्षरता बढ़ती चली गई क्योंकि यह नई शिक्षा बहुत खर्चीली थी।

परिवर्तित होता नवीन जनवादी दृष्टिकोण

हमारा भक्तिकालीन साहित्य जनता का साहित्य था और श्रृंगार-कालीन साहित्य दरबारों का। आधुनिक हिन्दी-साहित्य भारतीय समाज के एक सर्वथा नए वर्ग का साहित्य है, जो नवीन शासन, जनवादी चिन्तन और आर्थिक प्रणालियों के फलस्वरूप रंगमंच पर प्रवेश कर रहा था। यह साहित्य वस्तुतः भारतीय मध्यवर्ग की सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक चेतना का फल था। इसका प्रधान कारण यह था कि पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क में आने से तथा भारतीय चिन्तकों के नवीन दृष्टिकोण से राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक क्षेत्र में भारतीय दृष्टिकोण बदल रहा था और इसी बदलते हुए दृष्टि-कोण से प्रेरणा ग्रहण कर आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास हुआ। नव-जागरण से उत्पन्न विचार-स्वातन्त्र्य के प्रभाव से प्रेरित हो हमारे साहित्य ने रूढ़ि के बन्धनों को तोड़ कर नए युग में प्रवेश किया।

नई सामाजिक चेतना

ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज के रूप में हमारा धार्मिक दृष्टिकोण सुधार-वादी रूप ग्रहण करने लगा। राजा राममोहनराय और स्वामी दयानन्द ने धार्मिक रूढ़ियों का विरोध कर सामाजिक सुधार की आवाज बुलन्द की। राय महोदय पश्चिम की ओर झुके और स्वामी जी प्राचीन वैदिक संस्कृति की ओर। दूसरी ओर अनेक प्रकार के कर, अकाल, महामारी तथा राजनीतिक अत्याचारों से जनता में देश-प्रेम की जागृति उत्पन्न हुई। क्योंकि सामान्य-जन इस सबका कारण विदेशी अंग्रेज को ही समझता और मानता था। इससे देश में एक नए प्रकार के संघर्ष का जन्म हुआ। इस नवीन संघर्षजनित हलचल के युग में श्रृंगारकालीन श्रृंगारिक भावना लुप्त हो चली।

गद्य और साहित्य का जनतान्त्रिक रूप

मुद्रण-कला के प्रचार ने इस काल के साहित्य को सर्व-सुलभ और जन-प्रिय बनाने में बहुत योग दिया। पहले साहित्य का अध्ययन एक विशिष्ट वर्ग तक सीमित था। प्रेस ने साहित्य को जनतान्त्रिक रूप प्रदान कर उसे जन-सामान्य तक पहुँचाना आरम्भ कर दिया। समाचार-पत्र, उपन्यास, कहानियाँ, कविता आदि प्रेस के कारण खूब प्रचारित हुईं। "इस प्रकार प्रेस ने साहित्य के प्रचार में, उसकी अभिवृद्धि और उसकी नई-नई शाखाओं को उत्पन्न करने में केवल सहायता ही नहीं दी, बल्कि उनकी दृष्टि के आमूल परिवर्तन में योग दिया। प्रेस के साथ-ही-साथ पाश्चात्य विद्वानों ने भी इस काल के साहित्य को बहुत प्रभावित किया। इतिहास और पुरातत्त्व के शोध में, प्राचीन भारतीय साहित्य और धर्म के वैज्ञानिक अध्ययन में और नई-पुरानी भारतीय भाषाओं के वैज्ञानिक विवेचन में यूरोपीय पण्डितों ने बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इससे आगे चलकर प्रत्यक्ष रूप से हिन्दी-साहित्य का उपकार हुआ।" —(आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी)। कहा जाता है कि अंग्रेजों के प्रयत्न से हिन्दी-गद्य के सुव्यवस्थित रूप का प्रचार हुआ था। उन्होंने भारतीय विद्वानों द्वारा हिन्दी-उर्दू पुस्तकें लिखवाने का भी प्रयत्न किया; परन्तु यह मत आंशिक सत्य पर आधारित है। अंग्रेजों ने तो आरम्भ से ही हिन्दी और उर्दू के बीच वैमनस्य की दीवार खड़ी कर उर्दू को बढ़ावा देने का और हिन्दी को हतोत्साहित करने का षड्यंत्र रचना आरम्भ कर दिया था। हिन्दी-गद्य तो नये युग की नई जरूरतों को पूरा करने के लिए पहले ही जन्म ले चुका था और उसका प्रचार बढ़ रहा था। लल्लूजीलाल आदि हिन्दी-गद्य के तथाकथित प्रथम लेखकों से काफी साल पहले से हिन्दी-गद्य लिखा जाता रहा था, जो इन लोगों के लिखे गद्य से अधिक पुष्ट, परिष्कृत और प्रांजल था। परन्तु उसका यथोचित विकास और प्रचार नहीं हो पाया था। भारत में अंग्रेजों के आने से पूर्व हर गाँव में पाठशालाएँ और मदरसे थे, जिनमें सबको पढ़ाया जाता था इसलिए भारत में अशिक्षितों की संख्या न के बराबर थी। परन्तु अंग्रेज ने उस शिक्षा-व्यवस्था को नष्ट कर अपनी नई शिक्षा-प्रणाली आरम्भ की थी। इसके साथ ही भारत में निरक्षरों की संख्या का बढ़ना आरम्भ हो गया था। नई शिक्षा केवल नौकरी दे सकती थी और वह भी सबको नहीं। इसी कारण भारत में

अशिक्षितों और बेकारों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती चली गई। यह अंग्रेजी शिक्षा का ही दुष्परिणाम था, और आज भी है। अस्तु,

शिक्षा और राष्ट्रीय चेतना का उदय

इसके अतिरिक्त ईसाई-प्रचारकों ने भी हिन्दी का प्रचार करने में योग दिया उन्होंने अपनी धार्मिक पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद करके ईसाई धर्म के प्रचारार्थ जनता में वितरित किया। अंग्रेजों की प्रेरणा से कई समाचार-पत्र भी निकाले गए। नई शिक्षा के प्रसार के लिए स्कूलों और कॉलेजों की स्थापना की गई। अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार से, उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप, भारतीयों में स्वतन्त्रता की भावना अधिक दृढ़ हुई विदेशी अंग्रेजी शासन ने अपने सम्पूर्ण काल में हिन्दी को कभी प्रश्रय नहीं दिया। वह केवल उर्दू को ही प्रश्रय देता रहा। देवनागरी लिपि और हिन्दी-भाषा को कोई प्रोत्साहन नहीं मिला; परन्तु समस्त विरोधों और उपेक्षाओं को पददलित करती हुई हिन्दी केवल अपनी आन्तरिक प्राण-शक्ति के बल पर आगे बढ़ती गई। सन् १८८५ में 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस' की स्थापना हुई, जिसने आगे चलकर भारतीय चिन्तनधारा को बहुत अधिक प्रभावित किया, जो क्रमशः सामाजिक सुधार और धार्मिक प्रचार के उत्साह को राजनीतिक आन्दोलन के रूप में बदल देने में समर्थ हुई। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में भारत की साहित्यिक चेतना प्रधान रूप से राष्ट्रीय चेतना के रूप में प्रकट हुई। इस काल में कविता, नाटक, उपन्यास निबन्ध आदि—सभी साहित्यिक कृतियों में इस राष्ट्रीय चेतना का प्रभाव लक्षित होता

है। साथ ही इस साहित्य के भावों, विचारों तथा शैली पर अंग्रेजी का प्रभाव पड़ रहा था। इस काल के साहित्य की इसी प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हुए डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय लिखते हैं—"उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के हिन्दी-लेखकों और कवियों ने अपनी रचनाओं में नव-भारत की राजनीतिक और आर्थिक महत्त्वाकांक्षाएँ प्रकट करके अपने चारों ओर के धर्म और समाज की पतित अवस्था पर क्षोभ प्रदर्शित करते हुए भविष्य के उन्नत और प्रशस्त जीवन की ओर इंगित किया।"

खड़ीबोली-गद्य का व्यापक प्रचार

बाबू गुलाबराय आधुनिक युग की पृष्ठिभूमि का संक्षिप्त परिचय देते हुए लिखते हैं—"अंग्रेजी राज्य के आने से लोगों का ध्यान जीवन की कठोर वास्त-

विकताओं की ओर गया। (क्योंकि इन कठोर वास्तविकताओं का जनक नया अंग्रेजी-शासन ही था।—था लेखक) जीवन-संग्राम बढ़ा और साथ ही, जातीय जीवन की भी जागृति हुई।........लोग अपनी सभ्यता को महत्त्व देने लगे। जनता ने अपने राजनीतिक अधिकारों को समझा और अपने राष्ट्रीय भाव को प्रकट करना चाहा। हिन्दू लोगों ने विदेशी धर्मों का मुकाबला करने के लिए अपने धर्म को बुद्धिवाद के आलोक में परिष्कृत करना आरम्भ किया। राजा राम मोहन राय ने ब्रह्मसमाज की और महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना की। ऐसे बुद्धिवादी और प्रतिद्वन्द्विता के युग में जनता के भावों के प्रकाशन के लिए पद्य उपयुक्त माध्यम नहीं हो सकता था। अतः अंग्रेजी राज्य के साथ-साथ गद्य का युग आया।........पद्य में ब्रजभाषा का साम्राज्य था, किन्तु नवीन युग आ जाने पर उसकी कोमल-कान्त पदावली जीवन की संघर्ष-मय कठोर भूमि के लिए अनुकूल सिद्ध न हो सकी। ब्रजभाषा गद्य के उपयुक्त न ठहरी। अरबी-फारसी भी व्यवहार-योग्य भाषाएँ न थीं। फलतः खड़ीबोली, पहले गद्य की भाषा स्वीकार की गई और बाद में गद्य-पद्य---दोनों का माध्यम बनी।"

वैचारिक उथल-पुथल

आधुनिक काल की परिस्थितियों की उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल की सबसे प्रधान प्रवृत्ति राष्ट्रीयता, देश-प्रेम अथवा स्वतन्त्रता की भावना रही थी। राष्ट्रीय वीरों का ज्ञान, राष्ट्र-पतन के लिए दुखः-प्रकाश, समाज की अवनति के प्रति क्षोभ, कुरीतियों के परिहार के लिए अधीरता और तत्परता तथा हिन्दू जातीयता—ये आधुनिक युग के आरम्भिक उत्थान की प्रमुख प्रवृत्तियाँ थीं। भारतेन्दु काल से चलकर ये प्रवृत्तियाँ निरंतर विकसित, परिमार्जित और अन्य अनेक नवीन प्रवृत्तियों से प्रभावित होती चली आ रहीं थीं। २०वीं शताब्दी में आकर साहित्य के क्षेत्र में कुछ नितान्त नवीन प्रवृत्तियों का मिश्रण हो गया; जैसे—छायावाद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद और नवीन रहस्यवाद आदि। भारतेन्दु काल से द्विवेदी काल तक इस साहित्य की धारा एकरस चलती चली आई। छायावादी युग में आकर इसमें अकस्मात् परिवर्तन दिखाई दिया। राजनीतिक आन्दोलनों की असफलता ने युवकों को निराश और पलायनवादी बना दिया। इस निराशा एवं पलायन की भावना और साथ ही नवीन सौन्दर्यानुभूति की भावना ने छायावाद को जन्म दिया।

काव्य मानव-जीवन के क्षेत्र से कुछ सीमा तक हट गया। फिर भी इसमें मानवतावादी स्वर काफी प्रबल रहा।

परिवर्तनशील युग : खड़ीबोली का एकछत्र साम्राज्य

इस काल की सबसे प्रधान घटना खड़ीबोली-गद्य का व्यापक प्रचार होना और खड़ीबोली द्वारा ब्रजभाषा को अपदस्थ कर स्वयं गद्य-पद्य में प्रभुत्व स्थापित करना है। इस काल में साहित्य कभी जन-जीवन के साथ पूरी तरह से घुल-मिलकर चला है और कभी उसने उसकी उपेक्षा भी की है। परिवर्तन बहुत शीघ्र और अस्थाई होते रहे हैं। यह काल हिन्दी-साहित्य के सम्पूर्ण इतिहास में सबसे अधिक घटनापूर्ण, परिवर्तनशील और बहुमुखी रहा है। इस स्थिति ने हिन्दी-साहित्य को व्यापकता प्रदान की है। उसमें गद्य और पद्य की नई-नई विधाओं का जन्म हुआ है तथा उसकी गम्भीरता, भाषा-शक्ति और प्रांजलता में वृद्धि होती चली गई है।

आधुनिक काल की विशेषताएँ

आधुनिक काल को हिन्दी-साहित्य का 'स्वर्ण-युग' कहा जा सकता है। इस काल में साहित्य के प्रत्येक अंग का जन्म और विकास हुआ है। साथ ही विभिन्न साहित्यिक रूपों और प्रवृत्तियों की विविधता भी रही है। यह पूर्ववर्ती साहित्य की अपेक्षा अधिक आशाजनक रहा है। इसके कई कारण हैं—(१) विकास, (२) राष्ट्रीय भावों की प्रधानता। आज की राष्ट्रीयता में आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक आदि—सभी समस्याओं का समावेश है। (३) शुद्ध शृंगारिकता—भक्ति की मर्यादा एवं रीति की अति से दूर मध्यम मार्ग—शुद्ध वातावरण। (४) आज का साहित्य जीवन के अधिक समीप है—अब उसमें कल्पना की अपेक्षा वास्तविकता का प्राधान्य है। इस युग में आंशिक रूप से छायावाद और प्रयोगवाद को छोड़कर सर्वत्र मानव-जीवन को प्रधानता दी गई है। (५) दार्शनिकता की अभिव्यक्ति छायावाद और रहस्यवाद के रूप में हुई है। साहित्य के सभी अंगों का पूर्ण विकास हुआ है। इससे पूर्व केवल कविता थी और आज गद्य के साथ सब कुछ है। (६) वादों की प्रधानता—अन्य युग में वादों की प्रधानता नहीं थी; परन्तु इस युग में वादों की बाढ़ आ गई है, जिसने साहित्य के क्षेत्र को अधिक विस्तृत बनाया है संक्षेप में, यही इस काल की विशेषताएँ हैं।

प्रश्न २—आधुनिक हिन्दी-साहित्य के विकास पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

उत्तर—आचार्य शुक्ल ने आधुनिक काल के इतिहास को तीन उत्थानों में विभाजित किया है—(१) प्रथम उत्थान, संवत् १९२५-५०; (२) द्वितीय उत्थान संवत् १९५०-७५; और तृतीय उत्थान, १९७५ से आरम्भ। अन्य आलोचकों ने इस काल को भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग और छायावादी युग में विभक्त किया है; परन्तु 'छायावाद' अधिकतर आधुनिक हिन्दी-काव्य से सम्बन्धित रहा है, इसलिए उस समय के गद्य-साहित्य को इसके अन्तर्गत पूर्ण रूप से नहीं ग्रहण किया जा सकता। कुछ आलोचकों ने इस काल के विभिन्न साहित्याङ्गों के प्रतिनिधि साहित्यकारों के नाम पर तृतीय उत्थान को 'प्रेमचन्द प्रसाद-शुक्ल काल' कहा है।

सन्धि काल : साहित्यक विधाओं का जन्म

प्रथम उत्थान (भारतेन्दु-युग)—भारतेन्दु आधुनिक हिन्दी-साहित्य के जन्मदाता माने जाते हैं। उनका युग आधुनिक हिन्दी-साहित्य का प्रवेशद्वार है। इस युग को हम संक्रान्तिकाल का युग अथवा सन्धि-युग भी कह सकते हैं। यह युग प्राचीन परम्पराओं और मर्यादाओं की रक्षा करते हुए भी नवीन राजनीतिक एवं सांस्कृतिक चेतना को लेकर आगे बढ़ा। इस युग में खड़ीबोली को सर्वप्रथम गद्य का माध्यम स्वीकार किया गया। पद्य की भाषा ब्रजभाषा ही रही। भारतेन्दु के नेतृत्व में गद्य के क्षेत्र में खड़ीबोली का अभूतपूर्व विकास और प्रसार हुआ; परन्तु भारतेन्दु-युग का अधिकांश काव्य ब्रजभाषा में ही रचा गया। यह मध्यकालीन भक्ति और रीति की काव्य-परम्पराओं से भी काफी प्रभावित रहा। खड़ीबोली और ब्रजभाषा का संघर्ष इसी युग से आरम्भ हो गया था। भारतेन्दु-युग में अनेक गद्य-रूपों का विकास हुआ। इन नये रूपों में पत्रकारिता, उपन्यास, कहानी, नाटक, आलोचना, निबन्ध आदि का आरम्भ हो चुका था।

गद्य का बहुमुखी विकास

हिन्दी-गद्य के प्रवर्त्तकों में चार प्रथम पुरुषों के नाम आते हैं—मुन्शी सदा सुखलाल (सुखसागर), इंशाअल्लाखां (रानी केतकी की कहानी), लल्लूजीलाल (प्रेमसागर), और सदल मिश्र (नासिकेतोपाख्यान)। इस युग में खड़ीबोली गद्य को व्यापक रूपरेखा प्रस्तुत हो रही थी गद्य-निर्माण के इस युग में खड़ीबोली गद्य पत्रिकाओं ने यथेष्ट योग दिया। इनमें 'उदंत मार्त्तण्ड', 'कवि-वचन सुधा',

'हरिश्चन्द्र मैगजीन' विशेष उल्लेखनीय हैं। उपन्यासों के क्षेत्र में श्रीनिवासदास कृत 'परीक्षा गुरु' हिन्दी का सर्वप्रथम उपन्यास माना जाता है। देवकीनंदन खत्री के तिलिस्मी उपन्यास और पण्डित-किशोरीलाल गोस्वामी के सामाजिक उपन्यासों ने हिन्दी-उपन्यास-लेखन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया। इन उपन्यासों में केवल घटना-वैचित्र्य है—चारित्र-चित्रण नहीं। इस युग में हिन्दी में नाटक भी लिखे जा रहे थे। भारतेन्दु से पूर्व लिखे गए प्रबोध-चन्द्रोदय, देवमाया प्रपंच, रुक्मिणी-हरण आदि नाटक प्राप्त हुए हैं; परन्तु हिन्दी का पहला आधुनिक नाटक भारतेन्दु के पिता गिरिधरदास का 'नहुष' माना जाता है। इसके उपरान्त भारतेन्दु ने दर्जनों मौलिक और अनूदित नाटक लिखे। इनके नाटकों में साहित्यिकता के साथ-साथ नाटकीय गुण भी हैं। आलोचना का आरम्भ श्रीनिवासदास के 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना से होता है। लेखों, पुस्तकों और साहित्यिक रूपों की विवेचना इसी युग से आरम्भ हुई। इस युग के लेखकों ने पाश्चात्य आलोचना-शैली का अध्ययन कर अपने युग के लेखकों के सम्मुख नये आदर्श उपस्थित किए। इसी युग में निबन्ध, जीवनी आदि लिखने का आरम्भ हुआ। संक्षेप में, गद्य के विकास की दृष्टि से भारतेन्दु-युग को उसी मजबूत नींव के समान माना जा सकता है, जिस पर आगे चलकर हिन्दी-साहित्य के विशाल भवन की क्रमशः एक-एक मंजिल बनती चली गई थी। इस प्रकार इस युग में उपन्यास, आलोचना, निबन्ध, नाटक, जीवनी आदि गद्य की नई विधाएँ जन्म लेती हैं।

साहित्य : नवीन युग-चेतना का वाहक

काव्य के क्षेत्र में इस काल के लेखकों ने हिन्दी की प्राचीन परम्परा को तो अपनाया ही; साथ ही उसे विकास के नए पथ पर भी अग्रसर किया। भारतेन्दु ने प्रकृति, शृङ्गार, कृष्णलीला आदि का वर्णन परम्परा से थोड़ा-सा हटकर, अपनी स्वतन्त्र अनुभूति से किया। किन्तु सामाजिक और राजनीतिक विषयों का समावेश प्रथम बार इसी युग में हुआ। इस नवीन परिवर्तन से हमारा ध्यान प्राचीन काव्य-शास्त्रीय-पद्धतियों से हटकर जीवन के यथार्थ की ओर बढ़ रहा था। राजनीतिक परिवर्तन से उत्पन्न विषम परिस्थितियों का चित्रण इस युग के लेखकों का प्रधान कार्य रहा। उन्होंने निरन्तर 'टिक्कस', 'अकाल' और 'महामारी' जैसी आपदाओं का वर्णन किया। राजनीतिक और सामाजिक सुधार के लिए उच्चकोटि के व्यंग्य और हास्य का आश्रय लिया।

इस युग के लेखक उस वर्ग के लिए लिख रहे थे, जिसके वे स्वयं अंग थे। यह साहित्य सामन्तों का साहित्य न होकर समाज के मध्य वर्ग का साहित्य था; परन्तु यह युग नवीन विधाओं, नवीन भाषा और नवीन विचारों का प्रयोग-काल था। इसलिए इस साहित्य में एक नटखट, सरल बालक का-सा उन्मुक्त उल्लास, खीज और मस्ती थी। वहाँ बनावट के लिए कम स्थान था। इस युग में अनेक नई प्रवृत्तियों के रूप सामने आये। इस युग का गद्य और पद्य नवीन विचारधारा की आकुलता तो व्यक्त करता है, किन्तु उसमें अभी परिष्कार और विकास की बड़ी आवश्यकता थी। यह कमी आगे आने वाले युग ने पूरी की। इस काल के गद्य-लेखकों की शैली में प्रौढ़ता तो नहीं है, पर स्वाभाविक-सहज शक्ति अवश्य है। यह गद्य सीधा, स्पष्ट, सहज तथा सशक्त और बोलचाल के रूप वाला है। इस काल के साहित्यकारों में भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त आदि विशेष प्रसिद्ध हैं।

भाषा और साहित्य के परिष्कार का युग

द्वितीय उत्थान (द्विवेदी-युग)—इस युग की प्रेरक-शक्ति महावीरप्रसाद द्विवेदी थे। उन्होंने अपने प्रखर व्यक्तित्व की ऐसी अमिट छाप इस युग पर छोड़ी कि इस काल को आलोचकों ने 'द्विवेदी-युग' की संज्ञा प्रदान कर दी। द्विवेदी जी 'सरस्वती' के सम्पादक के रूप में युग की भाषा और उसके साहित्य की रूपरेखा का निर्माण करते रहे। उन्होंने खड़ीबोली को परिष्कृत कर उसे काव्य की भाषा के पद पर भी आसीन कर, ब्रजभाषा और खड़ीबोली की प्रतिद्वन्द्विता को समाप्त-सा कर दिया। इस युग में हिन्दी-साहित्य की आधुनिक परम्परा का यथेष्ट परिमार्जन और विकास हुआ। कविता, कथा-साहित्य और आलोचना में प्रौढ़-विकास के दर्शन हुए। इस युग की इसी अनेकरूपता को लक्ष्य कर डाक्टर श्रीकृष्णलाल ने लिखा है—"पच्चीस वर्षों में ही एक अद्भुत परिवर्तन हो गया। मुक्तकों के वनखण्ड के स्थान पर महाकाव्य, आख्यान काव्य, प्रेमाख्यानक काव्य, प्रबन्ध-काव्य, गीति-काव्य और गीतों से सुसज्जित काव्योपवन का निर्माण होने लगा। गद्य में घटना-प्रधान, भाव-प्रधान, ऐतिहासिक तथा पौराणिक उपन्यास और कहानियों की रचनाएँ हुईं। समालोचना और निबन्धों की भी अपूर्व उन्नति हुई।"

मैथिलीशरण गुप्त आदि का योगदान

मैथिलीशरण गुप्त द्विवेदी युग के सर्वोत्तम साहित्यिक प्रतिनिधि माने जा

सकते हैं। उन्होंने अनेक छोटे-बड़े काव्यों का सृजन कर अपने युग के प्रतिनिधि कवि की पदवी प्राप्त की थी। उनके काव्य में प्रवाह, गति और एक सीमा तक गाम्भीर्य है। भारत-भारती, साकेत और यशोधरा उनके सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ माने जाते हैं। द्विवेदी युग की सफलता और असफलता—दोनों का निदर्शन गुप्तजी के साहित्य में होता है। उनके काव्य में खड़ीबोली का साहित्यिक रूप अधिक स्पष्ट और मधुर हो उठा था। उसमें व्यंजना की गम्भीरता और कोमलता भी आई; परन्तु फिर भी भाषा में एक अटपटापन शेष रह गया; जिसका परिमार्जन छायावादी कवियों ने किया। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के साहित्य में अधिक प्रौढ़ता, कलात्मक कल्पना, अनुभूति और गाम्भीर्य है। वह निरन्तर विभिन्न शैलियों का प्रयोग करते रहे तथा किसी भी शैली का समर्थ प्रयोग करने की क्षमता रखते थे। उनका 'प्रियप्रवास' हिन्दी का प्रथम सफल महाकाव्य है, जिसमें संस्कृत के अतुकान्त छन्दों का पुनः प्रचलन किया गया। पं० श्रीधर पाठक ने अपने अंग्रेजी के हिन्दी-अनुवादों द्वारा हिन्दी-साहित्य को समृद्ध बनाने का प्रयत्न किया। इस युग में अनेक पत्र-पत्रिकाओं का भी प्रकाशन हुआ। इस काल के अन्य कवियों मे सियारामशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, राय देवीप्रसाद पूर्ण, गोपालशरणसिंह, सत्यनारायण कविरत्न, एक भारतीय आत्मा आदि प्रसिद्ध हैं।

गद्य-साहित्य का बहुमुखी विकास

इस युग में गद्य-साहित्य का भी समुचित विकास हुआ। वास्तव में यह युग गद्य का युग था। गद्य का सशक्त माध्यम मिल जाने से इस युग में समालोचना एक सर्वथा नवीन रूप धारण कर विकसित होनी आरम्भ हो गई। द्विवेदीजी स्वयं उच्चकोटि के आलोचक थे। मिश्रबन्धुओं ने 'नवरत्न' लिखा। पण्डित पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी पर और पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने देव और बिहारी के काव्य की तुलनात्मक-समीक्षा करते हुए अत्यन्त सुन्दर आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखे। इस आलोचना में भारतीय और यूरोपीय—दोनों प्रभाव काम कर रहे थे। नाटक के क्षेत्र में बंगला से अनूदित नाटकों का खूब प्रचार हुआ; किन्तु अभी तक हिन्दी में किसी स्वतन्त्र नाटक-परम्परा का विकास नहीं हो पाया था। उपन्यासों में गोपालराम गहमरी और देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों की धूम थी। अनुवाद भी खूब हुए। इन रचनाओं में सूक्ष्म मनोविज्ञान, चरित्र-चित्रण आदि की कमी थी। द्विवेदी-युग तैयारी का युग था, जिसमें आधुनिक

साहित्य-शैली का निर्माण हो रहा था। यह हमारे देश में गहरी राजनीतिक और सामाजिक उथल-पुथल का काल था। इसी कारण भारतेन्दु युग से विकासमान देशभक्ति की भावना का स्वर इस युग में और अधिक मुखर और तीव्र हो उठा। इस युग की प्रेरणा बहुमुखी अधिक थी, इसी से उसमें कलात्मकता का पूर्ण विकास नहीं हो सका। द्विवेदीजी-जैसा साहित्य का सतर्क प्रहरी अहर्निशि हमारी भाषा और साहित्य का परिष्कार कर, उसे आदर्श की ओर उन्मुख करने में दत्त-चित्त रहा। इसी से इस काल के साहित्य में अपेक्षित सरलता और नवीनता का अभाव मिलता है। क्योंकि साहित्य को सम्भ्रान्त-शालीन समाज से जोड़ने का प्रयत्न किया जाता रहा। अतः साहित्य इतिवृत्तात्मकता के संकुचित दायरे में सीमित रहकर अपना सुन्दर एवं बहुमुखी व्यापक विकास नहीं कर सका। भाषा-परिष्कार और नैतिकता पर ही विशेष बल दिया जाता रहा।

हिन्दी-साहित्य का प्रौढ़ रूप

तृतीय उत्थान (नव-जागरण काल)—इस काल में प्रेमचन्द के प्रसिद्ध उपन्यास—रंगभूमि, प्रेमाश्रम, गोदान, आदि; प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक और कामायनी जैसा काव्य; पन्त, महादेवी और निराला के अनेक काव्य-संग्रह —पल्लव, गुंजन, ग्राम्या, अनामिका, गीतिका, परिमल, नीरजा, रश्मि, सांध्य गीत, दीपशिखा आदि तथा आचार्य शुक्ल के अनेक आलोचनात्मक ग्रन्थ और निबन्ध-संग्रह प्रकाश में आये। यह हिन्दी-साहित्य का प्रौढ़ रूप था। यह युग काव्य में छायावाद, उपन्यास में प्रेमचन्द, नाटक में प्रसाद और आलोचना में शुक्लजी का युग रहा था। राजनीतिक दृष्टि से यह साम्राज्यवाद और विदेशी पूँजीवाद की पराजय का युग था। इस युग में हमने पहली बार विदेशी शासन सत्ता से गहरी टक्कर ली। यह नवीन उल्लास इस काल के साहित्य में भी प्रकट हुआ। तृतीय उत्थान विचित्र साहित्यिक युग है। इस युग का काव्य रोमांटिक है, कथा-साहित्य यथार्थवादी है, नाटक-साहित्य ऐतिहासिक है, आलोचना-साहित्य पुरातनवादी और शास्त्रीय है, यद्यपि उसमें नवीनता का समावेश दिखाई देने लगता है। यही इस युग की बहुमुखी प्रतिभा और प्रगति थी।

इस काल में अनेक नई-पुरानी शैलियों का पर्याप्त विकास हुआ। विभिन्न भाषाओं के प्रभाव का इस शैली-निर्माण में विशेष हाथ रहा। डा० श्रीकृष्ण

लाल के शब्दों में, "हिन्दी ने अपनी जातीय विशेषताओं के अनुरूप अंग्रेजी-साहित्य की स्पष्ट भाव-व्यंजना, बँगला की सरलता और मधुरता, मराठी की गम्भीरता और उर्दू का प्रभाव ग्रहण किया।"

गद्य-विधाओं का अभूतपूर्व विकास

हिन्दी-कथा-साहित्य का परिमार्जित विकसित रूप पहली बार प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में दिखाई दिया। उनके विभिन्न उपन्यासों और कहानियों में रोचकता और कलात्मकता के साथ-साथ तीव्रतम सामाजिक और राजनीतिक चेतना भी मिली। उनका दृष्टिकोण जनवादी था। उनकी रचनाएँ साहित्यिक भूख को तो शान्त करतीं ही थीं, साथ ही सामाजिक चिन्तन और आन्तरिक चेतना को भी प्रेरणा देती थीं। पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' और सुदर्शन प्रेमचन्द की ही भाँति अपने कथा-साहित्य द्वारा उदार यथार्थवादी परम्परा का पोषण करते रहे। प्रेमचन्द के परवर्ती कलाकारों में जैनेन्द्र, वृन्दावनलाल वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, यशपाल, अमृतलाल नागर, नागार्जुन और अज्ञेय नई भावभूमियों का अनुसरण करते रहे। प्रेमचन्द ग्राम्य-जीवन के चित्रकार थे और ये मध्यवर्ग के चितेरे थे। ऐतिहासिक उपन्यासों के रूप में भी कुछ सुन्दर रचनाएँ हुई। इस युग में हिन्दी नाटक-साहित्य को प्रसाद ने अपने ऐतिहासिक नाटकों से समृद्ध बनाया। इन नाटकों में उच्चकोटि की साहित्यिकता और नवीन इतिहास-चिन्तन था। इनमें इतिहास का गम्भीर मनन और अध्ययन, कथावस्तु का सफल निर्वाह, गम्भीर चरित्र-चित्रण, गहरी अनुभूति आदि के पहली बार दर्शन हुए। अन्य नाटककारों में रामकुमार वर्मा, लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अश्क उल्लेखनीय हैं। इन्होंने आधुनिक नाट्य-शैली को अपनाने का प्रयत्न किया। इस काल में एकांकी नाटकों का भी सुन्दर विकास हुआ। भारतीय जन-नाट्य संघ (इप्टा) ने रंगमंच की परम्परा को विकसित किया। फिर भी हमारा नाटक साहित्य, साहित्य के अन्य अंगों के समान समृद्ध नहीं बन पाया है। आचार्य शुक्ल ने समालोचना और निबन्ध को बहुत ऊँचा उठाया। उनकी दृष्टि वैज्ञानिक थी। वह बड़ी खोज और परिश्रम के बाद सूक्ष्म और मार्मिक विवेचन करते थे। उनके तुलसी, सूर, जायसी के अध्ययन, रस-मीमांसा, चिन्तामणि और हिन्दी-साहित्य का इतिहास—इस काल के अप्रतिम साहित्यिक उपहार हैं। उनके उत्तराधिकारी आलोचकों में नन्ददुलारे

वाजपेयी, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० रामविलास शर्मा, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डॉ० नगेन्द्र आदि प्रमुख हैं। इनका दृष्टिकोण व्यापक, वैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय और उदार है।

छायावादी काव्य का प्रांजल-सुन्दर रूप

छायावाद ने आधुनिक काव्य-परम्परा को विकसित और परिमार्जित कर उसे एक सहज माधुरी और सुकुमारता प्रदान की थी। वह अन्तर्मुखी गीति-काव्य की नवीन परम्परा थी। प्रसाद के आसूँ, लहर और कामायनी से आरम्भ होकर यह धारा पन्त और निराला के काव्य में प्रवाहित हुई और महादेवी वर्मा के अश्रु विनिर्मित काव्य में विलीन हो गई। इस काव्य में सुन्दर शब्द-विन्यास, कल्पना-विलास, तीव्र अनुभूति, प्रौढ़ता, प्रांजलता और सौष्ठव मिलता है।

व्यक्तिवादी कविता का आरम्भ

डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में—सन् १९३० के लगभग कवियों की एक नई पीढ़ी शुरू हुई। इस काल को छायावाद का उत्तरार्द्ध काल कहा जा सकता है। इस पीढ़ी के कवि अहंवादी, अन्तर्मुखी और नियतिवादी हैं। इसका प्रारम्भ भगवतीचरण वर्मा के काव्य से होता है। इसके पोषकों में बच्चन, नरेन्द्र, अज्ञेय, और अंचल प्रमुख हैं। उनमें नरेन्द्र कुछ दूर पर आलोक की किरण भी देख लेते हैं। इनकी सामाजिक चेतना अपेक्षाकृत तीव्र है। इनकी कल्पना एक अधिक उदार मानव-संस्कृति का स्वप्न देखती है यह प्रवृत्ति कथा-साहित्य में कुछ विकृत रूप में इलाचन्द्र जोशी तथा अज्ञेय के उपन्यासों में परिलक्षित होती है।

प्रगतिवादी विचारधारा का उदय

सन् १९३६ से हिन्दी में एक नवीन प्रवृत्ति का प्रारम्भ हुआ जिसे प्रगतिवाद कहा जाता है। इसमें छायावाद की अन्तर्मुखी अभिव्यक्ति की प्रतिक्रिया है। इसका आरम्भ पन्त की 'युगवाणी' से होता है। शुक्लजी इसे समाजवादी धारा मानते हैं। यह नवीन धारा यथार्थवाद की ओर उन्मुख है। इस धारा का कलाकार एक नवीन शोषण-रहित समाज और सामाजिक संस्कृति का निर्माण करना चाहता है। प्रेमचन्द, पन्त और निराला—इसके प्रधान उन्नायकों में माने जाते हैं। कवियों में नरेन्द्र शर्मा, अंचल, दिनकर, सुमन, नागार्जुन, केदारनाथ तथा कथा-साहित्य में यशपाल, रांगेय राघव, राहुल, भगवतशरण उपाध्याय, अमृतलाल नागर, नागार्जुन, अमृतराय आदि प्रमुख हैं। आलोचना

में डॉ० रामविलास शर्मा शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त, नामवरसिंह आदि ने नवीन मार्क्सवादी पद्धति को अपनाया है। ये किसी भी काल-विशेष की सामाजिक परिस्थितियों और उनमें होने वाले कला-सृजन में एक अन्तरंग सम्बन्ध देखते हैं और उसका विश्लेषण करने का प्रयास करते हैं। समष्टि रूप से आधुनिक साहित्य में आज दो विचारधाराओं का संघर्ष चल रहा है—एक मनोविश्लेषण की पद्धति, जो साहित्य को अधिकाधिक रूपहीन और अहंवादी बनाती है, दूसरी समाजवादी पद्धति, जो कलाकार को उसके सामाजिक दायित्व के प्रति सचेत करती है।

नवीनतम हिन्दी गद्य-साहित्य में कुछ समय से कुछ नई विधाओं के दर्शन भी होने लगे हैं। इनमें रेडियो-नाटक, रिपोर्ताज, इण्टरव्यू, रेखाचित्र आदि प्रधान हैं। सन् १९४० के बाद 'प्रयोगवाद' नामक एक नवीन काव्य-शैली का प्रारम्भ हुआ था, जो अभिव्यक्ति को महत्त्व न देकर, अभिव्यक्ति के 'प्रकार' को ही अधिक महत्त्व देती थी। परन्तु प्रयोगवाद छोटा-सा जीवन व्यतीत कर शीघ्र ही समाप्त हो गया आज के साहित्य का प्रधान और मूल स्वर प्रगतिवादी है।

प्रश्न ३—आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य का संक्षिप्त परिचय देते हुए आज के युग में उसकी स्थिति उपादेयता पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

उत्तर—दो धाराओं के कवि

बाबू गुलाबराय का कथन है कि "गद्य की अपेक्षा पद्य में रूढ़िवाद अधिक दिन तक ठहरता है। इसलिए आधुनिक काल के प्रथम चरण (भारतेन्दु-युग) में भी विभिन्न साहित्यिक रूढ़ियों से ग्रस्त परम्परा-प्रिय ब्रजभाषा ही काव्य की भाषा बनी रही। द्विवेदी-युग में यद्यपि खड़ीबोली बहुमत से गद्य और पद्य, दोनों की भाषा स्वीकार कर ली गई थी; फिर भी कुछ कविगण ब्रजभाषा में ही काव्य-रचना करते रहे। कुछ पण्डिताऊ टीका-ग्रन्थों को छोड़कर इस युग में ब्रजभाषा-गद्य के तो कहीं दर्शन भी नहीं हुए, क्योंकि ब्रजभाषा सदैव से ही मूलतः काव्य की ही भाषा रही थी। इस काल के ब्रजभाषा के कवियों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—पुरानी धारा के कवि और नवीन धारा के कवि। पुरानी धारा के कवि पुरानी परिपाटी की कविता पुरानी भाषा-शैली में ही करते रहे थे; तथा नई धारा के कवियों ने नए युग के अनुरूप नई विषय-वस्तु और नई भाषा-शैली को अपनाने का प्रयत्न किया था। पुरानी धारा के

कवियों में कुछ भारतेन्दु से पूर्व हुए थे और कुछ उनके समय में तथा बाद में भी हुए। भारतेन्तु से पूर्व हुए ब्रजभाषा के कवियों में गढ़वाल के प्रसिद्ध चित्र कार भोलाराम का नाम सर्वप्रथम आता है, जिन्होंने 'गढ़ राजवंश' नामक काव्य लिखा था। इनके अतिरिक्त सेवक कवि ने (संवत १८७१-१९२८) 'वाग्विलास; रींवा-नरेश महाराज रघुवीरसिंह ने (स० १८८०-१९१६) 'राम स्वयंवर', 'रुक्मिणी परिणय' 'रामाष्टयाम', 'आनन्दाम्बुनिधि'; सरदार कवि ने 'साहित्य', सरसी', वाग्विलास', 'षट्ऋतु,' 'शृङ्गार संग्रह'; 'ललित किशोरी ने अनेक प्रेम-सम्बन्धी पद और गजलें; राजा लक्ष्मणसिंह ने 'मेघदूत' आदि का अनुवाद; लछिराम ब्रह्मभट्ट ने अनेक राजाओं के नाम पर विभिन्न ग्रन्थ तथा बहुत-सी समस्यापूर्तियाँ; गुजरात के गोविन्द गिल्लाभाई ने 'नीतिविनोद', 'शृंगार-सरोजिनी', 'समस्या-पूर्ति-प्रदीप' आदि तथा मथुरा के नवनीत चौबे ने शृंगार और भक्ति के अनेक ग्रन्थ लिखे थे। उपर्युक्त सभी कवि रीतिकालीन बँधी बँधाई परिपाटी पर कविता करने वाले थे। इनके काव्य में रीतिकालीन काव्य के सभी लक्षण मिल जाते हैं। इनके विषय—प्रेम, शृंगार, राज-प्रशस्ति, समस्या-पूर्ति नीति, काव्यांग-विवेचन, रीतिकालीन पद्धति की भक्ति आदि ही रहे। इस सम्पूर्ण काव्य में भाषा की चमत्कार-प्रियता, अलंकारों का मोह आदि हूबहू रीतिकालीन काव्य परिपाटी जैसा ही रहा।

ब्रजभाषा के नवीन रूप के प्रयोक्ता कविगण

भारतेन्दु-युग में आकर हिन्दी में गद्य के विकास के साथ-साथ नवीन विचारधारा का प्रवेश हुआ, जिसके प्रभाव से उसके स्वरूप, भाव, विचार, विषय आदि में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। इस युग के अधिकांश साहित्य-सेवियों ने इस नवीतता को स्वीकार कर गद्य में तो उसकी उन्नति में योग दिया, परन्तु पद्य के क्षेत्र में पुरानी परिपाटी के कवियों के साथ अपना सम्बन्ध बनाये रहे। काव्य-क्षेत्र में भारतेन्दु-युग के पूर्ववर्ती कवियों और इनमें प्रधान अन्तर यह रहा कि पूर्ववर्ती कवि प्राचीन ब्रजभाषा के स्वरूप को ही अपनाते रहे, जबकि भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों ने काव्य की भाषा ब्रजभाषा का नवीन भावना और विचारों के अनुरूप पर्याप्त परिष्कार कर उसे नवीन युग-चेतना का सन्देश वहन करने योग्य बनाने का प्रयत्न किया। उन्होंने प्राचीन काव्य-रूढ़ियों के स्थान पर नवीन प्रणालियों का प्रयोग कर ब्रजभाषा को अधिक सरल, सहज

एवं सुबोध रूप प्रदान करने में सफलता पाई। ऐसे कवियों में भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, प्रेमघन, ठाकुर जगमोहन सिंह, अम्बिकादत्त व्यास और बाबू रामकृष्ण वर्मा मुख्य हैं। इनके काव्य में ब्रजभाषा का नवीन रूप सामने उभरा।

भाषा का नया रूप और नए विषय

भारतेन्दु खड़ीबोली को कविता के लिए भोंड़ी और नीरस कहा करते थे; इसलिए उन्होंने ब्रजभाषा की कविता का युगानुकूल संस्कार करने के लिए उसमें होने वाले प्राचीन शब्दों के प्रयोग और उनके रूपों को विकृत करने की प्रवृत्ति को दूर करने का आन्दोलन उठाया। उन्होंने इसके लिए अपने रसीले सवैयों में बोलचाल की ब्रज भाषा का प्रयोग किया जो बिहारी आदि की ब्रजभाषा से भिन्न परन्तु सरल और सुबोध थी। साथ ही उन्होंने अनेक कवि-समाजों की स्थापना कर उनमें समस्या-पूर्ति के प्रति नवीन कवियों का ध्यान आकर्षित कर ब्रजभाषा के इस नवीन रूप का प्रचार किया। भारतेन्दु के श्रृंगार और भक्ति रस के कवित्त, पद सवैया आदि का संग्रह 'प्रेम-माधुरी', 'प्रेमफुलवारी', 'प्रेम-प्रलाप' आदि उनके विभिन्न काव्य संग्रहों के रूप में पाया जाता है। भारतेन्दु ने खड़ीबोली हिन्दी में भी कुछ कविताएँ लिखी थीं, परन्तु इस कार्य में अत्यधिक मानसिक श्रम की क्लान्ति का अनुभव कर उन्होंने इस प्रकार के प्रयत्न को छोड़ दिया था। उनका मन ब्रजभाषा में ही कविता करने में अधिक रमता था। पंडित प्रतापनारायण मिश्र ने भी समस्या-पूर्ति एवं पुराने ढंग की श्रृंगारी कविता बहुत-अच्छी की थी। आप बहुत सुन्दर लावनियाँ रचा और गाया करते थे। प्रेमघन जी ने लोक-ध्वनि पर आधारित तत्कालीन जन-समाज में प्रचलित कजली, होली आदि गाने की बहुत-सी चीजें बनाई थी। ठाकुर जगमोहनसिंह ने अत्यन्त सरस सवैयों में 'मेघदूत' का अनुवाद किया था। 'श्यामलता', 'श्यामा सरोजिनी' आदि में उनकी श्रृंगारी कविताएँ सगृहीत हैं। अम्बिकादत्त व्यास और बाबू रामकृष्ण वर्मा भी बड़ी विलक्षण समस्या-पूर्तियाँ किया करते थे। इस प्रकार भारतेन्दु-मण्डल के ब्रजभाषा के कवियों ने समस्या-पूर्ति और श्रृंगारी कविता की विशेष अभिवृद्धि की। लाला सीताराम के पद्यानुवाद भी काफी प्रसिद्ध हुए।

गद्य खड़ीबोली का और पद्य ब्रजभाषा का

पद्य में ब्रजभाषा के प्रति अधिक मोह होने के कारण इन लोगों की तथा इनमें भी पूर्व राजा लक्ष्मणसिंह आदि की यह विचित्र प्रवृत्ति रही कि एक ही

ग्रन्थ में इनके गद्य की भाषा तो खड़ीबोली रही, परन्तु पद्य की भाषा सर्वत्र ब्रजभाषा ही बनी रही। राजा लक्ष्मणसिंह का 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का अनुवाद एवं भारतेन्दु ने लगभग सभी नाटकों में यही प्रवृत्ति मिलती है। इसका कारण यह था कि उस युग में लोग खड़ीबोली को नीरस एवं कर्कश भाषा मान उसे काव्य के उपयुक्त नहीं मानते थे, और जनता भी खड़ीबोली में लिखी जाने वाली कविता को 'लट्ठमार' सी कविता कहकर उसे पढ़ना या सुनना पसन्द नहीं नरती थी।

ब्रजभाषा-काव्य का नया रूप

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' आरम्भ में ब्रजभाषा में अत्यन्त सुन्दर शृंगारिक कविता किया करते थे। उनकी ऐसी कविताएँ 'रस-कलश' में संगृहीत हैं। पं० श्रीधर पाठक ने खड़ीबोली के साथ-साथ ब्रजभाषा में भी कविता की थी। आपका 'ऋतु-संहार' का ब्रजभाषा में किया गया अनुवाद अत्यन्त उच्चकोटि का माना जाता है। आपने अपने इस ब्रजभाषा-काव्य में भारतेन्दु की परिपाटी का अनुसरण कर समाज-सुधार, देश-प्रेम, राजनीति आदि नवीन विषयों को अपनाया। आप अपने प्रकृति-चित्रण के लिए विशेष प्रसिद्ध हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ब्रजभाषा के सुबोध और सामाजिक रूप को अपनाकर एडविन आर्नल्ड के 'लाईट आफ एशिया' का आधार लेकर 'बुद्ध चरित' लिखा, जिसमें प्रकृति का अत्यन्त सुन्दर और संश्लिष्ट चित्रण हुआ है। आपको ब्रजभाषा प्राचीन बाह्याडम्बरों और रूढ़-प्रयोगों से सर्वथा मुक्त है।

ब्रजभाषा की असमर्थता

भारतेन्दु के उत्तरकालीन कवियों से भी ब्रजभाषा का मोह नहीं छोड़ा गया। वे ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों में कविताएँ लिखा करते थे, परन्तु नवीन युग के संघर्षपूर्ण वातावरण में संस्कारित यह नवीन, परिष्कृत एवं सरल ब्रजभाषा भी उनके विचारों एवं भावना के बहुमुखी भार को वहन करने में असमर्थ रही। उसकी कोमलकान्त-पदावली जीवन की संघर्षमयी कठोर भूमि के लिए उपयुक्त न ठहरी। इस समय तक ब्रजभाषा के रूप एवं विषयवस्तु में काफी परिवर्तन हो चुका था, उसकी रीतिकालीन काव्य-परम्परा का मोह पूरी तरह छोड़ दिया गया था। वस्तु-विषय में देशभक्ति, समाज-सुधार, पुनरुत्थान, मातृभाषा-प्रेम, स्वतन्त्रता आदि नवीन भावनाओं की अभिव्यक्ति होने लगी थी। इतना होने पर भी ब्रजभाषा नवीन युग और उसकी नई चेतना के साथ चलने

में असमर्थ थी, क्योंकि उससे अपने पुराने रूप के संस्कार छोड़ते नहीं बनते थे। दूसरा कारण यह था कि विद्वानों को गद्य और पद्य की भाषाएँ होना हिन्दी की भावी उन्नति के लिए घातक प्रतीत हो रहा था। इसलिए उन्होंने ब्रजभाषा का विरोध कर खड़ीबोली को ही गद्य एवं पद्य—दोनों की भाषा स्वीकार कर लेने का आन्दोलन उठाया। इस आन्दोलन के कर्णधार आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी थे। इस आन्दोलन को सफलता मिली और ब्रजभाषा का प्रचार रुक गया; फिर भी कुछ कविगण ब्रजभाषा को भी अपनाये रहे। इनमें **बाबू जगन्नाथ दास 'रत्नाकर'** सर्वश्रेष्ठ हैं।

रत्नाकर जी का महत्त्व

आधुनिक काल के ब्रजभाषा के कवियों में 'रत्नाकर' का स्थान सर्वोपरि माना जाता है। वे इस युग के ब्रजभाषा के प्रतिनिधि कवि के नाम से प्रसिद्ध है उन्होने अपने युग की विचारधारा एवं भावना की उपेक्षा कर ब्रजभाषा के माध्यम से भक्ति और रीतिकालीन भावनाओं और कला का प्रदर्शन किया। उनकी समस्त रचनाओं में इसी मिश्रित प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। उनके ग्रन्थ तीन प्रकार के हैं—मौलिक, अनूदित और सम्पादित। काव्य-ग्रन्थों में दो प्रकार की रचनाएँ हैं—प्रबन्ध-काव्य और मुक्तक-काव्य। प्रबन्ध-काव्य में हरिश्चन्द्र, गंगावतरण, उद्धव-शतक; मुक्तक काव्यों में हिंडोला, समालोचना-दर्शन; साहित्य-रत्नाकर घनाक्षरी नियम-रत्नाकर, शृंगार-लहरी, गंगाविष्णु-'हठ', कृपाराम की 'हिततरंगिणी' और दूलह कवि के 'कंठाभरण' आदि ग्रन्थों की गणना की जाती है। उन्होंने अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि पोप के 'एसेज ऑन क्रिटिसिज्म' का 'समालोचनादर्श' के नाम से रोला छन्द में सुन्दर अनुवाद किया तथा बिहारी सतसई' पर 'बिहारी-रत्नाकर' नामक प्रसिद्ध टीका लिखी। आपके 'उद्धव-शतक' को कुछ विद्वान् प्रबन्ध-काव्य मानते हैं तथा कुछ मुक्तक-काव्य। परन्तु इसका प्रत्येक पद अपने में स्वतन्त्र होता हुआ भी कथा के द्वारा एक-दूसरे से सम्बन्धित है, इस कारण बहुमत उसे प्रबन्ध-काव्य मानने के पक्ष में है। 'उद्धव-शतक' को आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ माना जा सकता है। इसमें ब्रजभाषा के भक्तिकालीन और रीतिकालीन—दोनों ही रूपों का अत्यन्त सन्तुलित और परिष्कृत-प्रांजल रूप मिलता है। यह भ्रमरगीत-परम्परा का आधुनिक युग का सर्वश्रेष्ठ काव्य माना जाता है।

रत्नाकर : भक्ति-रीति के समन्वयकर्त्ता

'रत्नाकर' ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवि होने के साथ ही भाषाविद् और पुरातत्त्व के प्रसिद्ध विद्वान् थे। प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं परम्पराओं के उपासक होते हुए भी उन्होंने ब्रजभाषा की रूढ़ियों को यथावत् न अपनाकर अनेक मौलिक एवं नवीन उद्‌भावनाएँ की थीं। उन्होंने अपनी पौराणिक रचनाओं में भक्तिकालीन भावनाओं को रीतिकालीन अलंकरण के साथ व्यक्त किया। इस प्रकार उनमें भक्तिकाल और रीतिकाल की सम्पूर्ण विशेषताएँ आ गई हैं। रसों में उन्होंने शृंगार को प्रधानता दी है। अलंकारों का प्रयोग अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से किया है। उनके अलंकार भार न होकर काव्य-सौन्दर्य के उत्कर्षक-विधायक बनकर ही आए हैं भाषा में उन्होंने प्राचीन ब्रज-भाषा का अन्धानुकरण न कर उसे नवीन भावों की अभिव्यक्ति के लिए नवीनता प्रदान की है। इसके लिए उन्होंने नवीन लोकोक्तियों एवं नवीन मुहावरों का खुलकर प्रयोग किया है। भाषा की प्राचीन रूढ़ियों का यथाशक्ति बहिष्कार करने में भी उन्हें काफी सफलता प्राप्त हुई है।

सत्यनारायण कविरत्न : ब्रज कोकिल

आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य-परम्परा में रत्नाकर के उपरान्त आगरा के कवि **सत्यनारायण 'कविरत्न'** का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है। आप अपनी वाणी के माधुर्य के कारण 'ब्रज-कोकिल' कहलाते थे। आपके काव्य के प्रमुख विषय—प्रेम और शृंगार रहे हैं, जिसमें उन्होंने मर्यादा का पूर्ण पालन किया। अपने अपने 'भ्रमर-दूत' में राष्ट्रीय भावनाओं का अत्यन्त सुन्दर और प्रभावशाली चित्रण किया है। उसमें सुन्दर उपालम्भों के भी दर्शन होते हैं, जो बडे मार्मिक हैं आपकी कविताओं का संग्रह 'हृदय-तरंग' के नाम से प्रकाशित हुआ है। फुटकर कविताओं के अतिरिक्त आपने भवभूति के 'उत्तररामचरित' और 'मालती-माधव' नाटकों का बड़ा सरस अनुवाद किया है, जिनमें मौलिकता का-सा आनन्द मिलता है।

अन्य कवि

कानपुर के राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने भी ब्रजभाषा में सुन्दर काव्य-रचना की थी। आपके काव्य में प्राचीन परिपाटी की शृंगारिक रचनाओं के साथ-साथ देश-प्रेम का भी अच्छा समावेश हुआ मिलता है। आपका प्रकृति-चित्रण सेनापति की टक्कर का माना जाता है। आपने 'धाराधर-धावन नाम से

कालिदास के मेघदूत का सुन्दर अनुवाद किया था। भाषा शुद्ध और व्याकरण-सम्मत है। मिश्रबन्धुओं ने भी कुछ सरस उपदेशात्मक ब्रजभाषा-काव्य लिखा था। इनका 'रघुवंश' का अनुवाद उल्लेखनीय है।

वियोगी हरि

ब्रजभाषा के वर्तमान कवियों में वियोगी हरि का नाम महत्त्वपूर्ण है। आपने अधिकतर प्राचीन कृष्ण-भक्त कवियों का अनुसरण कर अनेक सरस और भक्ति-भावपूर्ण पद लिखे हैं। साथ ही ब्रज-भाषा में राष्ट्रीयता एवं वीर रस का समावेश करने के लिए वीररस-सम्बन्धी ७०० दोहे लिखकर 'वीर-सतसई का' निर्माण किया है, जिस पर आपको 'मंगलाप्रसाद' पारितोषिक मिला था। आप ब्रजभूमि, ब्रजभाषा और ब्रजपति के अनन्य उपासक हैं। आपकी भक्ति भावपूर्ण रचनाओं के संग्रह 'प्रेम-शतक', 'प्रेम-पथिक', 'प्रेमांजलि' आदि के नाम से प्रकाशित हुए हैं। बिहारी-सतसई की परम्परा में काव्य रचना करने वाले दूसरे कवि दुलारेलाल भार्गव हैं, जिन्हें उनकी 'दुलारे दोहावली' पर 'देव-पुरस्कार' मिला था। शुक्लजी के शब्दों में आधुनिक काव्य-क्षेत्र में दुलारेलाल जी ने ब्रजभाषा-काव्य की चमत्कारपद्धति का एक प्रकार से पुनरुद्धार किया था। शुक्लजी इनकी प्रतिभा को बिहारी के ढाँचे की मानते थे।

कुछ महत्त्वपूर्ण रचनाएँ

ब्रजभाषा में ही लिखे गये आधुनिकयुगीन राम-काव्य में अयोध्या के पण्डित रामनाथ ज्योतिषी का 'रामचन्द्रोदय' काव्य अपने ढंग की उत्कृष्ट कलाकृति है। इस पर भी 'देव-पुरस्कार' मिला था। मेवाड़ के श्री केसरीसिंह बारहट का 'प्रताप-चरित्र' वीर रस का एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है। आधुनिक विषयों पर ब्रज-भाषा में कविता करने वालों में पं० नाथूरामशंकर शर्मा, लाला भगवानदीन नाथूराम माहौर, किशोरीदास वाजपेयी उल्लेखनीय हैं। गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' ने ब्रजभाषा की परम्परा को आगे बढ़ाने में काफी योग दिया था। रायकृष्णदास के 'ब्रजभाषा' और उमाशंकर वाजपेयी की 'ब्रजभारती' में ब्रज भाषा का नया रूप दिखाई पड़ा। प्रबन्ध-काव्यों में हरदयालसिंह का 'दैत्यवंश' विशेष महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ पर भी 'देव पुरस्कार' मिल चुका है। बचनेश जी का 'शबरी' नामक खण्ड-काव्य भी उल्लेखनीय है।

ब्रज-साहित्य-मण्डल

आधुनिक काल में मथुरा ब्रजभाषा के कवियों का केन्द्र रहा है। अनेक

छोटे-मोटे कवियों के अतिरिक्त गोविन्दजी और रामललाजी ब्रजभाषा में अच्छी कविता करते हैं। गोविन्दजी की 'ब्रजभाषा' नामक पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है। आगरा के अमृतलाल चतुर्वेदी ब्रजभाषा के अच्छे कवि माने जाते हैं। आपका 'श्याम-सन्देश' विशेष प्रसिद्ध है। चमत्कारपूर्ण ब्रजभाषा की कविता करने वालों में भाव, भाषा आदि के क्षेत्र में रीतिकाल की स्मृति जगाने वाले 'विजया-वाटिका' के रचियता पं० हृषीकेश चतुर्वेदी की कृतियों ने भी काफी प्रसिद्धि पाई है। कवि-सम्मेलनों में आपका काफी सम्मान था। आपकी कविता में उक्ति-वैचित्र्य और शब्द-चमत्कार दर्शनीय है। गोपालप्रसाद व्यास, थानसिंह शर्मा सुभाषी ने ब्रजभाषा में सुन्दर-सरस हास्य-काव्य की रचना की है। संस्थाओं के रूप में 'ब्रज-साहित्य मंडल' एकमात्र महत्त्वपूर्ण संस्था है जो ब्रजभाषा के प्रचार एवं प्राचीन साहित्य के उद्धार के लिए प्रयत्नशील है। यह संस्था आजकल आगरा के पास स्थित 'सूरकुटी' के पुनरुद्धार और उसे एक साहित्यिक तीर्थ का रूप प्रदान करने के प्रयत्न में लगी हुई है। साथ ही सूर-साहित्य के प्रसार-प्रसार में भी संलग्न है।

ब्रजभाषा की रक्षा होनी चाहिए

आज ब्रजभाषा हमारी हिन्दी भाषा का प्रतिनिधित्व करने वाली एकमात्र साहित्यिक भाषा न रहकर प्रादेशिक भाषा मात्र रह गई है। उसका स्थान खड़ी बोली ले चुकी है। यह ठीक है कि ब्रजभाषा साहित्यिक रूप से समृद्ध-शाली होते हुए भी अन्तःप्रान्तीय राष्ट्रभाषा का रूप नहीं ले सकती, क्योंकि एक तो इसमें गद्य-साहित्य नहीं है और दूसरे, यह ब्रज के अतिरिक्त अन्य प्रान्तों में बोली या समझी भी नहीं जाती। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि ब्रजभाषा में साहित्य लिखा ही न जाय। आज उसकी अखिल भारतीय उप-योगिता समाप्त हो चुकी है, यह सत्य है; परन्तु उसकी प्रादेशिक उपयोगिता तो तब तक अक्षुण्ण रहेगी, जब तक ब्रजभूमि में ब्रजभाषा जनता की बोलचाल की भाषा बनी रहेगी। इसलिए इस प्रदेश के साहित्यकारों का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे इसे मरने न दें। खड़ीबोली राष्ट्रभाषा बन चुकी है, परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि प्रान्तीय या प्रादेशिक भाषाओं अथवा बोलियों का साहित्यिक अस्तित्व ही समाप्त हो जाय। उन्हें भी पनपने का उतना ही अधिकार है, जितना कि राष्ट्रभाषा को। इस क्षेत्र में इधर कुछ प्रयत्न भी हुए हैं। अनेक विद्वानों ने ब्रज के लोकगीतों का संकलन किया है, यह प्रशंसनीय

है; परन्तु हमारा प्रयत्न लोकगीतों के क्षेत्र से भी आगे बढ़कर ब्रजभाषा की साहित्यिक समृद्धि को आगे बढ़ाने में गतिशील होना चाहिए। क्षेत्रीय नवीन कवियों को ब्रजभाषा में भी कविता करनी चाहिए। उन्हें राष्ट्रव्यापी प्रसिद्धि का मोह छोड़ अपनी इस उपेक्षित मातृभाषा की तरफ भी ध्यान देना चाहिए। जब ऐसा होने लगेगा तभी ब्रजभाषा का पुनरुद्धार हो सकेगा, वरना कालान्तर में यह भी दूसरी अनेक प्राचीन भाषाओं की तरह मातृभाषा घोषित होकर केवल 'शोध' का विषय रह जायेगी। हर्ष का विषय है कि इधर सोम ठाकुर, घनश्याम अस्थाना आदि खड़ीबोली के कवि ब्रजभाषा में बड़े सरस और सुन्दर छन्दों की रचना कर रहे हैं, जो श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर लेने की शक्ति रखते हैं।

प्रश्न ४—हिन्दी-गद्य के विकास का संक्षिप्त परिचय देते हुए आधुनिक युग की प्रमुख गद्य-शैलियों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—आधुनिक काल की सबसे प्रधान घटना गद्य का आविर्भाव मानी जाती है। संसार के प्रत्येक साहित्य में पहले गद्य का विकास हुआ है और फिर पद्य का। हिन्दी की सभी प्रारम्भिक रचनाएँ पद्य में ही हैं। हिन्दी में गद्य का सुनियोजित विकास बहुत बाद में हुआ, यह सत्य है, परन्तु हिन्दी के आदिकाल में भी गद्य का अस्तित्व था जो काफी अपरिमार्जित और अस्पष्ट है।

प्राचीन ब्रजभाषा गद्य

सबसे प्राचीन गद्य का नमूना चौदहवीं शताब्दी के गोरखपंथी गद्य-ग्रन्थों में मिलता है। यह ब्रजभाषा-गद्य का नमूना है। इसके उपरान्त कृष्ण-भक्तों ने ब्रजभाषा-गद्य में कुछ ग्रन्थ लिखे। इनमें गोस्वामी विट्ठलनाथ का 'शृंगार रसमण्डन' ग्रन्थ मिलता है, जिसका गद्य अव्यवस्थित है। विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' नामक दो साम्प्रदायिक ग्रन्थ लिखे गये। इन पुस्तकों का ब्रजभाषा-गद्य अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित है। विषय का अच्छा स्पष्टीकरण हुआ है। इन ग्रन्थों का सृजन विशुद्ध रूप से पुष्टि मार्ग का प्रचार करने के लिए हुआ था। परवर्ती काल में ब्रजभाषा-गद्य में साधारणतः दो प्रकार के ग्रन्थ लिखे गये—कुछ साहित्यिक ग्रन्थों की टीकाएँ और कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ। टीकाओं में हरिचरनदास की 'बिहारी-सतसई' की टीका, 'कविप्रिया' की टीका

महन्त बाबा रामचरण की 'रामचरितमानस' की टीका, प्रतापसिंह की मतिराम के 'रसराज' की टीका आदि अनेक ग्रन्थ लिखे गये। स्वतन्त्र ग्रन्थों में प्रियादास की 'सेवक चन्द्रिका', हीरालाल की 'आइने अकबरी' की 'भाषा-वचनिका', लल्लूजीलाल का 'हितोपदेश' का अनुवाद आदि उल्लेखनीय हैं। इसी काल में नाभादास ने 'अष्टयाम' नामक एक पुस्तक ब्रजभाषा-गद्य में लिखी। एक अज्ञात नामा लेखक का 'नासिकेतोपाख्यान' नामक ग्रन्थ भी पाया गया है। संवत् १६६७ में सूरति मिश्र ने 'बैताल पच्चीसी' की रचना की। इस प्रकार की ब्रजभाषा-गद्य की अनेक अन्य पुस्तकें पाई जाती हैं, परन्तु जिनमें गद्य का कोई विकास होता हुआ दिखाई नहीं पड़ता। कारण यह था कि ब्रजभाषा में गद्य लिखने की परिपाटी का क्रमिक विकास न होने के कारण ब्रजभाषा-गद्य जहाँ-का-तहाँ रह गया, विकसित न हो सका।

खड़ीबोली-गद्य : पुराना रूप

खड़ीबोली-गद्य का सर्वप्रथम ग्रन्थ गंग कवि का 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' माना जाता है। इसकी भाषा आधुनिक खड़ीबोली के आस-पास की है। इसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में हुआ है। शुरू-शुरू में दक्षिण भारत के हिन्दी-भाषी मुसलमान औलियाओं ने इस भाषा में गद्य लिखा था, जिसे वे 'हिन्दवी' कहते थे। शाह मीरानजी बीजापुरी, शाह बुरहान खान और सैयद मुहम्मद गैसूदराज के लिखे खड़ीबोली के पुराने गद्य के नमूने प्राप्त हुए हैं। कालान्तर मे, सं० १६६८ में **रामप्रसाद निरंजनी ने 'भाषा योगवासिष्ठ'** नामक ग्रन्थ बहुत साफ-सुथरी खड़ीबोली में लिखा। इसका गद्य सुन्दर और परिमार्जित है। यह संस्कृत के एक पुराने ग्रन्थ का अनुवाद है। इसके उपरान्त पं० दौलतराम ने 'पद्म-पुराण का खड़ीबोली-गद्य में अनुवाद किया; किन्तु इसकी भाषा में निरंजनी जी की भाषा का-सा सौन्दर्य और परिमार्जन नहीं मिलता। अतः हम '**भाषा योगवासिष्ठ को परिमार्जित खड़ीबोली-गद्य की प्रथम पुस्तक और निरंजनी जी को उसका प्रौढ़ लेखक मान सकते हैं।** इसके उपरान्त साहित्यिक-प्रमाण उपलब्ध न होने के कारण लगभग पचास वर्ष तक खड़ीबोली का गद्य-क्षेत्र सूना-सा पड़ा दिखाई देता है। इस काल में गद्य के जो ग्रन्थ लिखे भी गए होंगे, वे किसी कारणवश आज अप्राप्य हैं अथवा नष्ट हो चुके हैं। यह बात नहीं मानी जा सकती कि इस काल में गद्य की पुस्तकें नहीं लिखी गई होंगी।

खड़ीबोली-गद्य के प्रतिष्ठापक चार लेखक

ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में सुव्यवस्थित रूप में हिन्दी-गद्य का जो सूत्रपात हुआ आज तक अनवरत रूप से चला आ रहा है। उस समय तक साहित्य में ब्रजभाषा का ही प्राधान्य था। कुछ पुस्तकों की टीकाएँ ब्रजभाषा-गद्य में लिखी गई, परन्तु लोकप्रियता पाने में असमर्थ रहीं। इस काल में खड़ी-बोली-गद्य की प्रतिष्ठा करने वाले चार लेखक हुए—मुन्शी सदासुखलाल, इंशाअल्लाखाँ, लल्लूजीलाल और सदल मिश्र। इन्होंने क्रमशः सुखसागर, रानी केतकी की कहानी, प्रेमसागर और नासिकेतोपाख्यान नामक ग्रन्थ लिखे। ग्रियर्सन महोदय का कहना था कि इनको ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा फोर्ट विलियम कालेज के अध्यापक सर जॉन गिल क्राइस्ट से प्राप्त हुई थी; परन्तु उन दिनों खड़ीबोली सामान्य जनता के व्यवहार की भाषा थी। इसीलिए फोर्ट विलियम कॉलेज को ही इसका सम्पूर्ण श्रेय नहीं दिया जा सकता। वस्तुतः उन दिनों हिन्दी-गद्य अपनी आन्तरिक प्राण-शक्ति के बल पर ही आगे बढ़ा था। खड़ीबोली-गद्य के इन चार लेखकों में से किसी की भाषा साफ-सुथरी नहीं थीं। सदासुखलाल की भाषा में पण्डिताऊपन है, इंशा की भाषा में अरबी-फारसी का अधिक प्रभाव है, लल्लूजीलाल का गद्य ब्रज-भाषा के प्रयोगों से ओत-प्रोत है। इनकी भाषा से, इनसे लगभग ५०-६० वर्ष पूर्व लिखी गई निरंजनी जी की भाषा अधिक प्रौढ़ और प्रांजल है। इनमें केवल पं० सदल मिश्र की भाषा अधिक व्यावहारिक और परिमार्जित है। अतः आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार—"इनकी भाषा में भावी खड़ी-बोली का मार्जित रूप स्पष्ट हुआ। आगे चलकर साहित्य में जो भाषा गृहीत हुई, उसका पठन बहुत कुछ सदल मिश्र की भाषा पर हुआ।"

हिन्दी में पाठ्य-ग्रन्थ-रचना का आरम्भ

इन लेखकों के पश्चात् सन् १८१५ तक हिन्दी-गद्य-क्षेत्र पुनः सूना-सा पड़ा रहा दिखाई देता है। ईसाई धर्म-प्रचारक गद्य का थोड़ा-बहुत प्रचार अवश्य करते रहे। उन्होंने पहले-पहल शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तकें प्रस्तुत कराईं। स्वामी दयानन्द और राजा राममोहन राय के धार्मिक आन्दोलनों से भी गद्य के इस विकास में थोड़ी-सी सहायता प्राप्त हुई। सन् १८२३ में शिक्षा पाठ्यक्रम में हिन्दी को स्थान दिया गया। आगरा कॉलेज में हिन्दी की शिक्षा की विशेष व्यवस्था की गई। सन् १८३३ में 'आगरा बुक सोसायटी की

स्थापना हुई जिसने पाठ्यक्रम सम्बन्धी अच्छे ग्रन्थ प्रकाशित कराए। इन पाठ्य-ग्रन्थों की भाषा अधिक परिमार्जित और व्यवस्थित रही।

भाषा-द्वन्द्व का श्रीगणेश

सन् १८५४ में राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' शिक्षा-विभाग के इंसपेक्टर नियुक्त हुए। उनके सतत प्रयत्न से ही हिन्दी को शिक्षा-विभाग में स्थान प्राप्त हुआ था। उन्होंने हिन्दी की रक्षा की भावना से उसका 'आमफहम' तथा 'खास पसन्द' रूप अधिक अपनाया जिसमें उर्दू के शब्दों का खूब प्रयोग किया गया था। साथ ही, ऐसी ही भाषा में स्वयं 'इतिहास तिमिर नाशक', 'वीरसिंह वृतान्त' तथा 'राजा भोज का सपना' आदि लेख लिखे। इनका झुकाव हिन्दी को उर्दू के समान अरबी-फारसी के शब्दों से भर, उसे मिश्रित भाषा बनाने के प्रति ही अधिक रहा था। इस भाषा के विरोध में राजा लक्ष्मणसिंह अपनी संस्कृत-गर्भित भाषा को लेकर उपस्थित हुए। वे शुद्ध हिन्दी के पक्षपाती थे, जिसका रूप उनके 'शकुन्तला' नाटक में दिखाई पड़ा।

भारतेन्दु : मध्यम-मार्ग

इसके उपरान्त भारतेन्दु का युग आया। भारतेन्दु ने उपर्युक्त राजाद्वय की परस्पर विरोधिनी अतिवादी शैलियों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने बोलचाल की भाषा को अपना लक्ष्य बनाया, जिसमें तत्सम शब्दों के तद्भव रूपों का ही विशेष प्रयोग किया गया। उनकी दो शैलियाँ मिलती हैं—(१) शुद्ध हिन्दी—उन्होंने साधारण और सरल विषयों पर इस शैली में लिखा। (२) संस्कृत-प्रधान शैली—इसमें ऐतिहासिक और साहित्यिक विवेचना-सम्बन्धी विषयों का विवेचन किया गया। इस शैली में भाषा-गाम्भीर्य था। भारतेन्दु-मण्डल के अन्य लेखकों में श्रीनिवासदास, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त, प्रेमघन आदि प्रसिद्ध हैं। विषयों और रुचि की भिन्नता के अनुसार इनका गद्य भी भिन्न है। आगे चलकर विभिन्न शैलियाँ काल-क्रम से धीरे-धीरे संस्कृत-प्रधान होती चली गईं। भारतेन्दु-युग गद्य के विकास की दृष्टि से आरम्भिक युग था। इसमें साहित्य-निर्माण का कार्य तो प्रारम्भ हो गया था; किन्तु भाषा के परिमार्जन और शुद्धता की ओर कम ध्यान दिया गया। उसका रूप स्वच्छन्द और मनमौजी ही अधिक रहा। इसे गद्य की अपरिपक्व स्थिति माना जा सकता है।

आचार्य द्विवेदी : भाषा-संस्कार

इस कमी की ओर सर्वप्रथम आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का ध्यान गया। उन्होंने, व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध भाषा लिखने वाले लेखकों की कटु आलोचना कर उन्हें शुद्ध भाषा लिखने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने स्वयं लेख लिखकर शुद्ध खड़ीबोली का नमूना प्रस्तुत किया। इनकी शैली में सर्वत्र संयम लक्षित होता है। प्रसाद और ओजगुण—उनकी विशेषताएँ हैं। द्विवेदी-युग के लेखकों में माधवप्रसाद मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, गोपालराम गहमरी, बालमुकुन्द गुप्त, श्यामसुन्दरदास, अध्यापक पूर्णसिंह, पद्मसिंह शर्मा आदि प्रमुख हैं। इन लोगों ने गद्य के विभिन्न अंगों—कहानी, उपन्यास, नाटक, आलोचना आदि सम्बन्धी प्रचुर साहित्य रचा। इन लोगों की रचनाओं में भावात्मक, वर्णनात्मक, विवरणात्मक, प्रांजल सरल आदि भिन्न-भिन्न शैलियों के दर्शन हुए।

गद्य-शैली का अभूतपूर्व विकास

द्विवेदी-युग में गद्य की भाषा का पर्याप्त परिमार्जन हो चुका था; परन्तु फिर भी उसमें प्रौढ़ विषयों को व्यक्त करने की पूर्ण क्षमता नहीं आ पाई थी। गद्य के विकास का पूर्ण और बहुमुखी रूप परवर्ती छायावादी युग में आकर प्रस्फुटित हुआ। शैली के विकास की दृष्टि से इस युग में रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द और प्रसाद मुख्य हैं। शुक्लजी ने अपने निबन्धों और आलोचनाओं द्वारा द्विवेदीयुगीन व्यास-प्रधान शैली के स्थान पर समास-प्रधान शैली का प्रणयन किया। इससे गद्य विकास में अपूर्व सहयोग मिला। इस शैली में पूर्ण संयम और गठीलापन है। आगे चलकर अधिकांशतः शुक्लजी की इस शैली का अनुकरण किया जाता रहा। कहानी और उपन्यास-लेखकों के लिए प्रेमचन्दजी ने एक नवीन शैली का निर्माण किया। शैली की दृष्टि से उनका 'गबन' नामक उपन्यास बहुत महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने सरल और मिश्रित गद्य का ऐसा स्वरूप उपस्थित किया जो जन-साधारण की भाषा का रूप था। प्रेमचन्द के अनेक परवर्ती कथा-लेखकों ने इस शैली का अनुकरण किया। इनमे सुदर्शन, कौशिक, जैनेन्द्र, अमृतलाल नागर, नागार्जुन आदि प्रमुख हैं। इसके उपरान्त कुछ नवीन शैलियों के भी दर्शन हुए। इनमें गम्भीर और जटिल समस्याओं का अंकन हुआ। इनके उन्नायकों में इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, भगवतीचरण वर्मा आदि प्रमुख हैं। नाटक के क्षेत्र में नवीन शैली के जन्मदाता

प्रसाद रहे। इनकी शैली में प्राचीन आर्य-संस्कृति और इतिहास का चित्रण होने के कारण कुछ अधिक गम्भीरता और दुरूहता आ गई; परन्तु फिर भी वह प्रभावक और अत्यन्त मनोरम है। परवर्ती नाटककारों पर इसका बहुत प्रभाव पड़ा था। इनमें लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अश्क, हरिकृष्ण प्रेमी आदि प्रमुख हैं। इनमें से अनेक नई-नई शैलियों को अपनाकर आगे बढ़े हैं।

सर्वाधिक समर्थ-सशक्त गद्य-शैली

प्रगतिवादी युग में एक नवीन शैली का प्रयोग किया जा रहा है, जो जन-भाषा के अत्यधिक निकट है। आजकल अनेक प्रयोगवादी तथा अन्य लेखक विभिन्न प्रकार की नवीन सरल-क्लिष्ट शैलियों में साहित्य-रचना कर रहे हैं। जो हिन्दी-गद्य के विकास की द्योतक हैं। इस प्रकार इस युग में हिन्दी-गद्य-साहित्य का पर्याप्त विकास हुआ है। समष्टि रूप से सन् १९४३ के बाद हिन्दी गद्य शब्द-शक्ति, अभिव्यक्ति-सामर्थ्य और प्रांजलता तथा व्यापकता की दृष्टि से पर्याप्त समर्थ और सशक्त बनता चला जा रहा है। आज वह इतना समृद्ध और सशक्त बन गया है कि उसमें विज्ञान, अर्थशास्त्र, विधिशास्त्र, मनोविज्ञान, दर्शन आदि नाना प्रकार के विषयों की पुस्तकें लिखी जा रही हैं जो लोकप्रिय होती जा रही हैं।

प्रश्न ५—हिन्दी में उपन्यास के उद्भव और विकास पर एक सारगर्भित संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

उत्तर—हिन्दी उपन्यास : आधुनिक युग की देन

गद्य की अन्य अनेक विधाओं के समान ही हिन्दी-उपन्यास भी आधुनिक युग की देन है। कुछ आलोचक संस्कृत के 'कादम्बरी' आदि कथा-ग्रन्थों को भी उपन्यास कहते हैं और आधुनिक उपन्यासों की परम्परा का विकास उन्हीं प्राचीन कथा-ग्रन्थों से मानते हैं। संस्कृत के प्राचीनतम काव्य से लेकर आधुनिक हिन्दी-काव्य तक की परम्परा अविच्छिन्न चली आई है, यह सही है; परन्तु "हिन्दी उपन्यास, साहित्य का वह पौधा है; जिसे सीधे पश्चिम से नहीं लिया गया हो तो उसका कलम बँगला से तो लिया ही गया था, न कि संस्कृति के कथाकार सुबन्धु, दण्डी और बाण की लुप्त परम्परा पुनरुज्जीवित की गई थी।" इस उद्धरण से बात साफ हो जाती है। संस्कृत की कथाओं में आधुनिक उपन्यास के कोई तत्त्व नहीं मिलते। कथा-मात्र को उपन्यास नहीं

माना जा सकता। उपन्यास लेखन की एक विशिष्ट शैली होती है। बँगला के उपन्यासों का हिन्दी के उपन्यासों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है और आरम्भिक बँगला उपन्यास अंग्रेजी-उपन्यासों के अनुकरण पर लिखे गये थे। इसलिए वहाँ भी मूल प्रेरणा अंग्रेजी-साहित्य की ही रही थी। भारतेन्दु-युग में सर्वप्रथम हिन्दी-उपन्यास लिखे गये थे। उससे पूर्व हिन्दी में एक भी उपन्यास नहीं मिलता।

हिन्दी उपन्यासों के विकास को हम **चार कालों** में विभाजित कर सकते हैं। उनका विवेचन इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

हिन्दी के आरम्भिक उपन्यास

प्रथम अवस्था (सन् १८५० से १९०० तक)—कुछ आलोचक इंशाअल्ला खाँ रचित 'रानी केतकी की कहानी' को हिन्दी का सर्वप्रथम उपन्यास मानते हैं। उपन्यास-कला की दृष्टि से इस पुस्तक का कोई मूल्य नहीं है; यह पुरानी शैली में लिखी गई एक कहानी मात्र है। परन्तु सर्वप्रथम आरम्भिक कला-कृति होने के नाते इसका ऐतिहासिक महत्त्व अवश्य है। आचार्य शुक्ल ने कथावस्तु और वर्णन-प्रणाली की दृष्टि से लाला श्रीनिवासदास कृत 'परीक्षागुरु' को हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास माना है; परन्तु चरित्र-चित्रण, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण आदि का इसमें पूर्ण अभाव है। परन्तु इससे भी लगभग पाँच वर्ष पूर्व पंजाब के एक हिन्दी-लेखक पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरा का 'भाग्यवती' नामक एक उपन्यास प्रकाशित हो चुका था जो एक सुन्दर उपन्यास है। परन्तु शुक्लजी न जाने क्यों उसे हिन्दी का पहला मौलिक उपन्यास नहीं मानते यद्यपि उन्होंने अपने इतिहास में उसका उल्लेख किया है। लालाजी के उपरान्त ठाकुर जगमोहन सिंह ने काव्य-गुणों से परिपूर्ण 'श्यामास्वप्न' नामक एक उपन्यास लिखा। इसमें उपन्यास की वास्तविकता के स्थान पर काव्य-सौन्दर्य ही अधिक रहा। इसी समय अद्‌भुत घटनाओं से परिपूर्ण पण्डित अम्बिकादत्त व्यास का 'आश्चर्य वृत्तान्त' नामक उपन्यास निकला। यह साधारण कोटि का परन्तु मनोरंजक उपन्यास है। इसके उपरान्त पण्डित बालकृष्ण भट्ट का 'सौ अजान एक सुजान' तथा नूतन-ब्रह्मचारी' नामक दो उपदेशात्मक सामाजिक-उपन्यास प्रकाशित हुए।

हिन्दी के अनूदित उपन्यास

इस काल में उपर्युक्त मौलिक उपन्यासों के अतिरिक्त अनुवादों की भी

परम्परा चली। ये अनुवाद विशेषतः बँगला और अंग्रेजी उपन्यासों के ही हुए। अनुवाद का प्रारम्भ भारतेन्दु ने 'पूर्ण प्रकाश' और 'चन्द्रप्रभा' नामक उपन्यासों से किया। तत्पश्चात् बाबू गजाधरसिंह ने 'बंग विजेता' और 'दुर्गेशनन्दिनी' तथा बाबू राधाकृष्णदास ने 'स्वर्णलता' और 'मरता क्या न करता' आदि अनुवादित उपन्यास लिखे। राधाचरण गोस्वामी ने 'सावित्री', 'विरजा', 'मृणमयी' का तथा प्रतापनरायण मिश्र ने 'राजसिंह', 'इन्द्रा', 'युगलांयुलीय', और 'राधारानी' के अनुवाद किए। इन अनुवादों द्वारा एक लाभ यह हुआ कि हिन्दी पाठकों को नए ढंग के सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों का परिचय मिल गया। इससे मौलिक उपन्यास-लेखन की प्रवृत्ति और योग्यता का श्रीगणेश हुआ। इस युग को हिन्दी-उपन्यासों का बाल्यकाल माना जा सकता है। इन पर बँगला के उपन्यासों का, कथ्य और शैली, दोनों रूपों में गहरा प्रभाव दिखाई देता है।

अनुवाद-परम्परा का विकास

द्वितीय अवस्था (सन् १९०० से १९१५ तक)—प्रथम युग के अन्तिम चरण से आरम्भ हुआ अनुवादों का क्रम द्वितीय युग में खूब विकसित हुआ, यद्यपि अच्छे मौलिक उपन्यास कुछ काल उपरान्त ही लिखे गये। द्वितीय अवस्था रामकृष्ण वर्मा, कार्तिकप्रसाद खत्री और गोपालराम गहमरी के अनुवादों से आरम्भ होती है। वर्माजी ने 'ठगवृत्तान्तमाला', 'अकबर', 'अबला वृत्तान्तमाला', 'चित्तौरचातकी' का; खत्रीजी ने 'इला', 'प्रमिला' का, तथा गहमरीजी ने 'चतुर चंचला', 'भानुमती', 'नये बाबू', 'बड़े भाई', तथा अन्य अनेक उपन्यासों के अनुवाद किये। उदितनारायण लाल का 'दीपनिर्माण', रामचन्द्र वर्मा का छत्रसाल' आदि अन्य भाषाओं के ऐतिहासिक उपन्यासों के अनुवाद थे। 'लन्दन-रहस्य' तथा 'टाम काका की कुटिया' नामक अंग्रेजी उपन्यासों के अनुवाद भी सामने आये। गंगाप्रसाद गुप्त ने उर्दू से 'पूना में हलचल' तथा हरिऔधजी ने अंग्रेजी से 'वेनिस का बाँका' नामक अनुवाद किये। इन अनुवादों की भाषा अपेक्षाकृत अधिक सजीव और परिमार्जित थी। लिखने का ढंग भी मनोरंजक रहा।

मौलिक उपन्यास-लेखक

इस युग के मौलिक उपन्यासकारों में देवकीनन्दन खत्री ने 'नरेन्द्रमोहिनी' 'कुसुमकुमारी', 'चन्द्रकान्ता संतति', 'भूतनाथ' नामक घटना-प्रधान मौलिक

उपन्यास लिखे। इनमें ऐय्यारी और तिलिस्मी घटनाओं का प्राधान्य रहा। इनमें साधारण मनोरंजन तो था; परन्तु साहित्य के उन गुणों का अभाव रहा जो साहित्य को लोकमंगलकारी रूप प्रदान करते हैं। इनका महत्त्व भाषा-शैली के निर्माण तथा कथा-साहित्य को लोकप्रिय बना देने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण और ऐतिहासिक माना जा सकता है। देवकीनन्दन खत्री का सर्वाधिक महत्त्व इस दृष्टि से रहा कि उन्होंने सरल-सुबोध शैली में अत्यधिक मनोरंजक उपन्यास लिखकर हिन्दी के हजारों नए पाठक पैदा किए। किशोरीलाल गोस्वामी के 'तारा', 'चंचला', 'तरुण-तपस्विनी', 'रजिया-बेगम' आदि उपन्यासों में साहित्यिकता के साथ-साथ सामाजिकता के भी दर्शन हुए। वर्णन चमत्कारपूर्ण और चरित्र-चित्रण स्वाभाविक रहा। हरिऔधजी ने 'ठेठ हिन्दी का ठाठ', 'अधखिला फूल' नामक दो उपन्यास लिखकर भाषा का सरलतम रूप प्रस्तुत किया। लज्जाराम मेहता ने 'रसिकलाल', 'हिन्दू 'गृहस्थ', 'आदर्श दम्पत्ति', तथा ब्रजनन्दन सहाय ने 'राधाकान्त' और 'सौन्दर्योपासक' नामक भावुकता-प्रधान मौलिक उपन्यास लिखे। इस युग के उपन्यास मनोरंजन-प्रधान थे, परन्तु उनमें सामाजिक चेतना भी अपनी झलक दिखा जाती थी। आगे चलकर इन्हीं के विकसित रूप ने सुन्दर हिन्दी-उपन्यासों को जन्म दिया था। यह हिन्दी उपन्यास की शैशवावस्था थी जिसमें उसकी भावी प्रगति के लक्षण दिखाई देने लगे थे।

उपन्यास के स्वरूप और शैली में अभूतपूर्व विकास

तृतीय अवस्था (सन् १९१५ से १९३६ तक)—इस अवस्था में आकर उपन्यास-साहित्य का सर्वाङ्गीण विकास हुआ। वह प्रेम-कथा, तिलिस्मी-ऐयारी चमत्कारों तथा धार्मिक-उपदेशात्मक क्षेत्रों को छोड़कर समाज में आया, मानव जीवन-दर्शन उसका लक्ष्य बना; साथ ही भाषा, कला तथा विज्ञान के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुई। आदर्श और यथार्थ अंकन द्वारा जीवन-संघर्ष और चेतना जगत का सुन्दर चित्रण हुआ। प्रेमचन्द इस युग के अग्रदूत के रूप में अवतीर्ण हुए। वे ही इस नए औपन्यासिक युग के जन्मदाता और उपन्यास-सम्राट् माने जाते हैं। उन्होंने सेवा-सदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, गवन, कर्मभूमि, गोदान आदि मौलिक सामाजिक उपन्यास लिखकर इस क्षेत्र को समृद्ध और शक्तिशाली बनाया। इन उपन्यासों में वस्तु-चित्रण, कथोपकथन, चरित्र-चित्रण, भाषा-शैली आदि के प्रौढ़तम रूप के दर्शन हुए। इनके माध्यम से समाज के निम्न और मध्यवर्ग के सुन्दर चित्र सामने आए और साथ ही राष्ट्रीय

चेतना की भावना भी उद्बुद्ध हुई। इस क्षेत्र में प्रेमचन्द अद्वितीय हैं। इनके अतिरिक्त प्रसाद के 'कंकाल' और 'तितली' नामक दो बहुत सुन्दर उपन्यास प्रकाशित हुए। कौशिक के 'माँ' और 'भिखारिणी', प्रतापनारायण श्रीवास्तव के 'विदा','विकास', 'विजय' और 'विसर्जन'; भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा', 'तीन वर्ष', टेढ़े-मेढ़े रास्ते', चतुरसेन शास्त्री के 'परख', 'हृदय की प्यास', जैनेन्द्र के 'सुनीता', 'कल्याणी' तथा 'तपोभूमि', पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' के 'दिल्ली का दलाल', 'सरकार तुम्हारी आँखों में'; आदि राजा राधिकारमण-प्रसाद सिंह के 'राम-रहीम', 'सूरदास', 'टूटा तारा', 'पुरुष और नारी' आदि अनेक प्रसिद्ध उपन्यास निकले। इनके अतिरिक्त इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, नरोत्तम नागर आदि ने मनोवैज्ञानिक उपन्यास लिखे। 'अज्ञेय' का शेखर : एक जीवनी' और अंचल का 'चढ़ती धूप' भी इसी युग के सुन्दर उपन्यास हैं। वृन्दावनलाल वर्मा ने अपने ऐतिहासिक उपन्यास 'गढ़ कुण्डार', 'विराटा की पद्मिनी', 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई', 'मृगनयनी', 'सोना', 'टूटे काँटे' आदि लिखकर ऐतिहासिक उपन्यासों के क्षेत्र को समृद्ध बनाया। इस क्षेत्र में वर्माजी अपने अन्तिम समय तक सक्रिय रहे।

प्रगतिवादी उपन्यासों का युग

आधुनिक काल (सन् १९३६ से १९४७ तक)—इस युग में अधिकतर प्रगतिवादी विचारधारा से प्रभावित उपन्यास लिखे गये, जिन पर मार्क्सवादी विचारधारा का अत्यन्त गहरा प्रभाव रहा। कुछ लोग इस युग का नेता यशपाल को मानते हैं। यशपाल के 'दादा कॉमरेड', 'देश-द्रोही', 'दिव्या' आदि सुन्दर उपन्यास हैं, जिनका दृष्टिकोण साम्यवादी है। राहुल सांकृत्यायन, अमृतलाल नागर, नागार्जुन, रांगेय राघव, गंगाप्रसाद मिश्र, उपेन्द्रनाथ अश्क, भगवती प्रसाद वाजपेयी, गोविन्दवल्लभ पंत, उदयशंकर भट्ट आदि ने सुन्दर सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। इस काल के अधिकांश उपन्यास-कारों ने वर्ग संघर्ष, सामाजिक विषमता, दरिद्रता आदि का मनोवैज्ञानिक और सामाजिक विचारधारा से प्रभावित चित्रण किया। प्रेमचन्द के 'गोदान' की सामाजिक भावना का यहाँ आकर विकास होता दिखाई दिया। जीवन की यथार्थता का अंकन—इनके उपन्यासों का प्रधान उद्देश्य रहा। इसी कारण इनमें व्यंग्य का आधिक्य मिलता है। इन लेखकों का मत है कि हमारा वर्तमान समाज सड़ गया है, अतः उसमें आमूल परिवर्तन होना आवश्यक है। इसी

भावना से प्रेरित होने के कारण इनके उपन्यासों में क्रांति की एक विध्वंसक ज्वाला के दर्शन होते हैं; परन्तु इनके जीवन की यथार्थता के आधिक्य से कला अपने एक नवीन तीखे यथार्थवादी रूप में प्रकट हुई है। कहीं-कहीं सैक्स (यौन-भावना) का चित्रण होने के कारण इनमें अश्लीलता का भी समावेश हो गया है। समष्टि रूप से हिन्दी उपन्यासों का भविष्य उज्ज्वल और आशाप्रद है।

(उपन्यास-साहित्य की आधुनिक प्रगति के लिए देखिए—'स्वातन्त्र्योत्तर-कालीन साहित्य' शीर्षक के अन्तर्गत 'उपन्यास' उप-शीर्षक।)

प्रश्न ६—हिन्दी में कहानी के उदय और विकास पर संक्षिप्त रूप से प्रकाश डालिए।

उत्तर—हिन्दी-कहानी की पूर्वपीठिका

हिन्दी कहानी-साहित्य का वास्तविक जन्म भारतेन्दु-काल के उपरान्त बीसवीं सदी के आरम्भ में हुआ था। इस युग से पूर्व 'बैताल पच्चीसी' 'सिंहासन बत्तीसी' आदि कथाओं का संस्कृत से अनुवाद किया गया था। कुछ लोग गोकुलनाथ की 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' को हिन्दी की पहली गद्य-कहानियों का संग्रह मानते हैं, जिसमें प्रमुख कृष्ण-भक्त वैष्णवों का जीवन-चरित्र दिया गया है। परन्तु इन्हें कहानियाँ न मानकर पुरानी शैली के जीवन-चरित्र मानना ही अधिक उचित है, क्योंकि ये कहानियाँ नहीं हैं। लल्लूलालजी, सदल मिश्र और इंशाअल्लाखाँ के ग्रन्थ एक प्रकार से विभिन्न कथाओं के संग्रह मात्र ही माने जा सकते हैं। अगर 'कहानी' शब्द मात्र से ही कहानी का अर्थ लिया जाय तो इंशा की 'रानी केतकी की कहानी' हिन्दी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी मानी जानी चाहिए। परन्तु इसमें कथा को छोड़कर कहानी के अन्य तत्त्वों का पूर्ण अभाव है। इसी प्रकार राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' लिखित 'राजा-भोज का सपना' और 'वीरसिंह वृत्तान्त' को भी पूर्ण रूप से कहानी नहीं माना जाना चाहिए, क्योंकि इनमें चरित्र-चित्रण और कथोपकथन का अभाव है। भारतेन्दु-युग के अन्त में उपन्यास तो लिखे जाने लगे थे, परन्तु कहानी लिखना आरम्भ न हो पाया था। उपन्यासों की भाँति भारतेन्दु-युग में, बँगला, मराठी और अंग्रेजी से कुछ कहानियों का अनुवाद अवश्य किया गया था।

हिन्दी-कहानी का आरम्भ

हिन्दी में सर्वप्रथम कहानी लाने का श्रेय एकमात्र 'सरस्वती' मासिक पत्रिका को ही है। इसमें सबसे पहले किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती'

नामक कहानी प्रकाशित हुई। यह उनका मौलिक प्रयास था। गिरिजाकुमार घोष ने 'पार्वतीनन्दन' उपनाम से बँगला की अनेक कहानियों का हिन्दी में भावानुवाद किया। 'बंग महिला' नामक एक महिला ने कुछ मौलिक हिन्दी-कहानियाँ लिखीं, जिनमें 'दुलाई वाली' विशेष प्रसिद्ध रही। इसी समय के लगभग श्री भगवानदास ने 'प्लेग की चुड़ैल', पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'ग्यारह वर्ष का समय' तथा श्री गिरिजादत्त वाजपेयी ने 'पंडित और पंडितानी' नामक कहानियाँ लिखीं। इनमें से मार्मिकता की दृष्टि से 'इन्दुमती', 'ग्यारह वर्ष का समय' और 'दुलाई वाली' ही हिन्दी की मौलिक साहित्यिक कहानियाँ मानी जाती हैं। 'इन्दुमती' को शुक्लजी हिन्दी की पहली सर्वश्रेष्ठ मौलिक कहानी मानते हैं। उपर्युक्त लगभग सभी कहानियाँ बीसवीं सदी के पहले दशक में लिखी गई थीं। इन्हीं से हिन्दी-कहानी साहित्य का इतिहास आरम्भ होता है। इस काल से आगे हिन्दी-कहानी की भावी प्रगति को हम तीन कालों में विभाजित कर सकते हैं—(१) प्रसाद-युग, (२) प्रेमचन्द-युग, तथा (३) प्रगतिवादी युग।

प्रसाद युगीन कहानियाँ : विभिन्न शैली प्रयोग

(१) **प्रसाद-युग**—हिन्दी कहानी का भाग्य प्रसाद के इस क्षेत्र में पदार्पण करते ही चमक उठा। सन् १९११ में उन्होंने 'इन्दु' नामक पत्रिका में अपनी 'ग्राम' नामक कहानी छपवाई। इसके उपरान्त उनकी अनेकानेक उच्च-कोटि की कहानियाँ प्रकाशित हुईं—जिनमें 'छाया, प्रतिध्वनि, आकाशदीप, आँधी, विसाती, इन्द्रजाल, स्वर्ण के खण्डहर' आदि कहानियाँ हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि मानी गईं। प्रसाद जी की कहानियों में कौतूहल की प्रधानता है। इनकी ओजपूर्ण संस्कृत-निष्ठ शैली कथा के अनुरूप उचित वातावरण उत्पन्न कर उसके प्रभाव को अत्यधिक घनीभूत बना देती है। अन्तर्द्वन्द्व और भावानुकूल प्रकृति-चित्रण—इनकी विशेषता है। चरित्र-चित्रण, कथोपकथन आदि के कलात्मक रूप ने इनकी कहानियों में अपूर्व नाटकीय रमणीयता का समावेश कर दिया है। इन कहानियों का आरम्भ अद्भुत नाटकीयता के साथ होता है। परन्तु प्रसाद कहानी को जनवादी रूप प्रदान करने में असमर्थ रहे थे। अपनी संस्कृत-निष्ठ प्रांजल शैली और विशिष्ट कथ्य के कारण उनकी कहानियाँ विशिष्ट पाठक-वर्ग तक ही सीमित होकर रह गईं। हास्यरस-सम्राट जी० पी० श्रीवास्तव ने भी इसी समय हास्यरस प्रधान कहानियाँ लिखना

आरम्भ किया जिन्होंने अभूतपूर्व लोकप्रियता प्राप्त की। राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह की 'कानों में कँगना' नामक कहानी भी अत्यन्त लोकप्रिय हुई। विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' की पहली कहानी 'रक्षाबन्धन' सन् १९११ में सरस्वती में प्रकाशित हुई। कौशिकजी की कहानियों में पारिवारिक जीवन का चित्रण विशेष रूप से हुआ। इनका पारिवारिक जीवन का अध्ययन, निरीक्षण, मनन गम्भीर और सूक्ष्म था। उनकी 'ताई' नामक कहानी हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में मानी जाती है। इस काल के अन्य कहानी-लेखकों में ज्वालादत्त शर्मा और चतुरसेन शास्त्री के नाम भी उल्लेखनीय हैं। सन् १९१५ में चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की प्रथम कहानी 'उसने कहा था' प्रकाशित हुई। यह कहानी पवित्र प्रेम के लिए किये गए निःस्वार्थ बलिदान की कहानी है। शुक्लजी के शब्दों में—"इसमें यथार्थवाद के बीच सुरुचि की चरम मर्यादा के भीतर भावुकता का चरम उत्कर्ष अत्यन्त निपुणता के साथ संपुटित है।.... इसकी घटनाएँ ही बोल रही हैं, पात्रों के बोलने की अपेक्षा नहीं।" इस कहानी ने गुलेरीजी को अमर बना दिया है। **हिन्दी की यही सबसे पहली सर्वाङ्गपूर्ण यथार्थवादी कहानी है जो कला के प्रत्येक अंग पर खरी उतरती है।** वस्तुतः 'उसने कहा था' से ही हिन्दी-कहानी का वास्तविक विकास मानना चाहिए।

प्रेमचंद : हिन्दी कहानी के आधार-स्तम्भ

(२) **प्रेमचन्द-युग**—प्रेमचन्द आरम्भ में उर्दू में कहानियाँ लिखा करते थे, जिनमें राष्ट्रीय भावना का उन्मेष रहता था। उनकी उर्दू कहानियों का पहला संग्रह 'सोजे वतन' (सन् १९०७ में प्रकाशित) बहुत चर्चित हुआ था। उसमें व्यक्त तीखी राष्ट्रीय भावना से नाराज हो अंग्रेज सरकार ने उसे जब्त कर लिया था। इसके बाद प्रेमचन्द ने हिन्दी में कहानियाँ लिखना आरम्भ किया था। हिन्दी-कहानी के द्वितीय उत्थान के अन्तिम चरण में सामयिक, सामाजिक समस्याओं का विश्लेषण करने वाली प्रेमचन्द की कहानियाँ प्रकाश में आई थीं। प्रेमचन्द के इस क्षेत्र में आने से हिन्दी-कहानी-साहित्य में एक अपूर्व परिवर्तन आ गया। इससे पूर्व कुछ सीमा तक हमारा कहानी साहित्य दूसरे साहित्यों के ऋण से अपना काम चलाता आ रहा था। प्रेमचन्द ने आकर उसे स्वावलम्बी बनाया। उनके सम्मुख कहानी-कला के रूप और वस्तु दोनों की समस्याएँ थीं इनके निराकरण के लिए उन्होंने विभिन्न साहित्यों की कहानी रचना-विधियों का अध्ययन कर स्वयं अपनी कहानी-कला के शिल्प का निर्माण

किया और उसे चरम विकास तक पहुँचाया। वे जनता के लेखक थे। अपनी कहानियों द्वारा उन्होंने सहस्रों मूक और दीन-हीन किसानों और मजदूरों का प्रतिनिधित्व किया, जो पहले साहित्य में अछूत माने जाते थे। उनकी कहानियाँ प्रायः घटना-प्रधान हैं। उनका सांसारिक जीवन का ज्ञान अत्यन्त विस्तृत और सूक्ष्म था। इसी से वे अपनी कहानियों में हमारी सामयिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं एवं आन्दोलनों का सफल चित्रण करने में सफल हो सके। 'कामना तरु', 'आत्माराम', 'कफन', पूस की रात', 'शतरंज के खिलाड़ी' आदि—उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ मानी जाती हैं। चरित्र-चित्रण, कथा-वर्णन, वातावरण-निर्माण, उद्देश्य की सफल अभिव्यक्ति, कथोपकथन आदि की दृष्टि से ये कहानियाँ हिन्दी-साहित्य की सर्वोत्कृष्ट कहानियाँ मानी जाती हैं। प्रेमचन्द ने जो कहानियाँ हिन्दी-साहित्य को दीं, वे कला और विषय-वस्तु की दृष्टि से विश्व की सर्वश्रेष्ठ कलात्मक कहानियों के समकक्ष रखी जा सकती हैं। हिन्दी प्रेमचन्द की कहानियाँ पाकर गौरवान्वित हुई है। समष्टि रूप से, इस युग में दो प्रतिनिधि कहानी-संस्थान सामने आए—प्रसाद-संस्थान और प्रेमचन्द-संस्थान। दोनों ने ही हिन्दी को उच्चकोटि की कलात्मक कहानियाँ प्रदान कीं। प्रसाद-संस्थान की कहानियाँ आगे विकास न पा सकीं, परन्तु प्रेमचन्द-संस्थान की कहानियों का प्रवाह आज तक चलता चला आ रहा है। इसका कारण यह था कि प्रेमचन्द ने ही हिन्दी-कहानी को सामान्य जन-जीवन को प्रतिबिम्बित करने वाला जनवादी रूप प्रदान किया था। अस्तु,

अन्य कहानीकार

प्रेमचन्द के समय में ही कुछ उत्साही लेखकों का एक दल कथा-साहित्य के गगन में उज्ज्वल नक्षत्रों के समान उद्दीप्त हो उठा था। इनमें सुदर्शन, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, शिवपूजन सहाय आदि उल्लेखनीय हैं। सुदर्शन एक प्रकार से प्रेमचन्द के उत्तराधिकारी माने जा सकते हैं। बख्शीजी ने कुछ भावात्मक कहानियाँ लिखने के उपरान्त इस क्षेत्र को त्याग दिया।

प्रथम महायुद्ध ने भारतीय जीवन को विचलित कर दिया था। फलस्वरूप साहित्य में जीवन की स्थापना के लिए कहानियों का प्रचार बढ़ा। 'हृदयेश' ने इसी काल में भावात्मक संस्कृतनिष्ठ शैली की कवित्वपूर्ण कहानियाँ लिखीं। इनकी कहानियाँ मार्मिक परिस्थिति को लक्ष्य में रखकर चलती हैं, अतएव उनमें बाह्य प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूप-रंगों के साथ परिस्थितियों का विशद

चित्रण हुआ है। हिन्दी के लगभग सभी उपन्यासकारों ने कहानियाँ लिखी हैं। कुछ कवियों ने भी कहानियाँ लिखी हैं; जैसे—पंत, निराला, महादेवी भगवती चरण वर्मा आदि, जो कला और प्रभाव की दृष्टि से बहुत ही सुन्दर कहानियाँ मानी गई हैं। निराला की 'देवी', 'चतुरी चमार' आदि तथा भगवतीचरण वर्मा की 'जब मुगलों ने सल्तनत बख्श दी' कहानियाँ बहुत प्रसिद्ध हुईं।

हिन्दी-कहानी के विभिन्न रूपों का विकास

(३) **प्रगतिवादी युग**– प्रेमचन्द के उपरान्त अनेक प्रगतिशील विचारधारा के कलाकारों ने सुन्दर व प्रगतिशील कहानियाँ लिखना आरम्भ किया। इनमें यशपाल, राहुल, रांगेय राघव, अमृतलाल नागर, नागार्जुन आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रेमचन्द के बाद यशपाल ने साहित्य के इस अंग की समृद्धि में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

विचार-प्रधान कहानी-लेखकों में सियारामशरण गुप्त, भगवतीचरण वर्मा, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा, विष्णु प्रभाकर का विशेष स्थान है। रावीजी भी अपने ढंग की विचित्र लघुकथाएँ लिख रहे हैं, जो प्रायः उपदेश-प्रधान होती हैं। मनोवैज्ञानिक कहानीकारों में इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, जैनेन्द्रकुमार आदि उल्लेखनीय हैं। अज्ञेय और जैनेन्द्रकुमार की प्रतिभा इस क्षेत्र में मौलिक है। अन्य कहानीकारों में 'पहाड़ी' का विशेष स्थान है। इनकी कहानियों में 'सस्पेंस' की सुन्दर आभा और कथानक की रोचकता मिलती है। राजेन्द्र यादव की कहानियों में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, चरित्र-चित्रण तथा घटनाओं की सुचारु योजना है। मोहन राकेश और कमलेश्वर विचारोत्तेजक कहानियाँ लिखने वाले नई पीढ़ी के लेखकों में महत्त्वपूर्ण स्थान के अधिकारी हैं।

हिन्दी कहानी का व्यापक रूप

आज कहानी-क्षेत्र में कुछ महिलाएँ भी अपनी लेखनी का उपयोग कर रही हैं। इनमें तेजरानी पाठक, कमला चौधरी, हेमवती, सत्यवती मलिक, शिवानी मन्नू भंडारी, कृष्णा सोवती, मृणाल पांडे, सूर्यबाला, मेहरुन्निसा परवेज, दीप्ति खंडेलवाल आदि प्रसिद्ध हैं। 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' द्वारा महादेवी वर्मा ने साहित्य को कुछ नये सुन्दर रेखाचित्र दिए हैं। इनके अतिरिक्त वर्तमान युग में पाश्चात्य श्रेष्ठ कहानियों के अनुवाद भी हुए हैं।

कान्तिचन्द्र सौनरिक्सा तथा स्वयं लेखक ने मोपासा, तोल्स्तोय, चेखोव, गोर्की, पर्लबक आदि की कहानियों के सुन्दर अनुवाद किये हैं। आज की कहानी की प्रगति पूर्ण सन्तोषजनक मानी जा सकती है। इन कहानियों ने कला के अनेक विधानों के साथ सामाजिक जीवन, इतिहास एवं संस्कृति के अनेक अंगों का स्पर्श किया है। बंगाल के अकाल, कलकत्ता और पंजाब के जनसंहार, युद्ध-कालीन अव्यवस्था, मध्यवित्तों के आर्थिक और नैतिक संघर्ष का चित्रण इन कहानियों में हुआ है। बीसियों सस्ती मासिक कहानी-पत्रिकाएँ भी निकल रही हैं। इनका दृष्टिकोण केवल व्यावसायिक है। नई परिस्थिति के कारण कहानी-लेखकों की बाढ़-सी आ गई है। उसके व्यावसायिक रूप का विकास हो रहा है; परन्तु लोकप्रिय कहानियाँ प्रेम, सेक्स-समस्याओं और जीवन के छोटे-छोटे चित्रों तक ही सीमित हैं।

(कहानी-साहित्य के नवीनतम विकास के लिए आगे देखिये 'स्वातन्त्र्योत्तर कालीन साहित्य' शीर्षक के अन्तर्गत कहानी का विवेचन।)

प्रश्न ७—हिन्दी के नाट्य-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास लिखते हुए उसके विकास में जयशंकर प्रसाद के स्थान का निर्धारण कीजिए।

उत्तर—हिन्दी के आरम्भिक नाटक

उपन्यास और निबन्ध के समान हिन्दी-नाटक का वास्तविक उद्भव-काल भी भारतेन्दु-युग ही रहा है। इससे पूर्व शृंगारकालीन कवियों ने ब्रजभाषा पद्य में कुछ संस्कृत नाटकों का अनुवाद किया था। सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हृदयराम ने 'हनुमन्नाटक' का अनुवाद किया था। हिन्दी-नाट्य-साहित्य की यही सबसे पहली पुस्तक मानी गई। इसके उपरान्त सुकवि नेवाज कृत 'शकुन्तला' और देवकृत 'देवमाया प्रपंच' नामक नाटकों का सृजन हुआ। अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में महाराज विश्वनाथसिंह ने 'आनन्द-रघुनन्दन' और ब्रजवासीदास ने 'प्रबोध चन्द्रोदय' शीर्षक नाटकों की रचना की। इन सभी नाटकों में पद्य की प्रधानता और नाटकीय नियमों का अभाव है। आधुनिक साहित्यिक दृष्टि से इनका मूल्य नगण्य है। कुछ नाटकीय नियमों का पालन करते हुए भारतेन्दु के पिता बाबू गोपालचन्द्र उर्फ गिरधरदास ने 'नहुष' नामक नाटक लिखा। कुछ आलोचकों ने 'नहुष' को ही हिन्दी का पहला मौलिक नाटक माना है। इसकी भाषा—ब्रजभाषा है। इसके उपरान्त राजा लक्ष्मणसिंह ने संस्कृत के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' नाटक का हिन्दी में अनुवाद

किया, जिसमें मूल कृति का-सा सौन्दर्य पाया जाता है। इसमें पद्य की भाषा व्रज और गद्य की खड़ीबोली है। एक प्रकार से खड़ीबोली-गद्य में लिखा गया यह हिन्दी का सर्वप्रथम अनूदित नाटक है। काल-क्रमानुसार इनके उपरान्त भारतेन्दु का नाम आता है।

भारतेन्दु : नए नाटक-रूप के प्रणेता

भारतेन्दु का युग प्राचीन और नवीन के संघर्ष का युग था। उनके नाटकों में इस संघर्ष की तीव्र प्रतिध्वनि है। भारतेन्दु के नाटक दो प्रकार के हैं—मौलिक और अनूदित। मौलिक नाटकों में—वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, चन्द्रावली, विषस्य विषमौषधम्, भारत दुर्दशा, नील देवी, अन्धेर नगरी, प्रेम-जोगिनी आदि हैं। इन नाटकों में उन्होंने जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों से सामग्री ली है। चन्द्रावली में प्रेम का आदर्श, नीलदेवी में ऐतिहासिक वृत्त, भारत-दुर्दशा में देश की दुर्दशा आदि का चित्रण है। उनके अनूदित नाटकों में विद्या-सुन्दर, पाखंड विडम्बन, धनंजय, कर्पूर मंजरी, मुद्राराक्षस, सत्य हरिश्चन्द्र और भारत जननी हैं। सत्य हरिश्चन्द्र—उनका मौलिक नाटक माना जाता है; परन्तु आचार्य शुक्ल उसमें एक बँगला नाटक की छाया देखते हैं। इनके नाटकों पर बँगला और संस्कृत का प्रभाव है। बँगला पर अंग्रेजी का प्रभाव था। इसलिए इनके नाटकों में पूर्व और पश्चिम की नाट्यकला का प्रारम्भिक हलका-सा समन्वय मिलता है। जिन्दादिली इन नाटकों की विशेषता है। सभी नाटक अभिनेय हैं। वस्तुतः हिन्दी में, सच्चे अर्थों में नाटक, लिखने का श्रेय भारतेन्दु को ही है। उन्होंने संस्कृत नाट्य-शास्त्र के अनेक रूढ़ नियमों का परित्याग कर हिन्दी-नाटक को एक सर्वथा अभिनव और नवीन युग के अनुरूप रूप प्रदान कर उसे राष्ट्रीय भावना के प्रचार का सशक्त साधन बनाया था।

भारतेन्दु-युगीन अन्य नाटककार

भारतेन्दु के प्रभाव से उनके समकालीन लगभग सभी साहित्यकारों ने नाटक लिखे। इस काल के नाटककारों में भारतेन्दु के अतिरिक्त दो नाटककार प्रतिभाशाली थे—प्रतापनारायण मिश्र और राधाकृष्णदास। मिश्रजी ने 'गोसंकट, कलिप्रभाव, जुआरी ख्वारी और हठी हमीर' नामक चार नाटक लिखे। राधाकृष्णदास ने 'महारानी पद्मावती, महाराणा प्रताप, दुखिनी बाला नामक अत्यन्त सुन्दर ऐतिहासिक नाटकों का निर्माण किया। इन लेखकों के अतिरिक्त श्रीनिवासदास ने 'रणधीर प्रेम मोहिनी', 'संयोगिता स्वयंवर',

'तप्तासंवरण' तथा प्रेमघन ने 'भारत सौभाग्य' नामक नाटक लिखे। बाबू गोकुलचन्द्र का 'बूढ़े मुँह मुँहासे लोग चले तमाशे'; बाबू केशवराय का 'सज्जाद-सम्बल', 'शमशाद सौसन'; गजाधर भट्ट का 'मृच्छकटिक', अम्बिकादत्त व्यास का 'लतिका' आदि नाटक इस काल के प्रसिद्ध नाटक हैं। साहित्यिक दृष्टि से उपर्युक्त नाटकों का अधिक मूल्य नहीं माना जा सकता। इनमें मौलिकता और आधुनिक नाटकीय गुणों का अभाव है। इन नाटकों की दो विशेषतायें हैं—(१) देवता, गन्धर्व, राक्षस आदि दैवी पात्रों का अभाव और उनके स्थान पर मनुष्य की बुद्धि और भावों के चमत्कार का प्रदर्शन। इस युग में नाटक का मनुष्य-जीवन से निकट का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। (२) दूसरी बात है—पद्य के स्थान पर खड़ीबोली-गद्य का प्रयोग।

अनूदित नाटक

इस युग में मौलिक नाटक बहुत कम लिखे गए, इसलिए उनके अभाव में अन्य भाषाओं के श्रेष्ठ नाटकों के अनुवाद की परम्परा चली। अनुवाद बँगला संस्कृत और अंग्रेजी से हुए। बाबू सीताराम ने 'नागानन्द, मृच्छकटिक, मालती माधव' आदि का तथा सत्यनारायण 'कविरत्न' ने भवभूति के 'उत्तररामचरित' और 'मालती माधव' का संस्कृत से अनुवाद किया। ये अनुवाद अत्यन्त सुन्दर हैं। बँगला के प्रसिद्ध नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों का अनुवाद रूप-नारायण पांडेय और रामकृष्ण वर्मा ने किया। ये नाटक अत्यन्त लोकप्रिय हुए। नाथूराम प्रेमी और धन्यकुमार जैन ने भी अनेक बँगला नाटकों का अनु-वाद किया। अंग्रेजी नाटकों के अनुवादकों में गंगाप्रसाद पांडेय, पुरोहित गोपीनाथ, मथुराप्रसाद उपाध्याय प्रमुख हैं। उन्होंने विशेष रूप से शेक्सपीयर के नाटकों का अनुवाद किया।

दो प्रकार के नाटक

उपर्युक्त अनुवादों के अतिरिक्त अनेक मौलिक नाटकों का सृजन भी इस काल में हुआ। इन मौलिक नाटकों के भी दो भेद मिलते हैं—एक वे जिन पर पारसी नाट्यकला का प्रभाव था। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारत में पारसी नाटक-कम्पनियों की स्थापना हुई थी। इनके अपने-अपने नाटककार थे, जिनके लिखे नाटकों का ये कम्पनियाँ अभिनय किया करती थीं। इनके बीसवीं सदी के आरम्भिक लेखकों में राधेश्याम कथावाचक, नारायणप्रसाद बेताव, आगाहश्र कश्मीरी और हरिकृष्ण जौहर प्रमुख हैं। दूसरे वे नाटककार हैं जिनके

नाटकों में दृश्य काव्य की अपेक्षा श्रव्य-काव्य के गुण अधिक हैं। इनमें मिश्रबन्धु का 'नेत्रोतचीन'; बदरीनाथभट्ट का 'चन्द्रगुप्त', 'बेनचरित', 'दुर्गावती' आदि; राय देवीप्रसाद पूर्ण का 'चन्द्रकला भानुकुमार'; मैथिलीशरण गुप्त का 'चन्द्रहास' और जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का 'मिलन मधुर' नामक नाटक सुन्दर माने जाते हैं। यहाँ तक प्राय: भारतेन्दु की मिश्रित शैली पर ही नाटक लिखे गये। इसके आगे नाटककारों ने भारतेन्दु की पद्धति को छोड़कर यूरोपीय और भारतीय नाट्य-पद्धतियों के मिश्रित रूप को अपनाया। प्राचीन पद्धति के सूत्रधार, प्रस्तावना, विष्कम्भक आदि को उड़ा दिया गया। अंकों को दृश्यों में विभाजित किया गया। दृश्य और सूच्य का भेद भी गायब हो गया। मंच पर उपस्थित करने वाले दृश्यों में संस्कृत नाट्य-शास्त्र का कोई बन्धन नहीं स्वीकार किया गया। यहीं से हिन्दी-नाटकों का आधुनिक युग आरम्भ होता है। इसी समय नाटक-जगत में जयशंकर प्रसाद का आविर्भाव हुआ। इसे नाटक का उत्थान-युग या प्रसाद-युग कह सकते हैं।

प्रसाद : आधुनिक नए नाटक के जन्मदाता

प्रसाद के नाटक-क्षेत्र में अवतीर्ण होने से हिन्दी नाट्य-साहित्य का काया-कल्प हो गया। आधुनिक हिन्दी नाटकों का पूर्ण साहित्यिक स्वरूप इन्हीं के नाटकों में पहली बार दिखायी दिया। प्रसाद ने गम्भीर ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर प्राचीन भारतीय गौरव और सभ्यता-संस्कृति का चित्र उपस्थित करने वाले ऐतिहासिक नाटक लिखे। इनके कथानक महाभारत के उत्तरार्द्ध काल से लेकर सम्राट हर्षवर्द्धन के शासनकाल तक से लिए गए, क्योंकि यह काल भारतीय सभ्यता के गौरव का काल रहा है। प्रसाद के प्रयत्न और प्रभाव से हिन्दी-नाट्यकला में अभूतपूर्व परिवर्तन हुए। नाटकों के बाह्य आकार और अवयवों के विन्यास में वैचित्र्य आया। प्राचीन नाट्य-शास्त्र में वर्जित दृश्यों आदि का दिखाया जाना तथा अन्य अनेक नियमों का उल्लंघन हुआ। इन्होंने अपने नाटकों में वध, आत्महत्या, युद्ध आदि वर्जित दृश्यों का समावेश किया। प्रसाद ने अपने नाटकों में सबसे अधिक बल मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण पर दिया। समष्टि रूप से, प्रसाद की इस नवीन नाट्य-कला में भारतीय और यूरोपीय—दोनों नाट्य-प्रणालियों का सुन्दर समन्वित रूप मिलता है। प्रसाद ने यूरोप में प्रचलित शील वैचित्र्यवाद का पूर्ण रूप से अनुकरण न कर रस-विधान और शील वैचित्र्य का सामंजस्य रखा। इनके नाटक हैं—'स्कन्दगुप्त,

अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, विशाख, कामना, जनमेजय का नागयज्ञ, राज्यश्री और एक घूँट'। इनमें से 'एक घूँट' और 'कामना' के अतिरिक्त अन्य सभी नाटक ऐतिहासिक हैं।

हिन्दी-नाटक को प्रसाद की देन

प्रसाद का युग राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक उथल-पुथल का युग था। इस परिस्थिति ने हमें बाध्य किया कि अपनी संस्कृति और राष्ट्रीयता के विषय में गम्भीरता से सोचें। उस समय कोई हल नहीं सूझता था। प्रसाद ने इसीलिए अतीत की ओर देखा। पददलित जाति के लिए उसका गौरवपूर्ण अतीत बड़ा आकर्षक होता है। दूसरा कारण यह था कि प्रसाद मूलतः दार्शनिक थे; और वह भी ऐसे दार्शनिक, जो दर्शन को व्यावहारिक जीवन में उतारने और उसका उपयोग करने में आस्था रखते थे। शैवागम के 'आनन्दवाद' की उपासना के कारण उन्होंने संघर्षों से घबराना नहीं सीखा था। उनका विचार था कि अखण्ड भारतीयता का सांस्कृतिक पुनरुत्थान यदि सम्भव है तो प्राचीन भारतीयता के उज्ज्वलतम उदाहरणों को ही भारतीयों के सम्मुख रखना चाहिए। इसके लिए वे प्राचीन भारत और नवीन युग को साथ लेकर चले। ऐतिहासिक अनुशीलन और नवीन कल्पना के प्रयोग से उन्होंने नाट्यकला में नवीनता की उद्भावना की। उनके नाटकों में पाई जाने वाली अन्तर्द्वन्द्व की प्रधानता पश्चिम की देन है। इन नाटकों में ऐतिहासिकता होते हुए भी इसी कारण आधुनिकता की छाप है। इस प्रकार उनकी सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना, दार्शनिक चिन्तन, उनकी स्वाभाविक चरित्र-कल्पना, उनकी राष्ट्रीयता के प्रति आग्रह, उनका संघर्ष के विष से जीवन के अमृत की खोज का प्रयत्न तथा नवीन नाट्य-कला और भाषा का अत्यन्त परिमार्जित प्रौढ़रूप आदि ऐसी बातें हैं जो उन्हें हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ नाटककार घोषित करती हैं और उनकी रचनाओं को स्थायी साहित्य की उज्ज्वल निधि बना देती हैं।

अन्य उल्लेखनीय नाटककार और उनके नाटक

प्रसाद के पश्चात् हिन्दी में दो नाटककारों ने विशेष कार्य किया हरि-कृष्ण प्रेमी और उदयशंकर भट्ट। प्रेमी जी ने अपने ऐतिहासिक नाटकों में मुगलकालीन राजपूती गौरव की झलक और हिन्दू-मुस्लिम एकता का चित्रण किया। 'रक्षाबन्धन' इनका प्रसिद्ध नाटक है। उनके अन्य नाटकों में 'स्वप्नभंग' 'आहुति', 'विषपान' आदि उल्लेखनीय हैं। भट्टजी ने पौराणिक नाटक लिखे

हैं। सगर-विजय, अम्बा, मत्स्यगंधा, विश्वामित्र उनके प्रसिद्ध नाटक हैं। इनके अतिरिक्त पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' का 'महात्मा ईसा'; माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन युद्ध', गोविन्दवल्लभ पन्त का 'वरमाला', 'राजमुकुट', और 'अंगूर की बेटी'; जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द का 'प्रताद प्रतिज्ञा'; प्रेमचन्द का 'संग्राम' और 'प्रेम की वेदी'; सुदर्शन का 'अजन्ता'; कौशिक का 'भीष्म'; पन्त का 'ज्योत्सना' नामक नाट्य रूपक; सत्येन्द्र का 'मुक्ति का यज्ञ'; रामनरेश त्रिपाठी का 'प्रेमलोक'; चतुरसेन शास्त्री का 'अमर राठौर' आदि नाटक इस काल के प्रसिद्ध नाटक माने जाते हैं। उपर्युक्त नाटककारों के अतिरिक्त दो नाटककार विशेष रूप से और उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने हिन्दी नाट्य-साहित्य की अभिवृद्धि में विशेष योग दिया है। ये हैं—लक्ष्मीनारायण मिश्र और सेठ गोविन्ददास। मिश्रजी ने इबसन और बर्नार्ड शा से प्रभावित होकर नवीन प्रकार के समस्या-प्रधान नाटक लिखे हैं, जिनमें 'सिन्दूर की होली', 'संन्यासी', 'राक्षस का मन्दिर' 'मुक्ति का रहस्य' आदि प्रसिद्ध हैं, इनमें संस्कृत नाट्य-शास्त्र के नियमों के उल्लंघन के साथ-साथ पात्रों की संख्या कम है। संगीत और स्वगत-कथनों का पूर्ण बहिष्कार है; साथ ही रंगमंच के निर्देश ब्यौरे के साथ दिए गए हैं। ये पाश्चात्य नाट्य-शैली के चरित्र-प्रधान यथार्थवादी नाटक हैं। सेठजी भी इसी पन्थ के अनुगामी हैं। उनके 'प्रकाश'; 'हर्ष' और 'कर्त्तव्य', तीन नाटक बहुत प्रसिद्ध हैं, यद्यपि उन्होंने छोटे-बड़े नाटक कुल मिलाकर एक सौ से अधिक लिखे हैं। इनमें मिश्रजी के नाटकों की अपेक्षा अभिनेयता अधिक है।

(नाटक-साहित्य की नवीनतम प्रगति के लिए आगे देखिए—'स्वातन्त्र्योत्तरकालीन साहित्य' शीर्षक के अन्तर्गत नाटक का विवेचन।)

प्रश्न ८—एकांकी नाटक की उत्पत्ति, विकास एवं विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—एकांकी का जन्म

कहा जाता है कि आज के व्यस्त जीवन में लम्बे नाटकों को देखने का समय और धैर्य दर्शकों के पास नहीं है। इसलिए समय की बचत और अभिनय की सुगमता का ध्यान रखकर यूरोप में नाटक कम्पनियों ने छोटे, एक अंक वाले नाटकों को प्रोत्साहित किया था। परन्तु आजकल भी लोग तीन-तीन घण्टों में समाप्त होने वाली फिल्में और नाटक देखते हैं और उन्हें समयाभाव नहीं सताता। इसलिए समयाभाव को नाटकों के वर्तमान छोटे रूप एकांकी

के जन्म का कारण नहीं माना जा सकता। आधुनिक रूप में इनकी उत्पत्ति का श्रेय यूरोप को है। अपने संक्षिप्त कलेवर के कारण आजकल ये नाटक अत्यन्त लोकप्रिय हो रहे हैं। इनकी उत्पत्ति के विषय में कहा जाता है कि आरम्भ में ये नाटक समय की पूर्ति के लिए खेले जाते थे। बात यह थी कि नाटक देखने के लिए कुछ लोग देर से आया करते थे। इसलिए समय पर या समय से पहले ही आने वालों के मनोरंजनार्थ प्रधान नाटक के आरम्भ होने से कुछ समय पूर्व कुछ छोटे नाटकीय दृश्य दिखाए जाते थे। लोग इनको पसन्द करने लगे। इस प्रकार धीरे-धीरे यूरोप में आधुनिक एकांकी का विकास हुआ। आगे चलकर इब्सन के प्रभाव से एकांकी में नये तत्त्वों का समावेश किया गया। नाटक-क्षेत्र में एकांकी को अपनाए जाने के विषय में एक घटना का विशेष योग बताया जाता है। सन् १६०३ में लन्दन के 'वेस्ट एण्ड थियेटर' में एक कहानी 'बन्दर का पंजा' का, एकांकी के प्राचीन रूप में प्रदर्शन किया गया। उससे दर्शक इतने प्रभावित हुए कि मुख्य नाटक को देखे बिना ही पटाक्षेप के बाद उठकर घर चले गए। इस घटना से थियेटरों के मालिकों में सनसनी फैल गयी। उन्होंने छोटे नाटकों को अपने बड़े नाटकों से बिलकुल हटा दिया। यह हटाया जाना एकांकी के लिए बड़ा सहायक सिद्ध हुआ; क्योंकि कुछ समय में ही वह अपने सीमित सहायक क्षेत्र से हटकर स्वतन्त्र मौलिक रूप में रंगमंच पर आ विराजा।

आधुनिक एकांकी की विशेषताएँ

भारत में एकांकी की परम्परा बहुत प्राचीन मानी जाती है। संस्कृत के 'भाण, अंग, व्ययोग, वीथी, प्रहसन' आदि एकांकी ही थे। साथ ही 'गोष्ठी' 'नाट्यरासक' और 'उल्लास' भी इसी श्रेणी के लघु नाटक थे। कालिदास और भास ने ऐसे अनेक नाटक लिखे थे। इनमें भास के 'उरुभंग' और 'नीलकण्ठ' आज भी प्राप्त हैं। इन प्राचीन एकांकियों और आधुनिक एकांकी में सबसे प्रधान भेद यह है कि उनमें निर्देश या संकेत अत्यन्त स्वल्प मात्रा में होते थे, जबकि इनमें अत्यन्त विस्तारपूर्वक दिये जाते हैं; परन्तु वर्तमान एकांकी मूल रूप से यूरोप की देन है। इसमें संस्कृत एकांकी के रस, पात्र और संधियों के नियमों की अवहेलना होती है। भारतेन्दु-काल के एकांकी संस्कृत-एकांकियों से प्रभावित थे। आधुनिक एकांकी में जीवन का एकांकी चित्रण, चरित्र-चित्रण के आरम्भ में ही कौतूहल का आधिक्य, चरम सीमा का संक्षेप में केन्द्रीयकरण,

संवादों की मार्मिकता एवं वातावरण की अनुकूलता, एक घटना और एक स्थान आदि विशेषताएँ हैं।

हिन्दी के प्रसिद्ध एकांकीकार

इधर हिन्दी के कई अच्छे कवियों और नाटककारों ने कुछ एकांकी लिखे हैं जिनका एक सुन्दर संग्रह 'आधुनिक एकांकी नाटक' के नाम से प्रकाशित हुआ है। इसमें सुदर्शन का 'राजपूत की हार'; रामकुमार वर्मा का 'दस मिनट' भुवनेश्वर का 'स्ट्राइक', उपेन्द्रनाथ अश्क का 'लक्ष्मी का स्वागत', भगवती-चरण वर्मा का 'सबसे बड़ा आदमी' 'धर्मप्रकाश आनन्द का 'दीन' और उदय-शंकर भट्ट का 'दस हजार' नामक एकांकी संग्रहीत हैं। एकांकी नाटककारों में रामकुमार वर्मा का विशेष स्थान है। इनके 'रेशमी टाई' और 'चारुमित्रा' तथा अन्य दर्जनों एकांकी-संग्रह निकल चुके हैं। अश्क ने भी इस क्षेत्र में काफी प्रसिद्धि पाई है। उन्होंने एकांकी में आधुनिक विचारों का अति आधुनिक ढंग से प्रतिपादन कर, उसे साहित्य का महत्त्वपूर्ण अंग बना दिया है। देवताओं की छाया' उनके सात एकांकियों का संग्रह है। भुवनेश्वर मिश्र के 'कारवाँ' एकांकी ने काफी ख्याति पाई है। इसके अतिरिक्त विष्णु प्रभाकर, जगदीशचन्द्र माथुर सद्गुरुशरण अवस्थी, सेठ गोविन्ददास, रावी, सत्येन्द्र, शरद, यशपाल आदि ने भी सुन्दर एकांकी लिखे हैं। भारतीय जन-नाट्य-संघ (इप्टा) ने एकांकी नाटकों की अभिवृद्धि में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग दिया है। आजकल हिन्दी में एकांकी नाटक प्रचुर संख्या में लिखे जाते हैं। मोहन राकेश, धर्मवीर भारती, विमला लूथरा तथा अन्य अनेक एकांकीकारों ने अगणित ऐसे एकांकी नाटक लिखे हैं जिन्हें उच्च-कोटि की साहित्यिक कृतियाँ होने का गौरव प्राप्त है।

(हिन्दी-एकांकी के आधुनिकतम विकास के लिए आगे 'स्वातन्त्र्योत्तर कालीन नाटक साहित्य' नामक प्रश्न के उत्तर को देखिए।)

प्रश्न ६—हिन्दी में निबन्ध-साहित्य के उद्‌भव और विकास पर एक संक्षिप्त एवं सारगर्भित लेख लिखिए।

उत्तर—हिन्दी-निबन्ध की जननी : हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ

हिन्दी में निबन्ध की जननी भारतेन्दुयुगीन पत्र-पत्रिकाएँ रही हैं। उस समय भारतीय समाज में एक नई सांस्कृतिक और राजनैतिक चेतना का उदय हो रहा था। इसी विषय को लेकर उस समय की पत्र-पत्रिकाओं में नाना प्रकार के निबन्ध प्रकाशित होते रहते थे। इनके आरम्भिक लेखक उन पत्र-

पत्रिकाओं के सम्पादक थे। विषय की विविधता, सामाजिक और राजनीतिक जागृति, शैली की रोचकता, तीक्ष्णता और चंचलता, आभिजात्य गौरव और गाम्भीर्य का अभाव आदि आरम्भिक निबन्धों के कुछ ऐसे गुण हैं जो पत्र-कारिता से सम्बन्धित हैं। इन लेखकों का व्यक्तित्व बहुमुखी था। इनको अनेक कार्य करने थे—जिनमें साहित्य के विभिन्न अंगों का उन्नयन, समाज-सुधार नाट्यकला का प्रसार, शिक्षा-प्रसार, राजनीतिक गतिविधि का निरीक्षण, जनता को जागरूक बनाना, राष्ट्रीय-भावना का प्रणयन आदि महत्त्वपूर्ण थे। इन सब कार्यों में निबन्ध ही इनका सबसे अच्छा सहायक सिद्ध हो सकता था; क्योंकि साहित्य के अन्य अंगों के माध्यम से अपनी बात कहने में अनेक रचना-त्मक विधि-निषेधों का पालन करना पड़ता है; परन्तु निबन्ध में इन बन्धनों को मानने की विशेष जरूरत नहीं होती। इसलिए उस युग में खूब निबन्ध लिखे गए और उनमें उस काल के समाज का सच्चा स्वरूप प्रतिबिम्बित हुआ। भारतेन्दु-युग के लेखकों ने साधारण-से-साधारण और गम्भीर-से-गम्भीर विषयों पर निबंध लिखे। उस समय गद्य का कोई एक सर्व स्वीकृत रूप सामने न होने के कारण विभिन्न लेखकों की शैलियों में गद्य-शैली-निर्माण के वैयक्तिक प्रयास ही अधिक उभरे। उनकी भाषा सर्व-साधारण की थी, जिसमें प्रान्तीय लोकोक्तियों, मुहावरों और शब्दों का खुलकर प्रयोग किया गया। अंग्रेजी में निबन्ध के पर्याय 'ऐसे' का अर्थ है—'प्रयास'। भारतेन्दु-युग के निबन्ध सचमुच इस क्षेत्र में आरम्भिक प्रयास ही थे। इनमें न बुद्धि-वैभव का चमत्कार है, न पांडित्य-प्रदर्शन की भावना। इसके विपरीत इनमें कुछ ऐसी गहरी आत्मीयता और बेतकल्लुफी है कि पाठक उनसे अनायास ही घुल-मिल जाना चाहता है।

भारतेन्दु-युग : निबन्ध का उन्मुक्त-स्वच्छन्द रूप

भारतेन्दु के निबन्ध प्राथमिक प्रयास हैं, जिनमें सच्चे निबन्ध के वास्तविक गुण विद्यमान हैं। उन्होंने अनेक विषयों पर निबन्ध लिखे थे। शैली, भाषा और विषय की दृष्टि से अनेक निबन्धों में यथेष्ट प्रौढ़ता मिलती है। इस प्रकार हम भारतेन्दु को हिन्दी निबन्ध-साहित्य का जन्मदाता मान सकते हैं। विषय और शैली की दृष्टि से इन निबन्धों में पूरा वैविध्य है। इनकी नाटकीय शैली और स्तोत्र का ढंग अत्यधिक प्रभावोत्पादक है। स्तोत्रों में विभिन्न सम्बोधनों और व्यंजक विशेषणों, विलक्षण आरोपों, रूपकों के अनेक प्रकार के बन्धन और अतिशयोक्ति द्वारा अद्भुत चमत्कार आ गया है।

प्रतापनारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट

भारतेन्दु के पश्चात् इस काल में सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र और बालमुकुन्द गुप्त माने जाते हैं। मिश्रजी में निबन्ध-लेखन की अद्भुत प्रतिभा थी। वे नियमों का बन्धन स्वीकार नहीं करते थे। उनकी-सी मस्ती और उल्लास उस युग के किसी दूसरे गद्य-लेखक में नहीं मिलता। भाषा अकृत्रिम, सजीव और ग्रामीण है, जिसमें आभिजात्य-वर्गीय गाम्भीर्य का अभाव है। कहावतें, मुहावरे, अनुप्रास और श्लेष का चमत्कार है इसी से वे पाठक से पूरी आत्मीयता स्थापित कर लेते हैं। निबन्ध का विषय उनकी विचारधारा को नियन्त्रित नहीं करता, अपितु उनकी विचारधारा ही विषय का नियन्त्रण करती है। विषय जो मन में आया, लिया और फिर उसके माध्यम से अपने मन की बातें कह दीं। 'बात', 'वृद्ध', 'भौं', 'धोखा' 'मरे को मारे शाह मदार' आदि अनेक व्यक्तिनिष्ठ शैली के सुन्दर निबन्ध हैं। भट्टजी मिश्रजी के श्रेष्ठ सहयोगी थे। उन्होंने भारतेन्दु की विचारात्मक या व्याख्यात्मक शैली को विकसित किया। उनके निबन्धों में विनोद-प्रियता एवं गम्भीर बात को सुबोध और रोचक ढंग से कहने का प्रयास मिलता है। कहीं-कहीं सुन्दर भावात्मक शैली के भी दर्शन होते हैं। उनमें मिश्रजी के-से भदेसपन का अभाव है। उनके निबन्धों के विषय साहित्यिक, सामाजिक, धार्मिक नैतिक और मनोवैज्ञानिक रहे हैं। शैली के भी विश्लेषणात्मक, भावात्मक, व्यंग्यात्मक, आदि कई रूप मिलते हैं। उनके द्वारा लिखे गये विचारात्मक निबन्ध तर्क-पुष्ट शैली में व्यवस्थित ढंग से लिखे गये हैं।

बालमुकुन्द गुप्त

इस काल के तीसरे प्रसिद्ध निबंध लेखक बालमुकुन्द गुप्त हैं। इन्होंने अपने निबन्धों द्वारा गद्य को परिमार्जित कर उसे प्रांजलता प्रदान की। इनका व्यंग्य अधिक शालीन, सांकेतिक और व्यंजक है। गद्य-शैली के विकास में गुप्तजी का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है। इन्होंने भी अन्य लेखकों के समान अतीत-गौरव की भावना को जगाया। कई जीवन-चरित, हिन्दी भाषा, लिपि, व्याकरण, राष्ट्रभाषा आदि के सम्बन्ध में निबन्ध लिखे। इनकी विशेष प्रसिद्धि का आधार इनकी व्यंग्यात्मक गद्य-रचनाएँ 'शिवशम्भु का चिट्ठा' और 'खत' हैं। इनमें एक प्रकार की नाटकीयता आ गई है। भारतेन्दु-युग के अन्य लेखकों में सर्वश्री ज्वालाप्रसाद, तोताराम, राधाचरण गोस्वामी, अम्बिका

दत्त व्यास, प्रेमघन आदि प्रसिद्ध हैं। उन्होंने उपर्युक्त प्रमुख निबन्धकारों का ही एक प्रकार से अनुकरण करने का प्रयत्न किया था।

निबन्ध का नवीन विकास

द्विवेदी-युग—बीसवीं शताब्दी में अंग्रेजी-शिक्षा के माध्यम से शिक्षितों की संख्या में वृद्धि हुई। अतः हिन्दी लेखकों का ध्यान 'सामाजिक मनुष्य' की ओर आकृष्ट हुआ। फलस्वरूप इस युग में नैतिक निबन्ध अधिक लिखे गए। इनमें पत्रकारिता की स्वच्छन्दता के स्थान पर विवेचन और गाम्भीर्य की वृद्धि हुई। निबन्ध की प्रकृति में एक तरह का आभिजात्यपन आ गया। द्विवेदीजी ने निबन्ध-लेखकों को शिष्टतापूर्वक बात करने का ढंग सिखाया। इस युग में निबन्ध का रूप सार्वजनिक न रहकर शिष्ट समाज की वस्तु बना। भाषा और साहित्य का प्रश्न एक नए रूप में सामने आया। विषय-वैभिन्य के कारण भाषा की शक्ति बढ़ी। अंग्रेजी के सुन्दर निबन्धों के अनुवाद भी हुए। द्विवेदीजी के निबन्ध 'ज्ञान-राशि के संचित कोश' कहे जाते हैं क्योंकि उनमें विभिन्न विषयों से सम्बन्धित ज्ञान का परिचय और उपदेश देने का प्रयत्न मिलता है। इनके साहित्य की महत्ता, कवि और कविता, प्रतिभा, नाटक, उपन्यास आदि निबन्ध सरल और सुबोध शैली में पाठकों के ज्ञान की वृद्धि करते हैं। श्यामसुन्दरदास, गुलाबराय एवं मिश्रबन्धु भी इसी श्रेणी के लेखक हैं। श्यामसुन्दरदास ने 'समाज और साहित्य', 'कला का विवेचन' आदि सुन्दर निबन्ध लिखे जिनमें पाण्डित्यपूर्ण ओज एवं अर्जित ज्ञान का गाम्भीर्य है, पर निबन्ध की वह आत्मा नहीं, जिसके कारण साहित्यिक दृष्टि से इनकी कोई रचना उच्चकोटि का निबन्ध कहला सकती। मिश्रबन्धुओं के निबन्ध भी शिक्षा मूलक हैं। गुलाबराय के 'समाज और कर्त्तव्य-पालन' जैसे निबन्धों की अपेक्षा उनके 'फिर निराशा क्यों' जैसी रचनाएँ निबन्ध के अधिक निकट हैं। उन्होंने आलोचनात्मक निबन्ध भी लिखे हैं। उनकी विनोदमयी शैली में लिखे गए संस्मरणात्मक निबन्ध अत्यन्त उच्चकोटि के माने जाते हैं। साहित्यिक विषयों पर बख्शीजी ने भी कई सुन्दर निबन्ध लिखे हैं। इसी समय पद्मसिंह शर्मा ने अपनी फड़कती शैली में कुछ सुन्दर निबन्ध लिखे। इनकी भावुकता दर्शनीय है। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, ब्रजमोहन वर्मा, मोहनलाल महता आदि ने भी इस काल में कुछ सुन्दर संस्मरण और चरितात्मक निबन्ध लिखे।

प्रसिद्ध निबन्धकार-त्रयी

द्विवेदी-युग में, विशेष रूप से, तीन निबन्धकार अत्यन्त उच्चकोटि के माने जाते हैं—माधवप्रसाद मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और सरदार पूर्णसिंह। मिश्रजी के निबन्धों में त्यौहारों, तीर्थ-स्थानों आदि के प्रति अतीव निष्ठा के साथ देश-प्रेम, सनातन धर्म के प्रति अटूट आस्था आदि के दर्शन होते हैं गुलेरी जी विचार और शैली की दृष्टि से इस युग के सर्वाधिक प्रगतिशील लेखक हैं। इनका व्यंग्य अन्य निबन्धकारों की अपेक्षा अधिक तीव्र और मार्मिक होता है। उस समय तक के निबन्धों में सबसे अधिक विकसित ऐतिहासिक और सांस्कृतिक चेतना इन्हीं में मिलती है। 'कछुआ धर्म', 'मारेसि मोहि कुठांव' और 'संगीत' जैसे निबन्धों में उनकी शैली का चमत्कार दिखाई देता है। सरदार पूर्णसिंह ने जो अध्यापक पूर्णसिंह के नाम से भी प्रसिद्ध हैं, विषय और भाषा-शैली की एक नई लय और गति के साथ निबन्धों की परम्परा को नये मानवतावादी मार्ग की ओर उन्मुख किया। सभ्य आचरण और प्रेम द्वारा ये समाज का कल्याण देखते थे। इनकी भाषा में एक नई लक्षणा और व्यंजना-शक्ति का अभूतपूर्व चमत्कार मिलता है। भावों विचारों को मूर्त्त रूप प्रदान कर देने की इनमें अद्‌भुत क्षमता मिलती है। इनके निबन्ध प्रभावाभिव्यंजक शैली के अन्तर्गत माने जाते हैं, क्योंकि इनके सजीव, चित्रोपम वर्णन, मार्मिक भाव-व्यंजना, गम्भीर विचार संकेत और भाषा-शैली की ओजस्विता आदि गुण एक विशेष प्रभाव की सृष्टि करते हैं। विचारों को भावों का मनोरम-आकर्षक संवेदनशील रूप प्रदान कर देने की इनकी कला-क्षमता अपूर्व है।

रामचन्द्र शुक्ल : युगान्तरकारी निबन्धकार

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के रूप में हिन्दी को सर्वप्रथम एक महान् निबन्ध-लेखक मिला। शुक्लजी ने इस क्षेत्र में बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। आपके निबन्ध—'विचार वीथी' और 'चिन्तामणि' नाम से संगृहीत हुए हैं। शुक्लजी का हृदय कवि का, मस्तिष्क आलोचक का और जीवन अध्यापक का था। उनके व्यक्तित्व की यह सरसता और गम्भीरता उनके निबन्धों में कल्याण-भावना के साथ घुली-मिली हुई मिलती है। निबन्धों में विषय का संगठन, भाषा का गम्भीर रूप, प्रभाव एवं ओज प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। कहीं-कहीं गम्भीर हास्य के छींटे भी मिल जाते हैं। विचारधारा शृङ्खलाबद्ध और तर्कपूर्ण है जो समास-शैली द्वारा प्रकट होती है। सर्व सम्मति से शुक्लजी

हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार माने गये हैं। उन्होंने द्विवेदी-युग की शास्त्रीय गद्य-शैली को एक नया रूप देकर उसे बहुत ऊँचा उठा दिया, जिसमें विषयों के विश्लेषण और पर्यालोचन की दृष्टि से वैज्ञानिक की सी सूक्ष्मता और सतर्कता दिखाई देती है और भावों को प्रेरित करने के विचार से पूर्ण सहृदयता के दर्शन होते हैं। इनके घनीभूत वाक्यों की ध्वनि दूर तक जाती है। हिन्दी में ऐसे सुगठित विचारात्मक निबन्ध संख्या में विरल ही हैं। शुक्लजी ने ही सबसे पहले निबन्ध के माध्यम से साहित्य और जीवन की जटिल समस्याओं को सुलझाने का शास्त्रीय प्रयत्न किया था।

शुक्ल-परम्परा के निबन्धकार

शुक्लजी की परम्परा में उन निबन्धकारों का उल्लेख किया जा सकता है जो शैली और विचार की दृष्टि से तो उनसे नहीं मिलते; पर जो साहित्य को जीवन की अभिव्यक्ति मानते हैं। इनमें नन्ददुलारे वाजपेयी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, नगेन्द्र, रामविलास शर्मा, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, शिवदानसिंह चौहान आदि प्रमुख हैं। हजारीप्रसाद में एक विशेष सांस्कृतिकता और शास्त्रीयता के साथ-साथ विनोदप्रियता भी पाई जाती है। नगेन्द्र के निबन्धों में पाश्चात्य अनुशीलन की छाप है। रामविलास शर्मा की भाषा भावानुकूल, सरस और व्यंग्यपूर्ण होती है। भारतेन्दु-युग के उपरान्त इन्हीं के निबन्धों में मार्मिक व्यंग्य का विकसित रूप प्रथम बार दिखाई देता है। यहाँ शान्तिप्रिय द्विवेदी का उल्लेख भी महत्त्वपूर्ण है। उनकी प्रकृति आलोचक से अधिक निबन्धकार की थी। जो स्वच्छन्दता और संवेदनशीलता निबन्धकार के लिए अपेक्षित है, वह द्विवेदीजी में मौजूद थी। छायावाद के चारों प्रसिद्ध कवि—प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी—को साहित्यिक और आलोचनात्मक निबन्ध-लेखकों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। ये लेख फुटकर निबन्धों और पुस्तकों की भूमिकाओं के रूप में प्रकाशित हुए हैं। इनके कुछ निबन्धों को निबन्ध साहित्य की अमूल्य और शाश्वत निधि के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। प्रसाद और निराला के निबन्ध इनमें सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं।

निबन्ध का नवीन बहुमुखी विकसित रूप

भावात्मक शैली के निबन्धकारों में रायकृष्णदास, वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री, माखनलाल चतुर्वेदी आदि प्रसिद्ध हैं। यात्रा सम्बन्धी निबन्धों के लेखकों में स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, राहुल और देवेन्द्र सत्यार्थी प्रमुख हैं। श्रीराम

शर्मा के शिकार सम्बन्धी निबन्ध भी हिन्दी में अपने ढंग के अकेले हैं। जैनेन्द्र ने भी अनेक निबन्ध लिखे हैं, लेकिन वे दार्शनिकता की बोझिलता से नीरस हो उठे हैं। इनके अतिरिक्त सद्गुरुशरण अवस्थी, भगवतीचरणवर्मा, भदन्त आनन्द कौसल्यायन आदि ने भी कुछ सुन्दर निबन्ध लिखे हैं। इधर प्रभाकर माचवे, प्रकाशचन्द्र गुप्त, नामवरसिंह, रांगेय राघव, दिनकर, बच्चन आदि के भी विभिन्न प्रकार के साहित्यिक निबन्ध देखने में आए हैं। कमलेश के निबन्ध 'मैं इनसे मिला' नामक सीरीज में पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने के उपरान्त पुस्तकाकार रूप में भी आ चुके हैं। इधर कुबेरनाथ राय, विद्यानिवास मिश्र आदि के कुछ बहुत ही सुन्दर ललित निबन्ध प्रकाशित हुए हैं। हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, रवीन्द्रनाथ त्यागी, श्रीलाल शुक्ल, के० पी० सक्सेना आदि के हास्य-व्यंग्य प्रधान निबन्ध बहुत काफी लोकप्रिय होते जा रहे हैं। आज स्थिति यह है कि शुद्ध निबन्ध बहुत कम लिखे जा रहे हैं। अधिकांश निबन्ध साहित्यिक आलोचना के रूप में ही प्रकाशित हो रहे हैं। वस्तुत: एक स्वतन्त्र विधा के रूप में आजकल निबन्ध-साहित्य का विकास नहीं हो पा रहा है। अपवादस्वरूप कभी-कभी दो-चार सुन्दर निबन्ध देखने में अवश्य आ जाते हैं।

प्रश्न १०—हिन्दी-साहित्य में समालोचना का उद्भव और विकास दिखाते हुए बताइए कि आप किसको आधुनिक-युग का सर्वश्रेष्ठ समालोचक मानते हैं।

उत्तर—आधुनिक समालोचना की पृष्ठभूमि

हिन्दी-गद्य की अन्य विधाओं के समान आधुनिक समालोचना भी एक प्रकार से पाश्चात्य साहित्य की ही देन है। हिन्दी-साहित्य में समालोचना पहले-पहले केवल काव्य के गुण दोषों तक ही सीमित रही थी। यह श्रृंगार-काल के अन्तिम चरण तक लक्षण-ग्रन्थों के रूप में रस, अलंकार, छन्द, नायक एवं नायिका के विभिन्न भेदों की सूची-मात्र बनी रही। उसमें इन बातों की अत्यन्त स्थूल विवेचना की गई थी। यह आलोचना-पद्धति, साहित्य का अनुशासन करना तो दूर रहा, उसका मार्ग-निर्देशन भी न कर सकी। इसीलिए समालोचना के आधुनिक व्यापक दृष्टिकोण और परिभाषा के अनुसार इसे समालोचना नहीं कहा जा सकता। इस आलोचना में तो 'सूर-सूर, तुलसी ससी' अथवा 'तुलसी गंग दुवौ भये, सुकबिन के सरदार।' जैसे प्रशंसा-सूचक सूत्रों का प्रचार ही अधिक था। इसका दूसरा प्रकार टीकाओं के रूप में मिलता है। 'मानव' की विविध टीकाएँ और उसके विभिन्न अर्थों की परम्परा काफी

समय तक चलती रही। 'बिहारी-सतसई' की अनेक टीकाएँ लिखी गईं। शृङ्गार काल में प्रधान रूप से दो प्रकार की समीक्षा-पद्धति के दर्शन हुए—अलंकारवादी और रसवादी। केशव और उनके अन्य अनुयायी अलंकारों के विवेचन में दत्त-चित रहे। बिहारी, देव, मतिराम आदि ने रसों को प्रमुखता दी। इन दोनों में ही समीक्षा के स्थान पर अपने युग की काव्य धाराओं का आकलन करने की प्रवृत्ति ही प्रमुख थी। फिर भी इस काल के रीति-ग्रन्थों के रूप में काव्य-शास्त्र का पर्याप्त विकास हुआ था। उस युग में काव्यशास्त्र के ग्रन्थ नए कवियों को कविता करने की शिक्षा देने के प्रधान साधन थे। इसीलिए उन्हें समालोचना-सम्बन्धी ग्रन्थ माना जाना चाहिए, आधुनिक दृष्टि से भले ही उसे महत्त्व न दिया जाय।

भारतेन्दु-युग : आलोचना का नया रूप

भारतेन्दु-युग में आकर परिस्थिति बदल गई। हिन्दी-साहित्य के नवीन एवं बहुमुखी विकास ने आलोचना के स्वरूप और प्रकार में भी नये तत्त्वों का समावेश किया। साहित्य-विवेचन का स्तर अधिक बौद्धिक हो गया। गद्य में उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्धादि का लिखा जाना आरम्भ हो चुका था। अतः उनके विवेचन के लिए नये प्रतिमानों की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। साहित्यिक नवीनता के कारण इस युग की समीक्षा में किसी विशेष शास्त्रीय नियम का पालन नहीं हो रहा था। भिन्न-भिन्न समीक्षक अपनी-अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार रचनाओं के गुण-दोषों का उद्घाटन कर रहे थे। यह हिन्दी की नवीन प्रयोग-कालीन समीक्षा का स्वरूप था। इस समीक्षा के प्रवर्त्तक बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन', श्रीनिवासदास, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री आदि माने जाते हैं।

आलोचकों के दो वर्ग

लेखों के रूप में पुस्तकों की विस्तृत आलोचना 'प्रेमघन' ने अपनी 'आनन्द कादम्बिनी' नामक पत्रिका से प्रारम्भ की। उन्होंने श्रीनिवासदास के 'संयोगिता स्वयंवर' नाटक की बड़ी विशद और कड़ी आलोचना की। इस आलोचना में केवल दोष-दर्शन की प्रधानता थी। आलोचना का पुस्तक के रूप में आरम्भ महावीरप्रसाद द्विवेदी की 'हिन्दी कालिदास की आलोचना' से हुआ। द्विवेदी जी के समकालीन लेखकों में मिश्रबन्धु, पद्मसिंह शर्मा, कृष्णबिहारी मिश्र लाला भगवानदीन आदि ने रीतिकालीन साहित्य की विस्तृत समीक्षा में पूरा

योग दिया। द्विवेदी जी तथा आलोचकों के इस उपर्युक्त दूसरे वर्ग में बड़ा अन्तर था। द्विवेदीजी रीति-परम्परा के घोर विरोधी और नैतिकता के कट्टर पक्षपाती थे; परन्तु यह दूसरा वर्ग रीतिकालीन साहित्य को ही असली साहित्य मान उसी की विवेचना करने में लगा रहा था। तुलसीदास का महत्त्व हमने डाक्टर ग्रियर्सन से सीखा और जायसी का आचार्य शुक्ल से। यह दूसरा वर्ग बिहारी, केशव, पद्माकर और देव आदि को ही उत्कृष्ट कवि मान उनकी पूजा करता रहा। इस वर्ग के आलोचकों ने तुलसी, सूर, घनानन्द, मीरा, रसखान जैसे रस-सिद्ध कवियों की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। उस समय हिन्दी के साहित्यिक क्षेत्र में ऐसे आलोचकों की कमी नहीं थी, जिन्होंने 'बिहारी' की प्रतिद्वन्द्विता में 'देव' को तो ला खड़ा किया—पर कबीर, मीरा, रसखान, घनानन्द और जायसी के लिए मौन साधे रहे। सूर और तुलसी का तुलनात्मक-अध्ययन हो सकता है, यह उन्हें सूझा तक न था।

द्विवेदीयुगीन आलोचना

द्विवेदीजी ने निर्णयात्मक और परिचयात्मक समालोचना का सूत्रपात किया। उन्होंने स्व-रचित 'विक्रमांकदेव चरित चर्चा', 'नैषध चर्चा' में परिचयात्मक समालोचना और 'कालिदास की निरंकुशता' में निर्णयात्मक समालोचना के उदाहरण उपस्थित किये। इन आलोचनाओं में उन्होंने प्रधान रूप से भाषा तथा व्याकरण के व्यक्तिक्रम ही अधिक दिखाये। साथ ही उन्होंने सामाजिक आदर्शों को प्रधानता दी और प्राचीन कवियों की तुलना में भारतेन्दु और मैथिलीशरण गुप्त के काव्योत्थान की सराहना की। मिश्रबन्धु द्विवेदी-युग के दूसरे बड़े आलोचक थे। उन्होंने अपने 'हिन्दी नवरत्न' में श्रेष्ठता के अनुसार कवियों के स्थान निर्धारित किए। इस ग्रन्थ में भाषा, भाव और शैली की दृष्टि से हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ नौ कवियों की तुलनात्मक समालोचना की गई। आपने बिहारी से देव को श्रेष्ठ प्रमाणित किया। इसके कारण 'बिहारी बड़े कि देव'? नामक प्रसिद्ध साहित्यिक-विवाद उठ खड़ा हुआ। इस विवाद को लेकर पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी-सतसई' पर एक सुन्दर तुलनात्मक आलोचना लिखी। इसमें 'सतसई-परम्परा' का सुन्दर उद्घाटन किया गया। शर्मा जी शब्दों के अद्भुत शिल्पी और अभिव्यंजना-सौन्दर्य के परम पारखी थे। इसके उत्तर में कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' नामक पुस्तक लिखी। इस

आलोचना में तर्क और व्यक्तित्व की छाप रही। इसमें उन्होंने यद्यपि देव का पक्ष लिया, तथापि बिहारी के महत्त्व को पूर्णतया स्वीकार कर अपनी निष्पक्षता का भी परिचय दिया। इसके उत्तर में लाला भगवानदीन की 'बिहारी और देव' नामक पुस्तक निकली, जिसमें उन्होंने मिश्रबन्धुओं के भद्दे आक्षेपों का उत्तर देते हुए कृष्णबिहारी मिश्र की बातों पर भी विचार किया। इस आलोचना ने हिन्दी में तुलनात्मक समालोचना को जन्म दे समालोचना के क्षेत्र और दृष्टिकोण को विस्तृत बनाने में ऐतिहासिक भूमिका अदा की थी।

प्राच्य-पाश्चात्य-सिद्धान्त समन्वित आलोचना

इसी समय बाबू श्यामसुन्दरदास ने विश्वविद्यालयों की हिन्दी की उच्च कक्षाओं के लिए साहित्य-सिद्धान्त सम्बन्धी अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'साहित्यालोचन' लिखा। आपने तुलसीदास और भारतेन्दु पर भी गवेषणात्मक आलोचनाएँ लिखीं। इन आलोचनाओं में प्राच्य एवं पाश्चात्य समालोचना-सिद्धान्तों का सुन्दर समन्वय हुआ मिलता है। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने अपने 'विश्व-साहित्य' में पाश्चात्य काव्य-समीक्षकों के प्रचलित मतों का दिग्दर्शन कराते हुए यूरोपीय साहित्य का परिचय दिया। इसी समय हिन्दी आलोचना-क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का प्रवेश हुआ। इसके पूर्व हिन्दी-समीक्षा की आरम्भिक और नवचेतन अवस्था थी। शुक्लजी के आते ही इस क्षेत्र की कायापलट हो गई और उनकी पुष्ट और वैज्ञानिक समीक्षाओं द्वारा हिन्दी-समालोचना ने प्रौढ़ रूप धारण कर लिया।

आचार्य शुक्ल : युगान्तरकारी आलोचक

शुक्लजी ने रस और अलंकार का विवेचन कर उन्हें एक मनोवैज्ञानिक दीप्ति प्रदान की। उनके इस प्रयत्न से रस और अलंकार साहित्य से बहिष्कृत होने से बच गए। साहित्य को नवीन समस्याओं के विवेचन के लिए उन्होंने तुलसी, सूर और जायसी जैसे श्रेष्ठ कवियों को चुना और उनके श्रेष्ठ काव्य-सौन्दर्य के साथ रस और अलंकार का विवेचन कर रस-पद्धति को अपूर्व गौरव प्रदान किया। साथ ही उन्होंने काव्य की स्थापना ऐसी उच्च मानसिक भूमि पर की, कि लोग यह भूल गए कि रस और अलंकारों का दुरुपयोग भी हो सकता है। आपका भारतीय और पाश्चात्य साहित्य का अध्ययन गम्भीर और व्यापक था। आपने इन दोनों का समन्वय किया। साथ ही, आपने हिन्दी-साहित्य में कवियों की विशेषताओं और उनकी अन्तः वृत्तियों के उद्‌घाटन का

सर्वप्रथम सफल प्रयास किया। सूर, तुलसी और जायसी पर अत्यन्त पांडित्य पूर्ण विश्लेषणात्मक गम्भीर आलोचनाएँ लिखीं। ये आलोचनाएँ मार्मिक, स्पष्ट, विस्तृत अध्ययन और निर्भीक दृष्टिकोण से परिपूर्ण हैं। अपने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' में आपने इतिहास के साथ बड़े-बड़े कवियों की अंतरंग और बहिरंग विशेषताओं पर प्रकाश डाला। हिन्दी-साहित्य के सभी परवर्ती इतिहासों पर इसकी स्पष्ट छाप दिखाई देती है। ये आलोचनाएँ विवेचनात्मक या व्याख्यात्मक हैं तथा रुचि पर आधारित न होकर सर्वमान्य साहित्यिक सिद्धान्तों पर आधारित हैं। इस क्षेत्र में शुक्लजी ने जो कार्य किया, वह बड़ा ठोस, गम्भीर और सराहनीय है। कहीं-कहीं उन्हें बड़े निर्मम भाव से अपने निष्कर्ष देने पड़े हैं।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने शुक्लजी की इसी देन और महत्त्व को स्वीकार करते हुए लिखा था—"हिन्दी समीक्षा को शास्त्रीय और वैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठित करने में शुक्लजी ने युग-प्रवर्त्तक का कार्य किया। वह हिन्दी के इतिहास में सदैव स्मरणीय रहेगा।" अनेक आलोचकों ने शुक्लजी को न समझ कर उनकी कटु आलोचना की है; परन्तु इन आलोचनाओं को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है—जैसे एक निर्बल व्यक्ति किसी अत्यधिक सबल व्यक्ति पर आक्रमण करने का साहस तो करता है; परन्तु उसकी विशाल शक्ति का आभास पा—भयभीत हो, उसके सम्मुख नतमस्तक हो जाता है। शुक्लजी के उपरान्त हिन्दी में ऐसे प्रखर व्यक्तित्व के दर्शन अभी तक फिर नहीं हो सके।

काव्यशास्त्रीय प्रसिद्ध ग्रन्थ

'साहित्यालोचन' की प्रणाली पर बाद में अनेक ग्रन्थ निकले। इनमें नलिनी मोहन सान्याल का 'समालोचना तत्त्व'; लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' का 'काव्य में अभिव्यंजनावाद'; बाबू गुलाबराय का 'सिद्धान्त और अध्ययन', 'काव्य के रूप'; 'रामदहिन मिश्र का 'काव्य-दर्पण' आदि प्रसिद्ध हैं। इधर डा० त्रिगुणायत ने दो खण्डों में शास्त्रीय समीक्षा सम्बन्धी एक विशाल ग्रन्थ लिखा है और प्रोफेसर भगीरथ दीक्षित ने अपने 'काव्यालोक' में भारतीय और पाश्चात्य आलोचना-सिद्धान्तों का अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया है। डा० भगीरथ मिश्र का 'काव्यशास्त्र' भी इसी परम्परा का उल्लेखनीय ग्रन्थ है। साथ ही विभिन्न विद्वानों द्वारा विभिन्न कवियों-लेखकों पर भी समीक्षात्मक

ग्रन्थ लिखे गये हैं। इनमें 'गुप्तजी की काव्यधारा', 'महाकवि हरिऔध', 'प्रसाद की नाट्यकला', 'सुमित्रानन्दन पंत', 'महाप्राण निराला' आदि उल्लेखनीय हैं। 'केशव की काव्य-कला' में पंडित कृष्णशंकर शुक्ल ने अच्छा विद्वत्तापूर्ण अनुसंधान किया है। उनका 'कविवर रत्नाकर' भी सुन्दर ग्रन्थ है। रामकृष्ण शुक्ल ने 'सुकवि समीक्षा' में प्राचीन तथा समकालीन कवियों पर अच्छे समीक्षात्मक निबन्ध लिखे हैं।

शोध सम्बन्धी समीक्षात्मक कार्य

शुक्लजी के पश्चात् हिन्दी-समालोचना कई दिशाओं में आगे बढ़ी है। कितने ही नए समीक्षक इस क्षेत्र में आए हैं। हिन्दी के प्रमुख साहित्यकारों पर विचारपूर्ण निबन्ध और पुस्तकें लिखी जा रही हैं। प्राचीन साहित्य का अनुशीलन तथा शोध-सम्बन्धी कार्य भी हो रहा है। पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, राहुलजी आदि ने इस क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किया है। विश्वविद्यालयों में शोध का कार्य जारी है। शोध-प्रबन्धों में नवीन एवं प्राचीन साहित्य और साहित्यकारों पर अत्यन्त गवेषणापूर्ण सामग्री का उद्घाटन एवं आकलन किया जा रहा है। साथ ही हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्यकारों, रचनाओं तथा प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन हो रहा है। इतिहास को विभिन्न कालों में बाँटकर उसका विस्तृत अध्ययन करने का भी प्रयत्न हुआ है। एक-एक विषय पर अनेक लेखकों की पुस्तकें निकल रही हैं। इनमें अनेक महत्त्वपूर्ण हैं। इन आलोचकों में रामकुमार वर्मा, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, जगन्नाथप्रसाद शर्मा, माताप्रसाद गुप्त, लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, रामरतन भटनागर, सत्येन्द्र, शान्तिप्रिय द्विवेदी, राहुल, बड़थ्वाल, शिलीमुख, नन्ददुलारे वाजपेयी, नगेन्द्र, रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, रांगेय राघव आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इन सबकी कृतियों का यहाँ परिचय देना स्थानाभाव के कारण सम्भव नहीं है।

समीक्षा के बहुमुखी आयाम

पिछले तीन-चार दशकों से वादों या विशेष मतों की ओर प्रवृत्ति बढ़ती रही है, जिसके कारण हिन्दी-समीक्षा कई सम्प्रदायों में विभक्त हो गई है। डा० रामविलास शर्मा और शिवदानसिंह चौहान ने मार्क्सवादी विचार-पद्धति पर समीक्षाएँ लिखी हैं। दूसरी ओर इलाचन्द्र जोशी तथा नगेन्द्र मनोवैज्ञानिक प्रभाववादी समीक्षा को अपना कर चल रहे हैं। अमृतराय, प्रकाशचन्द्र गुप्त,

चंद्रबली सिंह, भगवतशरण उपाध्याय, नामवरसिंह आदि आलोचक अपनी बुद्धिवादी समीक्षा-पद्धति द्वारा आधुनिक साहित्य की गतिविधि का सूक्ष्म निरीक्षण-मनन करने में संलग्न हैं; परन्तु इन समस्त आलोचकों में अभी एक भी ऐसा नहीं दिखाई देता जो आचार्य शुक्ल के समान समस्त साहित्यिक गतिविधि पर अपना व्यापक प्रभाव डाल सका हो। आज लेखकों और कवियों की अपेक्षा हमारे साहित्य में आलोचकों की संख्या अधिक प्रतीत होती है। इस समय एक ऐसे प्रखर व्यक्तित्व-सम्पन्न आलोचक की आवश्यकता है, जो इस बिखरे हुए मण्डल को एकत्र कर साहित्य का उचित पथ-प्रदर्शन कर सके। वस्तुत: आज हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में मति-भ्रम की-सी स्थिति उत्पन्न हो उठी है। विचार-मन्थन निरन्तर चल रहा है, परन्तु अभी नई समीक्षा के ऐसे सर्व-मान्य मानदण्ड स्थापित नहीं हो पाए हैं जिनके आधार पर वर्तमान नई-नई प्रवृत्तियों से आक्रान्त नवीन साहित्य का सही मूल्यांकन किया जा सके।

प्रश्न ११—हिन्दी में गीति-काव्य का उद्भव और विकास दिखाते हुए आधुनिक हिन्दी गीति-काव्य पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

उत्तर—'गीति' से अभिप्राय

हिन्दी गीति-काव्य अपनी परम्परा के लिए संस्कृत-साहित्य का ऋणी है। संस्कृत गीति-काव्य का इतिहास वेदों से प्रारम्भ होता है। सामवेद गीतों का संग्रह है। 'गीति' का अर्थ ही यह है कि 'जो गाया हो'। स्वयं वेदों के गायकों ने वेदों को 'गीति' कहा है। वैदिक साहित्य के पश्चात् बौद्ध साहित्य की थेर गाथाओं का स्थान आता है। उनमें वैराग्य के प्रति हार्दिक राग और उत्साह मिलता है। वास्तव में 'गाथा' शब्द का अर्थ भी गीत ही है। वाल्मीकि-रामायण की गेय और पाठ्य—दोनों ही माना गया है। मेघदूत आदि की गणना भी इसके अन्तर्गत की जा सकती है।

जयदेव और विद्यापति

संस्कृत में गीति-काव्य का वास्तविक, सुसंस्कृत और उन्नत रूप गीत-गोविन्दकार जयदेव में मिलता है। इनके 'गीतगोविन्द' के छन्द राग-रागनियों में बँधे हुए हैं, जिनके सहयोग से कोमलकांत-पदावली द्वारा अत्यन्त सरस गीतों की रचना की गई है। जयदेव से यह परम्परा हिन्दी में विद्यापति को और बँगला में चंडीदास को मिली। विद्यापति के पदों में पद-लालित्य, सरस राग, हृदय का रस और उक्ति का वैचित्र्य—सभी कुछ है।

भक्तियुगीन गीति-काव्य

विद्यापति के उपरान्त हिन्दी गीति-काव्य के दर्शन सर्वप्रथम कबीर आदि संत-कवियों के काव्य में होते हैं। कबीर ने विरह-निवेदन के रूप में सुन्दर गीतों का सृजन किया। परन्तु इस परम्परा का सबसे गहरा प्रभाव सूर पर पड़ा। ब्रजभाषा में सूर आदि के पदों में गीति-काव्य का चरम विकास हुआ। मीरा ने गिरिधर गोपाल को अपना पति मानकर उनके प्रति सरस आत्म-निवेदन किया। मीरा के गीत आन्तरिक अनुभूति और पूर्ण तन्मयता से ओत-प्रोत हैं! तुलसी की 'विनय-पत्रिका' और 'गीतावली' के गीत भी अत्यन्त प्रसिद्ध हुए। उनकी तन्मयता और उल्लास अप्रतिम है। भक्तिकाल के उपरान्त शृंगार काल में आकर गीतों का विकास रुक गया। इस युग में मुक्तक काव्य तो प्रचुर मात्रा में रचा गया, परन्तु उसमें गीति-काव्य की आत्मा प्रस्फुटित न हो पाई। गीति की रचना के लिए जिस हार्दिक उल्लास और तन्मयता की अपेक्षा होती है, उसका इस युग में अभाव ही रहा।

आधुनिक युग : गीत का नवीन विकास

आधुनिक युग में भारतेन्दु-काल से पुनः गीति-काव्य का आरम्भ हुआ। भारतेन्दु एवं सत्यनारायण कविरत्न ने ब्रजभाषा की पद-शैली में राधा-कृष्ण की प्रेमानुभूति सम्बन्धी सुन्दर गीतों की रचना की। वियोगी हरि के गीत भी सुन्दर और मार्मिक बन पड़े हैं। यद्यपि इनके पहले भी गीतों की रचना होने लगी थी, किन्तु उनका पूर्ण विकास प्रसाद-युग में आकर हुआ। अतएव शुद्ध रूप में आधुनिक गीति-काव्य का आरम्भ प्रसाद-युग से ही मान सकते हैं। भारतेन्दु-युग और प्रसाद-युग का संधिकाल द्विवेदी-युग है। इस युग में वस्तु-तत्त्व और वर्णन-प्रणाली का ही प्राधान्य रहा। इस युग के गीतिकारों में श्रीधर पाठक और मैथिलीशरण गुप्त प्रधान हैं। गुप्तजी ने किसी स्वतन्त्र गीति-काव्य की रचना नहीं की है। उनके गीत उनके प्रबन्ध-काव्यों में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। उनके 'साकेत' और 'यशोधरा' के गीत साहित्य की अमूल्य निधि हैं। गुप्तजी ने गीतों की रचना काफी आगे चलकर छायावादी गीतों से प्रभावित होकर की थी। ठाकुर गोपालशरण सिंह की 'कादम्बिनी' के कतिपय गीत तथा शिवाधार पाण्डेय और मुकुटधर पाण्डेय के मुक्तक गीत सहृदयता से ओत-प्रोत हैं। द्विवेदी-युग के गीति-काव्य का प्रच्छन्न स्रोत छायावाद में आकर पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हुआ है।

छायावादी गीति-काव्य : नितान्त नया रूप

प्रसाद ने अपने नाटकीय गीतों के रूप में अत्यन्त सुन्दर गीत लिखे। "अरुण यह मधुमय देश हमारा"—गीत अपनी मधुरिमा और भाव-शबलता के लिए प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त भी प्रसाद ने स्फुट रूप में अनेक सुन्दर गीतों की रचना की थी। परन्तु, निराला और महादेवी ने गीत-काव्य के इस नवीन क्षेत्र में संगीत के प्राण फूँके। महादेवी की भाव-शबलता और तन्मयता उनके स्फुट गीतों के रूप में ही साकार हुई। गुप्त, प्रसाद, महादेवी, रामकुमार वर्मा, नवीन आदि के गीत, संगीत की भारतीय प्रणाली पर अवस्थित हैं। सूर, तुलसी और मीरा की गीति-शैली से उसमें विशेष भेद नहीं; किन्तु पन्त और निराला ने प्रचलित प्रणाली से भिन्न संगीत की सृष्टि की। बँगला में टैगोर-संस्थान ने जिस प्रकार गीति-काव्य में संगीत के नये प्रयोग किए, उसी प्रकार वह कार्य हिन्दी में पन्त और निराला ने किया। 'ज्योत्स्ना' के नाट्य-गीतों के बाद 'युगान्त' से पन्त की काव्यधारा बदल गई। उसमें एक कृत्रिम कला के दर्शन हुए। अत: गीति-काव्य के क्षेत्र में निराला और महादेवी के गीत ही धारावाहिक रूप से प्रकाशित होते रहे। निराला के अधिकांश गीतों में उनकी कला, अभिव्यक्ति के प्रति जितनी सचेष्ट है, उतनी ही अभिव्यक्ति के प्रति तन्मयता भी उनमें मिलती है। महादेवी के गीत सहज गतिशीलता, आत्म-विस्मृति, भाव-विदग्धता और संगीत में सर्वश्रेष्ठ हैं। करुणा का पुट उनके गीतों में एक विशेष आकर्षण उत्पन्न कर देता है।

इन छायावादी कवियों ने प्रकृति के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए अत्यन्त भावना-प्रवण गीतों का निर्माण किया है। प्रकृति को सचेतन रूप में देखने वाले कवियों में पन्त और महादेवी प्रमुख हैं। दिनकर, नवीन, अंचल, सुमन, नरेन्द्र आदि के गीतों में देश-प्रेम और नव-जागरण का स्वर प्रबल है। इनमें आवेश की प्रधानता है। प्रसाद और पन्त में आवेश के स्थान पर सांस्कृतिक एवं कोमल भावनाओं का ही प्रकाशन हुआ है, जो गीति-काव्य का सार है।

प्रकृति और नारी : नए रूप

हमारे छायावादी गीतों पर अंग्रेजी-कवियों, विशेषकर वर्डस्वर्थ, शेली, कीट्स, बायरन आदि का विशेष प्रभाव पड़ा। इस प्रभाव के फलस्वरूप मानवता एवं प्रकृति-प्रेम से सम्बन्धित गीतों का विकास हुआ; साथ ही नारी-प्रेम का समावेश भी इसी काल में हुआ। नारी के सौन्दर्य और प्रेम का चित्रण तो

पहले भी हुआ था; परन्तु उसमें प्रगीतात्मकता नहीं आ पायी थी। नारी के सौन्दर्य, स्वभाव. कोमलता, करुणा, शांति, सहनशीलता आदि गुणों की ओर संकेत करते हुए प्रेम की अभिव्यक्ति इस युग में हुई अवश्य, परन्तु प्रधान आकर्षण नारी के रूप-सौन्दर्य का ही रहा। इसी प्रकार प्रकृति को भी सजीव रूप में स्वीकार कर, उसका मानवीकरण नारी-रूप में कर उन्होंने उसके विभिन्न रूपों के बड़े मनोरम गीत गाए।

नवीन गीतिकाव्य : उज्ज्वल भविष्य

बच्चन की 'मधुशाला' एक भिन्न प्रकार की मस्ती और खुमारी से भरे गीतों को लेकर आई; परन्तु यह खुमार शीघ्र ही समाप्त हो गया। इसके पश्चात् उनके 'निशा-निमन्त्रण', 'एकान्त संगीत' आदि में सुन्दर, स्वस्थ, एवं संयत गीतों के दर्शन हुए। इनके अतिरिक्त उदयशंकर भट्ट, रमाशङ्कर शुक्ल, तारा पाण्डेय, नरेन्द्र, आरसी, केशरी, सुमन, सोहनलाल द्विवेदी, सुधीन्द्र, नेपाली, अंचल, नीरज, भारती, वीरेन्द्र मिश्र, रामकुमार चतुर्वेदी, घनश्याम अस्थाना, जगत प्रसाद चतुर्वेदी, सोम ठाकुर, शिवबहादुरसिंह भदौरिया अच्छे गीतकार हैं। इनमें सभी छायावादी नहीं हैं; युवक-वर्ग अधिकांशतः प्रगतिवादी है। प्रगतिवादी और छायावादी गीतों में प्रधान अन्तर यह है कि आज वासना अपने यथार्थ रूप में व्यक्त होने लगी है, जबकि छायावाद में उस पर कला का आवरण पड़ा था। आज के अधिकांश गीतों में कला का स्तर ऊँचा नहीं है। परन्तु इधर कुछ समय से 'नवगीत' के रूप में बड़े सुन्दर गीत लिखे जाने लगे हैं। इनमें भाव और कला दोनों ही क्षेत्रों में नवीनता, व्यापकता और प्रांजलता का विकास हो रहा है यह हिन्दी गीति-काव्य के उज्ज्वल भविष्य का सूचक है।

प्रश्न १२—हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का उद्‌भव और विकास दिखाते हुए एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

उत्तर—पत्र-पत्रिकाओं की दृष्टि से आज हिन्दी-भाषा समृद्ध मानी जाती है। भारत में सबसे पहला समाचार-पत्र २९ जनवरी, १७८० ई० में बंगाल में 'गजट ऑफ कैलकटा जनरल एडवाइजर' के नाम से अंग्रेजी में प्रकाशित हुआ था। इससे भी पूर्व मुगलों तथा मराठों के जमाने में हस्तलिखित समाचार-पत्र निकलते थे, जो सर्वथा दरबारी पत्र होते थे; जैसे—अखबाराते दरबारे मुअल्ला' तथा 'पुणें अख़बार'। इनमें राज-दरबारों के ही समाचार रहते थे। इन्हें आधुनिक अर्थ में 'अखबार' नहीं माना जा सकता है।

भारतीय भाषाओं के प्रथम समाचार-पत्र

भारतीय प्रादेशिक भाषाओं में सबसे पहला समाचार-पत्र बँगला भाषा में 'दिग्दर्शन' नाम से सन् १८१७ में सीरामपुर के पादरियों ने निकाला था। इसके उपरान्त १८२२ में गुजराती भाषा का 'श्री मुम्बई ना समाचार', फारसी-उर्दू में 'जामे जहाँनुमा', १८२६ में हिन्दी-भाषा का 'उदन्त मार्त्तण्ड', १८३२ में मराठी भाषा का 'दर्पण' नामक समाचार-पत्र प्रकाशित हुए। इनमें से आजकल केवल 'श्री मुम्बई ना समाचार' नामक पत्र ही जीवित है, अन्य सब समाप्त हो चुके हैं।

हिन्दी का प्रथम समाचार-पत्र : उदन्त मार्तण्ड

हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के क्रमिक विकास का इतिहास प्रस्तुत करने का सर्व प्रथम श्रेय बाबू राधाकृष्णदास को है। उन्होंने 'हिन्दी के सामाजिक पत्रों का इतिहास' नामक पुस्तक लिखकर इस दिशा में सबसे पहला कदम उठाया था। इसके उपरान्त बाबू बालमुकन्द गुप्त के विभिन्न लेखों द्वारा इस पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा। उपर्युक्त दोनों सूत्रों के आधार पर बहुत दिनों तक राजा शिव-प्रसाद सितारे हिन्द द्वारा प्रकाशित 'बनारस अखबार' (सन् १८४५) ही हिन्दी का सबसे पहला अखबार माना जाता रहा परन्तु बाद में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने, 'उदन्त मार्त्तण्ड' को हिन्दी का सबसे पहला समाचार-पत्र घोषित किया। इसका प्रकाशन ३० मई, १८२६ को कानपुर के जुगलकिशोर शुक्ल के सम्पादन में कलकत्ता से हुआ था। 'उदन्त मार्त्तण्ड' हिन्दी का सर्वप्रथम समाचार-पत्र था, यह तथ्य इस पत्र के प्रकाशक का 'इश्तिहार' शीर्षक से लिखे गए सम्पादकीय वक्तव्य द्वारा प्रमाणित होता है, जो इस प्रकार है—

"यह उदन्त मार्त्तण्ड अब पहले-पहल हिन्दुस्तानियों के हित के हेतु जो आज तक किसी ने नहीं चलाया पर अंग्रेजी ओ फारसी ओ बँगले में जो समाचार का कागज छपता है, उसका सुख बोलियों के जानने ओ पढ़ने वालों को ही होता है। इससे सत्य समाचार हिन्दुस्तानी लोग देखकर आप पढ़ ओ समझ लेय ओ पराई अपेक्षा न करें। अपने भाषा की उपज न छोड़ें इसलिए बड़े दयावान करुणा ओ गुणनि के निधान सबके कल्याण के विषय श्रीमान् गवरनर जेनेरल बहादुर की आयस से यह नया ठाठ ठाटा........।" यह वक्तव्य उस युग के खड़ीबोली-गद्य का नमूना है जो आज के गद्य से कितना भिन्न और अनगढ़ है।

इस पत्र में खड़ीबोली का उल्लेख 'मध्यदेशीय भाषा' के नाम से किया गया था। इस पत्र के कुल ७९ अंक ही निकल सके। ४ दिसम्बर, १८२७ को यह बन्द हो गया। इसके बन्द होने के कारण धनाभाव, ग्राहकाभाव और सरकारी सहायता का न मिलना था। उन दिनों सरकारी सहायता के बिना किसी भी पत्र का चलना असम्भव था। 'उदन्त मार्त्तण्ड' से पूर्व सन् १८१० में कलकत्ता से 'हिन्दुस्तान' नामक एक लीथो-पत्र निकला था, जो चल नहीं सका आश्चर्य इस बात का है कि हिन्दी के आरम्भिक समाचार-पत्र हिन्दी-भाषी प्रदेश से बाहर बँगला-भाषी कलकत्ता से प्रकाशित हुए थे। इसका कारण यह था कि कलकत्ता में रहने वाले मारवाड़ी व्यापारी हिन्दी-प्रेमी थे और वहाँ हिन्दी का प्रचार करना चाहते थे!

इतिहास

हिन्दी-पत्रों के विकास का अध्ययन करने के लिए उसके इतिहास को निम्नलिखित पांच कालों में विभाजित किया जा सकता है—

१. पूर्व भारतेन्दु-युग (सन् १८२६ से १८६७ तक)
२. भारतेन्दु-युग (सन् १८६८ से १८८५ तक)
३. उत्तर भारतेन्दु-युग (सन् १८८६ से १९०३ तक)
४. द्विवेदी-युग (सन् १९०४ से १९२० तक)
५. वर्तमान युग (सन् १९२१ से आज तक)

उपर्युक्त विकास का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित समाचार-पत्र

१. पूर्व भारतेन्दु-युग—इस युग में 'उदन्त मार्त्तण्ड' के उपरान्त ९ मई, १८२७ को राजा राममोहनराय के तत्त्वावधान एवं श्री नीलरतन हालदार के सम्पादन में कलकत्ता से 'बंगदूत' नामक साप्ताहिक-पत्र प्रकाशित हुआ। यह बँगला, हिन्दी और फारसी—तीन भाषाओं में प्रकाशित होता था। यह केवल ८२ दिवस का जीवन बिताकर समाप्त हो गया। इसके उपरान्त काशी से सन् १८४५ में, राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द ने 'बनारस अखबार' निकाला। इसकी भाषा में हिन्दी-उर्दू की बेमेल खिचड़ी रहती थी। सन् १८४६ में मौलवी नासुरुद्दीन के सम्पादन में 'मार्त्तण्ड' नामक एक पत्र हिन्दी, उर्दू, बँगला, फारसी और अंग्रेजी में एक साथ निकाला गया। सन् १८४६ में इन्दौर से 'मालवा अखबार' नामक एक साप्ताहिक पत्र हिन्दी-उर्द में एक साथ प्रकाशित हुआ।

एक ही समाचार-पत्र के कई-भाषाओं में एक साथ प्रकाशित होने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उस युग में, भारत में भाषा-द्वेष जैसी घृणित प्रवृत्ति को कोई जानता तक न था। उसे तो बाद में अंग्रेजों की कूटनीति ने जन्म दिया था। भिन्न-भिन्न भाषाओं में एक-साथ छपने वाले इन अखबारों का मूल उद्देश्य सम्पूर्ण भारत में नई सामाजिक-चेतना का प्रसार करना था।

भाषा-रूप निर्धारण के विभिन्न प्रयत्न

'बनारस अखबार' की उर्दू-प्रधान भाषा-नीति के विरोध में श्री तारामोहन मित्र के सम्पादन में बनारस से ही 'सुधाकर' का प्रकाशन किया गया। काशी के प्रसिद्ध ज्योतिर्विद महामहोपाध्याय स्वर्गीय पण्डित सुधाकर द्विवेदी का नाम-करण इसी पत्र के नाम पर किया गया था। इसके उपरान्त कलकत्ता से श्री जुगलकिशोर शुक्ल के सम्पादन में 'साम्यदण्ड मार्त्तण्ड', सन् १८५१ में सदा-सुखलाल के सम्पादन में 'बुद्धि प्रकाश' और सन् १८५२ में ग्वालियर से लक्ष्मणप्रसाद के सम्पादन में 'ग्वालियर गजट' का प्रकाशन आरम्भ हुआ। सन् १८५४ में कलकत्ता से श्यामसुन्दर सेन के सम्पादन में हिन्दी का सबसे पहला दैनिक 'समाचार सुधावर्षण' प्रकाशित हुआ। यह पत्र १८३८ तक निकलता रहा था। १८५४ से १८६० तक हिन्दी में किसी भी नवीन पत्र का प्रकाशन नहीं हुआ। क्योंकि उस समय अंग्रेज-सरकार हिन्दी का विरोध और उर्दू का समर्थन कर रही थी। १८६१ में पुनः हिन्दी के ६ पत्र निकले। इसी वर्ष आगरा से राजा लक्ष्मणसिंह ने 'प्रजा हितैषी' निकाला। 'सुधाकर' और 'प्रजा हितैषी' की भाषा नीति 'बनारस अखबार' की उर्दू-परस्त भाषा-नीति की विरोधिनी थी। उस समय अधिकांश पत्र आगरा से प्रकाशित होते थे, क्योंकि आगरा उन दिनों (और आज भी) शिक्षा का एक बड़ा केन्द्र था। सन् १८६५ में गुलाब शंकर के सम्पादन में 'तत्त्व-बोधिनी' का प्रकाशन हुआ।

अंग्रेज-सरकार की हिन्दी विरोधी नीति

साधारणतया उस युग में उर्दू पत्रों की ही भरमार थी। सरकार की हिन्दी-विरोधी नीति के कारण हिन्दी पत्रों की सरकारी सहायता नहीं मिलती थी अतः उनकी बिक्री कम हो पाती थी। दूसरी बात यह थी कि उस समय तक हिन्दी के पत्रकार भाषा-नीति के सम्बन्ध में कोई निश्चित रूपरेखा नहीं बना सके थे। उनके पत्रों की भाषा अस्थिर रहती थी तथा अर्थाभाव के कारण प्रकाशन अव्यवस्थित रहता था। समाचार भी ठीक ढंग और नियमित रूप से

नहीं प्रकाशित होते थे। इसलिए इस युग को हम हिन्दी-पत्रों का प्रयोग-काल कह सकते हैं। भारतेन्दु से पूर्व हिन्दी के समाचार-पत्रों का जन्म तो हो चुका था, पर अनुकूल वातावरण और सहायकों के अभाव के कारण वे पनप न सके।

हिन्दी पत्रकारिता का नया रूप : स्वच्छन्दता

२. **भारतेन्दु युग**—सन् १८६७ में भारतेन्दु ने 'कविवचन-सुधा' नामक मासिक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया। इसे हम हिन्दी का सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण पत्र कह सकते हैं। आरम्भ में इसमें केवल कविताएँ प्रकाशित होती थीं; परन्तु जब यह साप्ताहिक हो गया तो इसमें निबन्ध और समाचार भी छपने लगे। इसके अनुकरण पर 'हिन्दी बान्धव' आदि प्रकाशित हुए; परन्तु असफल रहे। १८७३ में भारतेन्दु ने 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' और 'बाला बोधिनी' तथा १८७४ में 'श्री हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' एवं 'स्त्रीजन की प्यारी' का प्रकाशन कराया। इन पत्रों में सरकार के विरुद्ध सैकड़ों लेख, कविताएँ और टिप्पणियाँ प्रकाशित होती थीं, जिनके कारण भारतेन्दु को अंग्रेज-सरकार का कोपभाजन बनना पड़ा था।

सन् १८७४ में लाला श्रीनिवासदास ने 'सदादर्श' का प्रकाशन किया तथा १८७६ में 'काशी पत्रिका' निकली। १८७७ का साल हिन्दी पत्रिकारिता के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण है। इस वर्ष बालकृष्ण भट्ट का 'हिन्दी प्रदीप', लाहौर से 'मित्र विलास' एवं पं० रुद्रदत्त शर्मा का 'भारत मित्र' नामक पत्र प्रकाशित हुए। 'हिन्दी प्रदीप' लगभग ३३ वर्ष चला था। इसके उपरान्त 'सार सुधानिधि', 'सज्जन कीर्ति सुधाकर', 'क्षत्रिय पत्रिका' और १८८१ में प्रेमधन की 'आनन्द कादम्बिनी' निकली थी। १८८१ में पं० प्रतापनारायण मिश्र का 'ब्राह्मण' निकला जो परिष्कृत भाषा एवं हास्य-व्यंग्य के कारण बहुत लोकप्रिय हुआ। १८८६ में हिन्दी के द्वितीय दैनिक पत्र 'हिन्दुस्तान' का प्रकाशन हुआ। इस प्रकार इस काल में असंख्य पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन हुए एवं उच्चकोटि के विद्वानों के सहयोग से हिन्दी पत्रकार-कला की खूब उन्नति हुई; फिर भी उसमें परिपक्वता आने में देर थी।

बहुमुखी विकास का युग

३. **उत्तर भारतेन्दु युग**—सन् १८८५ से लेकर १८८६ तक अनेक पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाश में आईं जिनमें 'काव्यामृत वर्षिनी' भारतोदय (दैनिक), राजस्थान समाचार, सुगृहिणी, भारत भगिनी' आदि उल्लेखनीय हैं। सन्

१८९१ में बूँदी से 'सर्वहित' प्रकाशित हुआ। यह पत्र भाषा, साहित्य, धर्म एवं समाज-विषयक सुन्दर सामग्री से परिपूर्ण रहता था। इसी वर्ष 'बंगवासी' प्रकाश में आया। सन् १८९३ में मिर्जापुर से प्रेमघनजी का 'नागरी-नीरद', १८९६ में बम्बई से 'वेंकटेश्वर समाचार' एवं आगरा से ठाकुर हनुमन्तसिंह के 'राजपूत' का प्रकाशन आरम्भ हुआ।

भारतेन्दु-युग और उत्तर भारतेन्दु-युग में ३००-३५० के लगभग पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हुई थीं। इनमें अधिकांश साप्ताहिक और मासिक थीं जिनमें निबन्ध उपन्यास कविता आदि प्रकाशित होती थीं। उस समय दैनिक-पत्रों की माँग अधिक नहीं थी। इन पत्रों ने जनता में जागृति फैलाने का काम किया। १८९५ में 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के प्रकाशन के साथ गम्भीर साहित्य-समीक्षा का आरम्भ हुआ। इस काल में हमारी पत्रकार-कला ने बहुमुखी विकास पाया। आरम्भिक युग के पत्र शिक्षा-प्रचार और धर्म-प्रचार तक ही सीमित थे; परन्तु इस काल के पत्रों में राजनीतिक, सामाजिक एवं साहित्यिक विचार-धाराओं का स्फुरण हुआ। आर्यसमाज, सनातन धर्म, ब्रह्मसमाज ईसाइयों आदि के भी अनेक प्रचारक पत्र इसी काल में प्रकाशित हुए। इन पत्रों का महत्त्व इस बात के लिए अधिक माना जा सकता है कि इन्होंने हिन्दी की गद्य शैली को पुष्ट करने एवं जनता में नवीन ज्योति भरने का सराहनीय कार्य किया था।

साहित्यिक दृष्टि से इस काल के पत्रों में हिन्दी-प्रदीप, ब्राह्मण, क्षत्रिय-पत्रिका, आनन्द कादम्बिनी, भारतेन्दु, नागरी-नीरद एवं साहित्य-सुधानिधि का विशेष महत्त्व है। राजनीतिक और समाचार देने की दृष्टि से भारतमित्र, सार सुधानिधि, हिन्दुस्तान, बंगवासी आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस काल के जैसे साहसी कर्मठ एवं जीवट पत्रकार हमें बीसवीं सदी में भी नहीं दिखाई पड़ते। आज भी हमारे पत्रकार उनसे बहुत-कुछ सीख सकते हैं।

आचार्य द्विवेदी और 'सरस्वती' का योगदान

४. द्विवेदी-युग—१९०२ में 'सरस्वती' मासिक-पत्रिका का प्रकाशन बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर एवं बाबू श्यामसुन्दरदास के सम्पादन में आरम्भ हुआ। इसके प्रकाशन के कुछ ही दिनों बाद इसका सम्पादन-भार महावीरप्रसाद द्विवेदी के सुदृढ़ कन्धों पर आ गया, जिन्होंने हिन्दी-पत्रिकारिता के क्षेत्र में युगान्तर उपस्थित किया। इस समय तक हिन्दी-लेखकों और पाठकों का एक प्रकार का अभाव-सा ही था। द्विवेदी जी ने पहले तो स्वयं ही लेखक का कार्य किया

और बाद में प्रेरणा एवं उत्साह प्रदान कर अनेक नये लेखक और कवि उत्पन्न किए। मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, प्रेमचन्द, निराला, गणेशशंकर विद्यार्थी जैसे साहित्यिक एवं पत्रकार आगे आये। इस काल में आकर हिन्दी-पत्रिकारिता के स्तर एवं स्वरूप में आशातीत परिवर्तन हो गया। उन्नीसवीं सदी की पत्रकारिता की विविधता और बहुरूपता का इसमें निखार और विकास हुआ। हिन्दी के प्रति जनता की रुचि बढ़ी। बीसवीं सदी तक आते-आते हिन्दी-पत्र धार्मिक और सामाजिक सुधार के क्षेत्र को छोड़कर साहित्यिक और राजनीतिक क्षेत्र में नेतृत्व करने लगे। भारतीय जीवन में उस समय तक राष्ट्रीय चेतना भली प्रकार विकसित हो चुकी थी। अतः हिन्दी के पत्र उस चेतना के अग्रदूत बनकर आगे बढ़े।

हिन्दी पत्र : राष्ट्रीय चेतना के ध्वजवाहक

१९०७ में 'अभ्युदय' का प्रकाशन हुआ, जो पहले साप्ताहिक था मगर आगे चलकर दैनिक हो गया। १९०७ में ही राष्ट्रीय दृष्टिकोण वाले 'कर्मयोगी' एवं १९११ में प्रसाद द्वारा अनुप्राणित साहित्यिक पत्र 'इन्दु' निकला। १९१३ में गणेशशंकर विद्यार्थी ने 'प्रताप' निकाला। प्रताप के आदर्श से प्रेरित होकर कर्मवीर स्वराज्य और नवशक्ति का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इन सभी पत्रों के नाम उस युग की राष्ट्रीय एवं विद्रोही भावना के प्रतीक हैं। १९१० में मूलचन्द अग्रवाल का दैनिक 'विश्वमित्र' तथा १९१५ में 'कलकत्ता समाचार' प्रकाशित हुए। हिन्दी-साहित्य सम्मेलन प्रयाग की मासिक-पत्रिका सम्मेलन-पत्रिका' का प्रकाशन १९१० से प्रारम्भ हो गया था।

'इन्दु' और 'सरस्वती' का महत्त्व

इसी काल में धारावाहिक उपन्यास-कहानी के रूप में कई पत्र प्रकाशित हुए जैसे—उपन्यास, हिन्दी-नाविल उपन्यास, लहरी उपन्यास सागर आदि। समालोचना के क्षेत्र में 'समालोचक' और ऐतिहासिक शोध से सम्बन्धित इतिहास नामक पत्र प्रकाशित हुए। इनका दृष्टिकोण अपने ही विषयों से सम्बन्धित रहने के कारण सीमित था। बहुमुखी दृष्टिकोण सरस्वती का सबसे अधिक था। 'सरस्वती' में साहित्य के साथ ही अन्य विषयों को भी प्रश्रय दिया जाता था। इसलिए वही सर्वाधिक लोकप्रिय हुई। प्रसाद के संरक्षण में इन्दु ने कथा, कविता और समीक्षा के क्षेत्र में नवीन दृष्टिकोण को प्रश्रय दिया। साहित्यिक चेतना की दृष्टि से इस युग का नेतृत्व 'सरस्वती' और इन्दु' के

हाथों में रहा। इन दोनों ने हिन्दी-पत्रकारिता को नई दिशा की ओर उन्मुख किया।

हिन्दी-पत्रकारिता के नये स्वर

५. वर्तमान-युग—१९२० के लगभग महात्मा गाँधी द्वारा भारत का राजनीतिक नेतृत्व ग्रहण करते ही देश में नव-जीवन की लहर दौड़ गई, जिसमें हिन्दी-पत्रकारिता ने भी करवट बदली। राष्ट्रीय चेतना और नवीन साहित्यिक चेतना का प्रचार इनका प्रधान उद्देश्य बना। इसी समय विश्वविद्यालयों में हिन्दी को सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। कांग्रेस ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित किया। नवीन मेधावी पत्रकारों के प्रयत्नों ने हिन्दी-पत्रकारिता का स्तर उन्नत किया, जिससे हिन्दी पत्रों के सम्मान एवं महत्त्व और प्रकाशन-संख्या में बृद्धि होने लगी। राष्ट्रीय आन्दोलन को श्रमिकों एवं ग्रामीणों तक पहुँचाने में इन पत्रों ने बहुत बड़ी सहायता पहुँचाई। इससे क्रुद्ध होकर सरकार ने इन पर भयंकर आघात किए; परन्तु हमारे पत्रकार कर्मठ राष्ट्रसेवी एवं निर्भीक साधक थे, अतः इस दमन से भयभीत नहीं हुए और निरन्तर देश भक्ति के स्वर को बुलन्द करते रहे।

महत्त्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाएँ

सन् १९२० में आगरा से दैनिक 'सैनिक' का प्रकाशन हुआ। सन् १९२१ में 'माधुरी' निकली, जिसके सम्पादन का भार समय-समय पर पं० कृष्णविहारी मिश्र, प्रेमचन्द, मातादीन शुक्ल जैसे साहित्य-मनीषियों ने सम्हाला। 'माधुरी' की लोकप्रियता से प्रभावित होकर 'महारथी', 'श्री शारदा', 'मनोरमा' आदि पत्रिकाएँ निकलीं। १९२३ में 'चाँद' प्रकाशित हुआ। इस मासिक-पत्र ने राष्ट्रीय उग्र विचारों के कारण बहुत प्रसिद्धि भी पाई और विदेशी-सरकार के भयंकर अत्याचार भी सहे। इसके 'मारवाड़ी अंक' से मारवाड़ी समाज रुष्ट हुआ। 'फाँसी अंक' सरकार के क्रोध का शिकार बना। बाद में महादेवी वर्मा के सम्पादन में यह महिलाओं का एकमात्र मुख-पत्र बन गया। इसके बाद 'समालोचक' और 'चित्रपट' निकले। १९२६ में 'कल्याण' का जन्म हुआ जो आज तक हिन्दी का सर्वप्रथम एवं एकमात्र प्रमुख धार्मिक पत्र रहा है। १९२७ में दुलारेलाल भार्गव ने 'सुधा' का प्रकाशन आरम्भ किया। इसके उपरान्त अनेक नवीन पत्रिकाओं का प्रकाशन होने लगा जो प्रधानतः साहित्यिक चेतना को उद्‌बुद्ध करने में प्रयत्नशील रहीं। इनमें क्रमशः विशाल भारत,

त्यागभूमि, हंस, विश्वमित्र, रूपाभ, साहित्य-सन्देश, कमला, जीवन-साहित्य, विश्व-भारती, संग्राम, नया साहित्य, पारिजात, हिमालय, साधना, आजकल, कल्पना, ज्ञानोदय, नया समाज, नया पथ, आलोचना आदि महत्त्वपूर्ण हैं। साहित्यिक विषयों के अतिरिक्त इनमें राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि विभिन्न सम-सामयिक समस्याओं पर भी लेखादि प्रकाशित होते रहे। हिन्दी के कई उच्चकोटि के उपन्यास, कहानियाँ, कविताएँ आदि पहले-पहल इन्हीं पत्रों में प्रकाशित होकर फिर पुस्तकाकार रूप में जनता के सम्मुख आये।

समालोचक : ऐतिहासिक महत्त्व की पत्रिका

कुछ वर्ष पहले प्रसिद्ध आलोचक डा० रामविलास शर्मा के सम्पादन में 'समालोचक' नामक एक नवीन आलोचनात्मक मासिक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ हुआ। इसने अपना पहला अंक, विशेषांक के रूप में, 'सौन्दर्य-शास्त्र' जैसे गहन एवं हिन्दी में उस समय तक अछूते समझे जाने वाले विषय पर निकाल कर हिन्दी-जगत में अपना प्रमुख स्थान बना लिया। इसका यह विशेषांक अपने विषय पर एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ के समान उपयोगी एवं लोकप्रिय प्रमाणित हुआ। दूसरे वर्ष इसके 'यथार्थवाद' विशेषांक ने भी पर्याप्त ख्याति पाई। परन्तु दुःख है कि इसका प्रकाशन भी बन्द हो गया। हिन्दी में 'समालोचक' नाम से तीन मासिक पत्र निकल चुके हैं। इनमें से एक भी अधिक समय तक नहीं चल सका।

हिन्दी-पत्रिकाओं के विभिन्न रूप

पिछले कुछ वर्षों से हिन्दी में छमाही एवं वार्षिक संकलन के रूप में कुछ नवीन परन्तु नितांत उपादेय पत्रिकाओं का प्रकाशन हो रहा था। इनमें निकष, संकेत, हंस, निष्ठा आदि नाम उल्लेखनीय हैं। इन नवीन प्रयासों को देखते हुए हिन्दी-पत्रकारिता का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल और महान् दिखाई देता है। अनेक अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों में भी अनेक पत्र-पत्रिकाएँ हिन्दी में प्रकाशित होने लगी हैं, जो हिन्दी का राष्ट्रभाषा के रूप में व्यापक प्रचार करने का प्रमुख साधन हैं। इनके अतिरिक्त अनेक लघु पत्र-पत्रिकाएँ काफी बड़ी संख्या में जन्म लेतीं और छोटा-सा जीवन बिताकर समाप्त हो जाती हैं। इनके माध्यम से साहित्यिक क्षेत्र में थोड़ी-सी हलचल होकर समाप्त हो जाती है। ग्राहकों का अभाव इन्हें पनपने नहीं देता।

ऐतिहासिक महत्त्व

हिन्दी-साहित्य के इतिहास का आलेखन तो इन पत्र-पत्रिकाओं के अभाव में नितांत असम्भव है। सामयिक साहित्यिक गतिविधियों एवं विचारधाराओं का जैसा सुसंगत एवं क्रमिक विकास इनके द्वारा उपलब्ध होता है, वैसा पुस्तकों द्वारा असम्भव है। इसलिए साहित्यिक इतिहास के निर्माण और विकास में सरस्वती, इन्दु, माधुरी, विशाल भारत, हंस, सुधा, रूपाभ आदि का महत्त्व निर्विवाद है। इनमें हमें विभिन्न युगों में रचित साहित्य का सक्रिय, सप्राण एवं गतिशील रूप मिलता है।

प्रमुख पत्र-पत्रिकाएँ

इस युग की राजनीतिक पत्र-पत्रिकाओं में कर्मवीर, सैनिक, स्वदेश, हिन्दू, पंच, जागरण, हिन्दी मिलाप, स्वराज्य, नवयुग, हरिजन-सेवक, विश्वबन्धु, नव-शक्ति, योगी, देवदूत, राष्ट्रीयता, लोकवाणी, हुंकार, संसार, सन्मार्ग, विप्लव और जनयुग आदि का विशेष महत्त्व है। ये विभिन्न राजनीतिक विचार-धाराओं का प्रतिनिधित्व करने वाली पत्र-पत्रिकाएँ रही हैं। इनमें उच्च कोटि की सम्पादन-कला के दर्शन होते हैं।

प्रमुख दैनिक पत्र

हिन्दी दैनिक पत्रों में 'आज' ने हिन्दी दैनिकों का उसी प्रकार पथ-प्रदर्शन किया है, जिस प्रकार 'सरस्वती' ने मासिकों का किया था। 'आज' और उसके सम्पादक स्वर्गीय बाबूराव विष्णुराव पराडकर का पत्रकारिता के क्षेत्र में वही स्थान और महत्त्व है जो साहित्यिक क्षेत्र में महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनकी 'सरस्वती' का है। 'आज' से प्रेरणा ग्रहण कर निकलने वाले हिन्दी दैनिकों में सैनिक, शक्ति, प्रताप, नवयुग, नवराष्ट्र, भारत, लोकमान्य, विश्वमित्र, नव-भारत, राष्ट्रवाणी, नया संसार, हिन्दुस्तान, जयहिन्द, सन्मार्ग आदि प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त कुछ दैनिक-पत्र अपना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान बनाए हुए हैं जो किसी से प्रभावित न होकर उनके अंग्रेजी संस्करणों के अनुवाद मात्र हैं। इनमें हिन्दुस्तान, अमृतपत्रिका, नवभारत टाइम्स, जनसत्ता, जनयुग विशेष प्रसिद्ध हैं। इनमें से जनसत्ता कुछ ही दिन चलकर बन्द हो गया। दैनिक पत्रकार-कला का विकास द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान विशेष रूप से हुआ था।

इनके अतिरिक्त प्रत्येक नगर में दो-चार स्थानीय दैनिक पत्र निकलते रहते हैं, जो स्थानीय जनता की माँग को पूरा करते रहते हैं।

साप्ताहिक और मासिक पत्र-पत्रिकाएँ

साप्ताहिक पत्रों में—आजकल, धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, पांचजन्य हिन्दी टाइम्स, दिनमान, रविवार आदि तथा अनेक पत्रों के साप्ताहिक संस्करण ही हैं। हिन्दी में साप्ताहिक पत्रों की संख्या तो काफी है, परन्तु उनमें से अधिकांश स्तर हीन और प्रकाशन-संख्या की दृष्टि से दरिद्र हैं। कुछ वर्ष पूर्व अंग्रेजी के प्रसिद्ध साप्ताहिक 'ब्लिट्ज' का हिन्दी संस्करण प्रकाशित होना प्रारम्भ हुआ है। नवीन मासिक पत्रिकाओं में अवन्तिका, आजकल, अजन्ता, कल्पना, नया पथ, नया समाज, सरिता, रानी, पाटल, प्रतीक, ज्ञानोदय, प्रभाकर, नई धारा, समाज, कहानी, नई कहानी, सारिका, कादम्बिनी, माध्यम आदि प्रमुख हैं। इनमें से अधिकांश अभी निकल रही हैं।

इस युग की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं को हम निम्नलिखित विषयों के अन्तर्गत विभाजित कर सकते हैं—

१. **धार्मिक एवं दार्शनिक**—दयानन्द सन्देश, दैनिक धर्म, आर्यजगत, आर्यावर्त, प्रेम-सन्देश, सन्मार्ग सिद्धान्त, जनवाणी, जैन जगत, जैन मित्र, धर्मदूत, भानूदय, अदिति, कल्पवृक्ष, गीताधर्म कल्याण, भारतीय संस्कृति, कबीर सन्देश, दादू सेवक और विवेक रश्मि आदि।

२. **ऐतिहासिक एवं शोध-सम्बन्धी**—इतिहास, नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, शोध-पत्रिका, हिन्दुस्तानी, भारत-विद्या, सम्मेलन पत्रिका आदि।

३. **साहित्यिक एवं शिक्षा सम्बन्धी**—जनवाणी, नया समाज, विश्ववाणी, हंस, सरस्वती, आलोचना, समालोचना, साहित्य-सन्देश, आँधी, कल्पना, माया पाटल, रानी, सरिता, सुकवि, दृष्टिकोण, माध्यम आदि।

४. **राजनीतिक**—अमर ज्योति, जीवन-साहित्य, युगधारा, मजदूर-आवाज, निर्भीक, संघर्ष, विप्लव, अरुणोदय, चेतना, किसान आदि।

५. **हास्यरस-प्रधान**—चाबुक, नोंक-झोंक, तरंग आदि।

६. **शिक्षा**—शिक्षा, नई तालीम, शिक्षक-बन्धु आदि।

७. **स्वास्थ्य**—आरोग्य, स्वास्थ्य-सुधा, जीवन-सखा, प्राकृतिक इलाज आदि।

८. **वैज्ञानिक**—विज्ञान, विज्ञान लोक आदि ।

९. **अर्थशास्त्र**—अर्थ सन्देश, उद्यम, व्यापार आदि ।

१०. **बालोपयोगी**—खिलौना, चमचम, शिशु, बालभारती, बालसखा, चन्दामामा, नन्दन, राजा भैया, बैताल की कथाएँ, पराग आदि ।

११. **स्त्रीयोपयोगी**—कन्या, जननी, जाग्रत महिला, दीदी, मनोरमा ।

१२. **कला, संगीत एवं रजतपट-सम्बन्धी**—कलानिधि, नृत्यकला, लेखक-संगी, सारंग, अभिनय, कौमुदी, रजतपट, सिनेमा, चित्रपट, रंगभूमि, हिन्दी-स्क्रीन, माधुरी आदि ।

१३. **कानून**—न्याय-बोध ।

उपर्युक्त पत्र-पत्रिकाओं में से कुछ बन्द भी हो गई हैं ।

हिन्दी-पत्रकारिता : बहुमुखी और समृद्ध

उपर्युक्त विवेचन एवं विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारी पत्रकार-कला साहित्य के अन्य अङ्गों के समान ही बहुमुखी और समृद्ध है । उसमें प्रधानतः हमारे मध्यवर्गीय समाज की सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक और राजनीतिक चेतना का क्रमिक इतिहास लिखा जाता रहा है । आज हिन्दी सरकार द्वारा राष्ट्रभाषा घोषित की जा चुकी है । कई राज्यों में वही एकमात्र राज्यभाषा भी है । इससे हिन्दी-पत्रकारिता को विशेष प्रोत्साहन मिला है जो उसे निरन्तर विकास के पथ पर आगे बढ़ने की प्रेरणा दे रहा है ।

प्रश्न १३—छायावाद और रहस्यवाद का इतिहास संक्षेप में लिखिए तथा उनके भविष्य के विषय में अपनी सम्मति दीजिए ।

उत्तर—रहस्यवाद का रूप

हिन्दी कविता में रहस्यवाद के दर्शन वैसे तो आरम्भिकयुगीन सिद्धों-नाथों की रचनाओं में ही होते हैं परन्तु स्पष्ट रूप में साहित्य में रहस्यवाद के दर्शन सर्वप्रथम भक्तिकाल में होते हैं । हिन्दी में कबीर और जायसी—रहस्यवाद के आदिकवि माने जाते हैं । आचार्य शुक्ल जायसी में शुद्ध भावात्मक रहस्यवाद के सर्वप्रथम दर्शन करते हैं और श्यामसुन्दरदास कबीर को हिन्दी का सर्वप्रथम रहस्यवादी कवि मानते हैं । शुक्लजी के शब्दों में—"जो चिन्तन के क्षेत्र में अद्वैतवाद है, वही भावना के क्षेत्र में रहस्यवाद है ।" बात यह है कि वैदिक ऋषि चिरकाल तक मनन करने के उपरान्त उपनिषद्-काल में इस सत्य पर

पहुँचे थे कि "संसार में ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है, परन्तु माया के कारण सांसारिक जन को उसके भिन्न-भिन्न रूप दिखाई देते हैं। द्वैत के अभाव की घोषणा करता हुआ जब यह सिद्धान्त एक ओर ब्रह्म तथा जीव की एकता तथा दूसरी ओर ब्रह्म तथा जगत की एकता स्थापित करने लगा तो इसका नाम सर्ववाद हो गया।" दार्शनिकों ने इस सत्य का उद्घाटन तर्कों एवं दृष्टान्तों द्वारा किया; परन्तु यह साधारण जनता के मस्तिष्क से परे की वस्तु थी, अतः यह कार्य अर्थात् जनता तक इस सत्य को सुगम और सहज रूप में पहुँचाने का कार्य, 'कान्ता-सम्मित उपदेश' देने वाले कवियों द्वारा सम्पादित हुआ।

मध्यकालीन रहस्यवाद

उपनिषदों के इस सर्ववाद के दर्शन हिन्दी-साहित्य में कहीं नहीं होते। यहाँ तो रहस्यवाद के रूप में अद्वैतवाद का फारसी रूप ही अधिक दिखाई देता है। सूफी रहस्यवाद, कबीर का रहस्यवाद तथा परवर्ती प्रेममार्गी कवियों का रहस्यवाद मूलतः भले ही एक रहा हो, पर बाह्य रूप में भिन्न ही है। सूफी-कवियों के रहस्यवाद का उत्कृष्ट एवं स्पष्ट रूप जायसी के 'पदमावत' में प्रकट हुआ। ब्रह्म तथा जीव को दाम्पत्य प्रेम में बद्ध दिखाकर उनका मिलन कराना इसकी विशेषता रही है, ऐसी कुछ विद्वानों की मान्यता है। कबीर का रहस्यवाद सूफियों से कुछ भिन्न है। उन्होंने सूफियों की केवल मनोरम शैली अपनाई है, सिद्धान्त नहीं। उनके रहस्यवाद में भारतीय अद्वैतवाद, इस्लामी एकेश्वर, वैष्णवों की भक्ति तथा अवतारवाद का विचित्र मिश्रण है। वे संसार में सर्वत्र उसी ब्रह्म का प्रकाश देखकर उसके प्रेम में निमग्न हो जाते हैं और, स्वयं के कथनानुसार, लम्बे वियोग के उपरान्त अपने प्रियतम से मिलकर एकाकार हो उठते हैं। भारतीय साहित्य में कबीर से पूर्व अव्यक्त और अशरीरी ब्रह्म के साथ प्रणय की भावना नहीं मिलती। कबीर के उपरान्त मीरा में इसके दर्शन होते हैं। उनकी भक्ति-भावना और संतों की रहस्य-साधना में कोई विशेष अन्तर नहीं है। फिर भी मीरां साकार-ब्रह्म-रूप कृष्ण की उपासिका होने के कारण निराकारोपासक सन्तों-सूफियों से भिन्न दिखाई पड़ती हैं। आराध्य की अलौकिकता के कारण ही उनमें रहस्यवाद की छाया मिलती है। तुलसी के भी "केशव कहि न जाय का कहिए" जैसे पदों में रहस्य-भावना मिल जाती है। सगुण भक्तों में स्पष्ट रूप से रहस्य-वाद के दर्शन नहीं होते। मीरा के अतिरिक्त शृंगार-कालीन कवियों में

ताज, रसखान, घनानन्द आदि में ही रहस्यात्मक उक्तियाँ मिलती हैं, परन्तु उनमें रहस्यवाद का आभास मात्र मिलता है। वास्तविक रहस्यवाद कबीर और जायसी के उपरान्त केवल आधुनिक कवियों में ही मिलता है। इन कवियों में प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी, राजकुमार वर्मा आदि प्रसिद्ध हैं। इनकी विचारधारा भारतीय होते हुए भी इनकी अभिव्यक्ति पर कवीन्द्र रवीन्द्र द्वारा अंग्रेजी के रहस्यवादी कवियों का अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है, ऐसी कुछ विद्वानों की मान्यता है। इनके इस रहस्यवाद में सूफियों की-सी मादकता न होकर भी उच्चकोटि की भावुकता मिलती है। मूल रूप से ये छायावादी कवि भारतीय रहस्यवादी चिन्तन से ही अधिक प्रभावित रहे हैं। उनमें उपनिषदों के सर्ववाद की भी झलक मिल जाती है।

छायावाद उद्भव और विकास

छायावाद वर्तमान युग की देन है। वर्तमान काल की संघर्षमयी परिस्थितियों से त्रस्त होकर पलायनवादी मनोवृत्ति वाले कवि एकान्त में बैठकर अपने सुख-दुःख के गीत गाने लगे। इस भावना के प्रथम दर्शन 'प्रसाद' में होते हैं। उनका 'झरना' छायावाद का प्रथम काव्य माना जाता है। उनके परवर्ती काव्य-संग्रहों 'आँसू' और 'लहर' में छायावाद के पुष्ट, परिष्कृत एवं उज्ज्वलतम रूप के दर्शन होते हैं। छायावाद 'कामायनी' का एकमात्र और आधुनिक युग का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है।

प्रसाद के उपरान्त मुकुटधर पाण्डेय, एक भारतीय आत्मा, नवीन, पन्त, निराला आदि ने सुन्दर छायावादी रचनाएँ लिखीं। इनमें से पन्त और निराला के काव्य द्वारा छायावाद में विशेष कलात्मकता आई। महादेवी वर्मा रामकुमार वर्मा, मोहनलाल महतो, नरेन्द्र शर्मा आदि में भी छायावादी प्रवृतियों के थोड़े-बहुत रूप में दर्शन हो जाते हैं! बच्चन के 'एकांत संगीत' और 'निशा निमन्त्रण' में कुछ सुन्दर छायावादी कविताओं का संग्रह मिल जाता है। गुरुभक्तसिंह, नेपाली, अंचल आदि ने भी छायावादी कथ्य और शैली से प्रभावित कविताएँ लिखी हैं।

दुरुपयोग

वर्तमान काल में रहस्यवाद और छायावाद का बहुत दुरुपयोग किया गया है। रहस्यवाद का सहारा लेकर अनेक कवि अत्यन्त रुढ़िग्रस्त भाषा के माध्यम से हृदयतंत्री के टूटे तारों के राग अलापने लगे हैं। वे सदैव कल्पना के लोक

में स्थित होकर किसी काल्पनिक प्रेयसी की याद कर ऐसी कविताएँ लिखते हैं, जिनका आशय पाठकों की समझ से प्राय: परे ही रहता है। उनमें वास्तविक अनुभूति तो होती नहीं; किन्तु अपनी दुरुह भाषा द्वारा वे उसे उत्पन्न करने का प्रयास अवश्य करते हैं। आधुनिक कवियों में वास्तविक रहस्यवाद के दर्शन केवल महादेवी वर्मा में होते हैं। छायावाद की उत्पत्ति के मूल में दो भावनाएँ प्रधान थीं—असफल प्रेम, जिसका कारण हमारा विषम सामाजिक विधि-विधान एवं साहस का अभाव तथा अर्थाभाव था। हमारे युवक संघर्ष से भयभीत होने के कारण अपनी इस प्रेम-भावना की तृप्ति कल्पना के स्वर्णिम स्वप्नलोक में करने लगे; परन्तु यह स्थिति कब तक चलती ? वास्तविक जीवन की कठोरता ने उनकी आँखें खोल दीं। उनकी यह पलायन-भावना उन्हें कभी स्थायी आनन्द न दे सकी; परन्तु ऊपर से दिखाई पड़ने वाली इस पलायन-भावना के मूल में संघर्ष की तीव्र भावना सक्रिय थी। कवि किसी विशेष मन:स्थिति में पलायन-भावना के आक्रान्त हो उठता था; परन्तु वह स्थिति क्षणिक ही रहती थी। छायावादी कवि जीवन में आनन्द खोजता और उसके लिए प्रयत्न करता था। परन्तु उसका यह खोजना इतना वायवी था कि उसके अभिव्यक्तिकरण में एक अपूर्व सौन्दर्य के साथ अस्पष्टता उत्पन्न हो जाती थी।

दोनों की निर्बलताएँ

रहस्यवाद और छायावाद की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि इनमें वास्तविक और व्यावहारिक जीवन का अभाव है। इनसे हमारी सांसारिक समस्याएँ नहीं सुलझतीं। ऐसी कविताएँ करने वाले कवि 'अनन्त अव्यक्त' के नाम पर जीवन के चिर सक्रिय और सतत् गतिशील रूप के प्रति उदासीन रहे हैं। इस कारण उनका वह प्रभाव अधिक काल तक स्थायी न रह सका। यथार्थ जीवन के प्रति इस निर्लिप्त दृष्टिकोण के कारण ही पन्त तथा निराला जैसे इसके प्रवर्त्तक भी इसे त्याग प्रगतिवादी बन गये थे। अब इस क्षेत्र में केवल महादेवी वर्मा ही शेष बची हैं, शेष सब इसकी निस्सारता का अनुभव कर प्रगतिवादी बन गये हैं। छायावाद का खुमार उतर चुका है। इसके पराभव का प्रधान कारण यह था कि उसकी विचारधारा अत्यन्त काल्पनिक, बौद्धिक एवं उच्च स्तर की थी, अत: वह जनसाधारण से परे थी। केवल 'स्वप्न' हमारी समस्याओं को सुलझाने में असमर्थ थे। इस संघर्षमय युग में हमारा काव्य हमारे

जीवन की अधिक दिनों तक उपेक्षा नहीं कर सका। इसलिए कुल २५ वर्ष का जीवन बिताकर छायावाद समाप्त हो गया। रहस्यवाद तो सदैव से रहा है और जब तक संसार पूर्ण वास्तविक नहीं हो जायगा, तब तक न्यूनाधिक मात्रा में बना रहेगा। वैसे, आज के युग में कोई भी इसकी वास्तविकता अनुभव नहीं करता। भावी संघर्ष के युग में तो इसके अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती। यह विशुद्ध वैयक्तिक दृष्टिकोण है।

प्रश्न १४—छायावाद की विस्तृत व्याख्या करते हुए एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

उत्तर—छायावाद : परिभाषा

विभिन्न विद्वानों द्वारा छायावाद की अब तक निम्नलिखित परिभाषाएँ निर्धारित की जा चुकी हैं—(१) जो समझ में न आए, उसे छायावाद कहते हैं। (२) रहस्यवाद का दूसरा नाम छायावाद है। (३) छायावाद—रहस्यवाद की प्रथम सीढ़ी है। (४) छायावाद लाक्षणिक प्रयोगों, प्रस्तुत विधानों और अमूर्त्त उपमानों को लेकर चलने वाली एक शैली है। (५) प्रकृति में मानवीय अथवा सूक्ष्म ईश्वरीय भावों के आरोप को ही छायावाद कहते हैं। (६) स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह ही छायावाद है। (७) यह यूरोपीय 'रोमांटिसिज्म' (स्वच्छन्दतावाद) का भारतीयकरण है आदि। मगर इन परिभाषाओं में से एक भी ऐसी नहीं जो छायावाद के वास्तविक रूप पर पूर्ण प्रकाश डाल सके। ये सभी एकांगी हैं। इनमें से अनेक के मूल में द्वेष की गन्ध है, न समझ पाने की विवशता है और एकांगी दृष्टिकोण की छाया है। न्यूनाधिक रूप में उपर्युक्त सभी लक्षण छायावाद में मिल जाते हैं। छायावाद में भारतीय परम्परा का नवीन विकास हो अथवा विदेशी प्रभाव; परन्तु इसकी विशेषताओं को लक्ष्य कर प्रसाद ने कहा था—"छायावाद भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करता है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचारवक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषताएँ हैं।" इसमें प्रसाद ने छायावाद के वेश-विन्यास पर ही प्रकाश डाला है।

छायावाद : व्यक्तिवादी सुन्दर काव्य

छायावाद अधिक काल तक नहीं चल सका। इसका कारण बताते हुए पंत ने लिखा था—"छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास भविष्य

के लिए उपयोगी नवीन आदर्शों का प्रकाश, नवीन भावना का सौन्दर्य-बोध और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रहकर केवल अलंकृत संगीत बन गया था।" महादेवी वर्मा के शब्दों में—"छायावाद ने कोई रुढ़िगत अध्यात्म, वर्तगत सिद्धान्तों का संचय न देकर हमें केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्मगत सौन्दर्य-कला की ओर जागरूक कर दिया था, इसी से उसे यथार्थ रूप में ग्रहण करना हमारे लिए कठिन हो गया।" आगे चलकर वे लिखती हैं—"इस युग का कवि हृदयवादी हो या बुद्धिवादी, स्वप्नद्रष्टा हो या यथार्थ का चित्रकार, अध्यात्म में बँधा हो या भौतिकता का अनुगत, उसके निकट यह एक मार्ग शेष है कि वह अध्ययन में मिली जीवन की चित्रशाला से बाहर, जड़-सिद्धान्तों का पाथेय छोड़कर अपनी सम्पूर्ण संवेदना शक्ति के साथ ही जीवन में घुल-मिल जाय। उसकी केवल व्यक्तिगत सुविधा-असुविधा आज गौण है, उसकी केवल व्यक्तिगत हार-जीत आज मूल्य नहीं रखती, क्योंकि उसके सारे व्यक्तिगत सत्य की आज समष्टिगत परीक्षा है।" पन्त और महादेवी के उपर्युक्त कथनों से यही ध्वनि निकलती है कि छायावाद मूलतः व्यक्तिवाद की कविता है, जो सुन्दर रूप वाली होती हुई भी जन-जीवन से पृथक् अतः निष्प्रयोजन होने के कारण ग्राह्य नहीं हो सकी। अपने 'व्यष्टिगत सत्य की समष्टिगत परीक्षा में छायावाद अनुत्तीर्ण रहा है।

अशक्त विद्रोह का काव्य

प्रथम विश्व-युद्ध ने भारतीय जनता में एक निराशा और क्षोभ की भावना उत्पन्न कर दी थी। फलस्वरूप कुछ नवयुवक समाज की उपेक्षा कर स्वयं में ही सीमित हो, व्यक्ति के सुख-दुःख के गीत गाने लगे। इन गीतों में प्रेम और सौन्दर्य का प्राधान्य तथा समाज की अवहेलना मुख्य रही। इसी से कुछ आलोचक छायावादी काव्य को रीतिकालीन श्रृङ्गार-परक काव्य का आधुनिक कलात्मक संस्करण मानते हैं। बीसवीं शताब्दी की द्वितीय दशाब्दी के उपरांत की हिन्दी-कविता जाति अथवा महत्त्वपूर्ण आदर्श या उपास्य व्यक्तियों के सुख-दुःख की नहीं; वरन् व्यक्ति के सुख-दुःख की कहानी बनकर रह गयी। विषय-वस्तु के लिए कवि बाहर नहीं अपने मन के भीतर झाँकता रहा। इस व्यष्टि-गत जीवन-दर्शन की मूल-प्रेरणा के लिए तत्कालीन परिस्थितियाँ पूर्णरूप से उत्तरदायी थीं। प्रथम महायुद्ध ने विश्वव्यापी रूप से, कलाकारों की चेतना को बहिर्जगत की संत्रस्तता के कारण अन्तर्मुखी बना दिया था। बहिर्जगत की

निराशा और रिक्तता से त्रस्त होकर कलाकार अपने अन्तर्जगत में ही अपने सन्तोष के उपकरण ढूँढ़ने लगा था। इसने उसकी संवेदना पर अनायास ही वैयक्तिकता का गहरा रंग चढ़ा दिया था और उसकी कल्पना बौद्धिकता के रंग में सराबोर हो उठी थी। तत्कालीन भारतीय जीवन के सामाजिक-सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनीतिक क्षेत्र में जो नवीन जागृति हो रही थी, वह समसामयिक विषम परिस्थितियों के कारण स्तब्ध-सी रह गई। इस असंतुलन के कारण कवियों के अन्तर्जगत में व्याप्त अतृप्ति, अवसाद और वस्तु-जगत् की उपेक्षा की भावना इस युग की कविता में व्यक्त हुई। उसमें वस्तु और विधान —दोनों दृष्टियों से, रूढ़ि और परम्परा के विरुद्ध विद्रोह का भाव छिपा हुआ था। इन नए कवियों ने अपने इस विद्रोह को भाषा, कला और सौन्दर्य शास्त्र के क्षेत्र में ही प्रकट कर हिन्दी-भाषा और उसकी कविता को एक सर्वथा नया रूप प्रदान कर दिया। इसलिये यह कहा गया कि द्विवेदी-युग की सभी साहित्यिक मान्यताओं को ध्वस्त करके एक सर्वथा नूतन शैली, एक नवीन दृष्टिकोण उपस्थित करने में छायावाद पूर्णतया सफल हो सका। इस नवीन साहित्यिक क्रान्ति के मूल कारणों में अंग्रेजी साहित्य की रोमांटिक कविता का विशेष हाथ रहा। हिन्दी कवियों ने अंग्रेजी के रोमान्टिक कवियों के काव्य में अपनी मानसिक दशा और भावनाओं का प्रतिबिम्ब देखकर उनसे पर्याप्त प्रेरणा ग्रहण की।

विशेषताएँ और देन

छायावादी काव्य के प्रथम पाँच वर्ष (१९२०-२५) बहुत ही विवादग्रस्त रहे, क्योंकि यह उसका प्रयोगकाल था। यह काव्य कथ्य और भाषा-शैली के क्षेत्र में नया दर्प और नई उत्तेजना लेकर उपस्थित हुआ था। नए विषय और नई शैली, नए छन्द और नई उक्तियाँ, शब्दों का नया चयन, नया पद-विन्यास बन्धहीन स्वच्छन्द प्रवाह, बँगला, अंग्रेजी और संस्कृत से प्रभावित नया स्वरूप, और सर्वोपरि यह सत्य कि कला व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति और प्रसार देने का ही एक साधन है—इन सब कारणों से काव्य-जगत में एक बवण्डर-सा उठ खड़ा हुआ। इसमें सब कुछ नया था। इस नवीनता से भयभीत एवं काव्य-हत्या के डर से संत्रस्त द्विवेदीजी और उनके नये-पुराने सभी सहयोगियों ने एक स्वर से इसका विरोध करना आरम्भ कर दिया; परन्तु इस नवीन काव्य के प्रवर्त्तक कर्मठ और दिग्गज विद्वान् थे। उन्होंने इस विरोध का

समुचित उत्तर दिया। छायावाद प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी का संरक्षण और साहचर्य पाकर फूलता-फलता रहा; और एक दिन वह आया जब द्विवेदी जी द्वारा संस्थापित साहित्यिक मर्यादाओं का अस्थि-विसर्जन कर दिया गया। यह नवीन युग की प्रतिगामी रूढ़ियों पर विजय थी। छायावाद ने हिन्दी-कविता को यदि कोई अन्य ठोस वस्तु नहीं दी तो कम-से-कम इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उसने आधुनिक हिन्दी-काव्य और भाषा को एक नवीन शक्ति, सजीवता और सौन्दर्य-बोध प्रदान किया।

छायावादी काव्य का विकास

१९२५-३० के बीच छायावादी हिन्दी-कविता पकने और सधने लगी। इसे देखकर स्वर्गीय आचार्य शुक्ल जैसे कठोर मर्यादावादी आलोचक को भी मानना पड़ा था कि, "छायावाद की शाखा के भीतर धीरे-धीरे काव्य-शैली का अच्छा विकास हुआ, इसमें सन्देह नहीं। उसमें भावावेश की आकुल व्यंजना लाक्षणिक वैचित्र्य, मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण, भाषा की वक्रता, विरोध-चमत्कार, कोमल पद-विन्यास—इत्यादि काव्य का स्वरूप संगठित करने वाली प्रचुर सामग्री दिखाई पड़ी।" प्रसाद के आँसू, झरना में; पंत के वीणा, पल्लव और गुञ्जन में; महादेवी के नीहार, रश्मि, नीरजा और दीपशिखा में; निराला के अनामिका, परिमल, गीतिका आदि रचनाओं में छायावाद के सुन्दरतम् रूप के दर्शन हुए। इस सम्पूर्ण काव्य के अध्ययन के उपरान्त एक बात स्पष्ट हो जाती है कि इस काव्य में कोई ऐसी वस्तु नहीं थी, जो हृदय या मस्तिष्क पर स्थायी प्रभाव डाल सकती। इसकी अन्तर्मुखी चेतना इतनी गहन और कुण्ठित थी कि बहिर्जगत के प्रति वह सर्वथा निष्क्रिय रह गयी। इसमें उद्वेग तो था, किन्तु प्रतिरोध और सक्रियता का अभाव था, अतृप्ति तो थी किन्तु स्वस्थ सृजनात्मक शक्ति की कमी थी। इसी से वह कुछ काल तक जीवित रहकर समाप्त हो गया। समाज से असम्पृक्त-सा छायावाद का सूक्ष्म वायवी रूप ही उसकी मृत्यु का असल कारण बन गया।

यहाँ तक हमने छायावाद की मूल प्रेरणाओं, उसकी उद्भावना, विकास और उसकी परिणति पर प्रकाश डालकर उसकी रूपरेखा समझने का प्रयास किया है। अब उसकी अंतरंग और बहिरंग परीक्षा भी कर लेना श्रेयस्कर है। पहले हम बहिरंग को लेंगे।

छायावादी-शैली : विश्लेषण

छायावाद में एक नवीन अभिव्यंजना-पद्धति का निर्माण हुआ जिसे 'चित्र-भाषा पद्धति' अथवा 'बिम्ब-विधान पद्धति' भी कहा जा सकता है। इसमें अत्यन्त अल्प-सादृश्य के आधार पर, आंतरिक प्रभाव साम्य को लेकर, अप्रस्तुत एवं अपरिज्ञात वस्तुओं को प्रस्तुत किया जाता है। ऐसे अप्रस्तुत उपादान प्रतीकों द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं। इसी से इस काव्य की भाषा को 'प्रतीक-प्रधान-भाषा' भी कहते हैं। इसका कारण यह था कि छायावादी कवियों को परम्परागत खड़ीबोली का रूप नवीन अभिव्यक्ति को मूर्त्त रूप देने में नितांत जड़ और कुण्ठित जान पड़ा। इसीलिए उन कवियों ने अपनी सूक्ष्म भावाभि-व्यक्ति के लिए तो नवीन-शब्द-योजना प्रस्तुत की ही, साथ ही परम्परागत शब्दावली के बाह्य समानार्थक शब्दों को भी नवीन भाव-चित्रों मे समन्वित कर उन्हें सर्वथा नए अर्थ प्रदान किए। उन्हें 'हिलोर' में उठान, 'लहर' में सलिल के वक्षस्थल का कोमल स्पंदन और 'ऊर्मि' में मधुर-मुखरित हिलोरों की ध्वनि सुनाई पड़ने लगी। इस प्रकार शब्दों की वृत्तियों और शक्तियों को विस्तृत कर भिन्न-भिन्न भावाभिव्यक्ति के उपयुक्त जो शब्दावली प्रस्तुत की गई, उसने हिन्दी-भाषा की शक्ति और सौन्दर्य को कई गुना बढ़ा दिया। परन्तु इसमें एक दोष भी था। यह अतिशय बौद्धिक थी। इसके भावचित्र अधिकांशतः बुद्धि-प्रधान रहने के कारण उनमें अनुभूति की गहन तरलता बहुत कम मिलती है। इसी से इसमें अस्पष्टता आई। साधारण पाठक के लिए वह दुरूह होने के कारण सहज-संवेद्य नहीं बन सकी। अतिशय बौद्धिकता और अपरिचित प्रतीक-विधान द्वारा भावचित्रों के स्पष्टीकरण के प्रयास नें छायावाद में अस्पष्टता एवं दुरूहता उत्पन्न कर दी।

नवीन छन्द-योजना

काव्य-भाषा और शब्द-योजना के अतिरिक्त इस काव्य ने नई छन्द-योजना भी प्रस्तुत कर छन्द के विभिन्न प्रयोग किए। छायावादी कवि छन्द-योजना में अन्तर्निहित क़लात्मकता की शक्ति को पूर्ण रूप से पहचानते थे। इसलिए उन्होंने परम्परागत मात्रिक छन्द-योजना और वर्णवृत्त की कठोर नियम-वक्रता की उपेक्षा कर नये प्रयोग किये। इस क्षेत्र में पंत ने शब्द-चयन में सूक्ष्म कलात्मकता का परिचय दिया और निराला ने छन्द-योजना के सर्वाधिक नवीन रूपों की सृष्टि की। पंत का मत है—"छन्द का राग भाषा के राग पर निर्भर करता

है। दोनों में स्वरैक्य होना चाहिए। जहाँ दोनों में मैत्री नहीं रहती, वहाँ छन्द अपना स्वर खो बैठता है।" निराला की संगीत की शास्त्रीय रीति से बँधी हुई गीति-काव्यात्मक छन्द-योजना और स्वच्छन्द भावातिरेक ने 'मुक्त वृत्त-योजना' का श्रीगणेश किया। महादेवी वर्मा की छन्द-योजना तो स्वभावतः रागिनी-प्रधान, अतः कोमल है। इस प्रकार छायावादी छन्द-योजना में लयात्मक ऐक्य के आधार पर 'मुक्त छन्द' की उद्भावना हो सकी।

गीतात्मक रूप की प्रधानता

स्वरूप-विधान की दृष्टि से यह काव्य प्रधानतः गीतात्मक रहा; परन्तु यह लोक-जीवन से विच्छिन्न था। इसी कारण सूर का गीत—"निस दिन बरसत नैन हमारे"—आज भी हमारी आँखों में सावन-भादों उमड़ा देता है; परन्तु महादेवी का—"नीर भरी दुःख की बदली"—हमारी संवेदना को केवल उकसा-कर रह जाता है। अस्तु, इस काव्य ने हमें सर्वथा अभिनन्दनीय दो वस्तुएँ प्रदान कीं—गीति-प्रबन्ध और मुक्तवृत्त-प्रबन्ध। ये नवीन प्रयोग थे। गीति-प्रबन्ध की सर्वश्रेष्ठ रचना 'कामायनी' है। यह रूप इतना आकर्षक था कि मैथिलीशरण गुप्त भी 'साकेत' और 'यशोधरा' में इसे अपनाने का लोभ संवरण न कर सके।

अन्तर्मुखी जीवन-दर्शन

छायावाद के अंतरंग में हमें तीव्र अतृप्ति और असंतोष मिलता है। ये कवि वहिर्जगत की भीषणता से त्रस्त हो, उससे एक तटस्थता का-सा भाव रखकर अपने कल्पना-लोक में जा बैठे थे। परन्तु अन्तर्जगत का यह सीमित क्षेत्र भी उन्हें संतोष न दे सका। उन्होंने अपनी शांत विह्वलता का रूप प्रकृति के उन्मुक्त रूप में देखा। प्रकृति उनके लिए संवेदनशील बनकर आई। उन्होंने प्रकृति में अपनी अतृप्ति और अवसाद, करुणा और वेदना, रोमांस और रहस्य भावना के दर्शन किये। इस अंतर्मुखी जीवन-दर्शन के कारण ही इस काव्य में अन्विति का अभाव दिखाई पड़ा। यह जीवन-संघर्ष से पलायन की भावना के कारण था। परन्तु यह भी सत्य है कि छायावाद की इस प्रवृत्ति ने हमें स्वस्थ-सृजनात्मक जीवन-दर्शन भले ही न दिया, किन्तु उसके हमारी मौलिक विद्रोह-भावना को उत्तेजना अवश्य दी थी।

भावनात्मक दृष्टिकोण का प्राधान्य

छायावाद ने प्रकृति को विराट सजीव सौन्दर्य-सत्ता के रूप में स्वीकार

किया। यही भावना आगे चलकर रहस्यवाद के रूप में प्रस्फुटित हुई। इस रहस्यवाद में न तो साधनात्मक रहस्यवाद की कठोरता है और न मध्ययुग के ज्ञानात्मक रहस्यवाद का-सा बोझीलापन। प्रसाद के शब्दों में छायावादी रहस्यवाद, "अपरोक्ष अनुभूति, सरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा 'अहं का इदं' से समन्वय कराने का सुन्दर प्रयत्न है।" कामायनी में यह भावना स्पष्ट हुई है। साधारण छायावादी रचनाएँ इस उच्च धरातल को स्पर्श नहीं कर पातीं। समष्टि रूप से, जीवन के प्रति छायावाद का दृष्टिकोण वैज्ञानिक न होकर, भावनात्मक ही अधिक रहा। इसीलिए वह निष्क्रिय भी रहा। यही उसकी सबसे बड़ी दुर्बलता थी, और यही उसकी समाप्ति का कारण भी।

प्रश्न १५—प्रगतिवाद की विशेषताओं का विश्लेषण करते हुए, उसके उद्भव और विकास पर संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

उत्तर—प्रगतिवाद : विशिष्ट अर्थ

छायावाद की विवेचना करते हुए हम कह आये हैं कि उसका व्यक्तिवादी दृष्टिकोण उसके ह्रास एवं पतन का प्रधान कारण था। महादेवी वर्मा के अनुसार वह 'व्यक्तिगत सत्य की समष्टिगत परीक्षा' में अनुत्तीर्ण रहा था। प्रगतिवाद इसी व्यक्तिपरक दृष्टिकोण और भावना की अवहेलना कर व्यक्ति के सामाजिक सामूहिक स्वरूप को लेकर आगे बढ़ा। छायावाद में द्विवेदी युग के अतिशय स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह था, तो प्रगतिवाद में अतिशय छायावादी सूक्ष्म के प्रति पुनः स्थूल का विद्रोह दिखाई दिया। 'प्रगति' का साधारण अर्थ आगे बढ़ना अथवा उन्नति करना है। इस दृष्टि से प्रत्येक युग के साहित्य ने किसी न किसी रूप में प्रगति अवश्य की है। कबीर, तुलसी आदि सभी प्रगतिशील थे। उसमें प्राचीन के प्रति विद्रोह एवं प्राचीन और नवीन के समन्वय की भावना थी; परन्तु आज साहित्य में 'प्रगतिवाद' शब्द से केवल प्रगति का ही अर्थ न लेकर एक विशिष्ट राजनीतिक विचारधारा से प्रभावित साहित्य से लिया जाता है, जिसका मूलाधार मार्क्सवादी दृष्टिकोण है। अतः प्रगतिवाद को समझने के लिए पहले मार्क्सवाद एवं प्रगतिवाद पर पड़े हुए अन्य प्रभावों और वादों को समझ लेना आवश्यक है।

मूलाधार : मार्क्सवादी दर्शन

प्रगतिवाद साहित्य का दार्शनिक आधार प्रधान रूप से मार्क्सवाद है। मार्क्सवाद का दार्शनिक सिद्धान्त **'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद'** के नाम से विख्यात

है। मार्क्स के अनुसार सृष्टि में दो तत्त्व प्रधान हैं—स्वीकारात्मक (Positive) और नकारात्मक (Negative)। इन्हीं दोनों तत्त्वों के संघर्ष का नाम ही जीवन है। इन्हीं के पारस्परिक संघर्ष से चेतना उत्पन्न होती है। इस चेतना का आधार 'भूत' (Matter) है और चेतना 'द्वन्द्व' का परिणाम है। इसी कारण इसे 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' कहा जाता है। ऐतिहासिक क्रम में इसी द्वन्द्व का निरीक्षण और परीक्षण 'ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' कहलाता है। मार्क्स का विश्वास था कि सृष्टि अपने जन्म से निरन्तर विकासमान है। इस विकास के मूल में अनादिकाल से प्रगतिवादी और प्रतिक्रियावादी तत्त्वों का पारस्परिक संघर्ष कार्य कर रहा है। प्रगतिवादी तत्त्वों की विजय के साथ-साथ विश्व निरन्तर विकसित होता रहता है। अभी तक संसार के अन्य दर्शनों का प्रधान कार्य—जीवन और जगत को समझ उनकी भिन्न-भिन्न व्याख्या करना, उनके आभ्यन्तरिक सूत्र का आविष्कार करना आदि था। लेकिन मार्क्सवाद के सम्मुख दुनिया को केवल जानने की ही नहीं, बल्कि उसे बदल डालने की समस्या है। वह वर्तमान सामाजिक असन्तोष, शोषण, विषमता आदि के मूल कारणों का उन्मूलन कर विश्व का पुनर्निर्माण करना चाहता है। मार्क्सवाद की दृष्टि में संसार के समुचित विकास में सबसे बड़ा रोड़ा पूँजीवाद है। अतः इस पूँजीवाद द्वारा उत्पन्न आर्थिक वैषम्य को दूर कर साम्यवाद की स्थापना करने से ही विषमता का नाश हो सकता है। ईश्वर और धर्म की भावना, जो मनुष्य के लिए अफीम के समान उसकी चेतना को सुला देने वाली है, यदि इस प्रगति में बाधक बनती है, तो उसका भी मूलोच्छेदन करना उचित है। इसी कारण मार्क्सवाद धर्म और ईश्वर के रूप का विरोधी है। मार्क्सवाद का चरम उद्देश्य—सर्वहारा शोषित वर्ग के शोषण को समाप्त कर एक ऐसे वर्गहीन समाज की स्थापना करना है, जिसमें सब समान होंगे, न स्वामी न सेवक, न शोषक न शोषित, न बड़ा न छोटा। इसके अनुसार समाज की उन्नति-अवनति उसकी आर्थिक व्यवस्था पर निर्भर करती है। सामाजिक विषमता का प्रधान कारण—अर्थ का असमान विभाजन ही है। मार्क्सवाद का मूल सिद्धान्त यही है। हिन्दी का प्रगतिवादी साहित्य मूलतः इसी सिद्धान्त से परिचालित रहा है।

फ्रायडवाद और मार्क्सवाद का अन्तर

आधुनिक प्रगतिवाद पर फ्रायड के यौनवाद का भी आंशिक प्रभाव पड़ा

है। काम भावना सार्वजनीन भौतिक-भावना है, अतः कुछ रसिक व्यक्तियों ने उसे मार्क्सवाद का सहायक माना है; परन्तु मार्क्सवाद और फ्रायडवाद में बहुत अन्तर है। मार्क्सवाद एक विज्ञान है, जो सम्पूर्ण समाज का वैज्ञानिक विवेचन करता है। फ्रायडवाद एक व्यक्तिवादी दर्शन है, उसमें बहुत-कुछ कल्पना पर निर्भर करता है। मार्क्सवाद के साथ कल्पित सिद्धान्तों की संगति नहीं बैठती, इसलिए मार्क्सवाद और फ्रायडवाद परस्पर एक दूसरे के पूरक सिद्धान्त न होकर परस्पर विरोधी सिद्धान्त हैं। अनेक लेखकों ने प्रगतिवाद के आवरण में अपनी रुद्ध कामवासना को प्रवाहित करने का प्रयत्न किया है। उनकी दृष्टि में विश्व नें प्रेम से अधिक प्रगतिशील और कोई भावना नहीं है। यह ठीक है, परन्तु प्रेम की कल्याणकारी सत्ता सामाजिक रूप में है, न कि वैयक्तिक रूप में। मगर आरम्भ में हमारे कुछ तथाकथित प्रगतिवादी लेखकों एवं कवियों ने फ्रायडवाद की काम-भावना को जीवन का परिचालन करने वाली एक विशिष्ट शक्ति मान, अत्यन्त अश्लील चित्रण किये थे। इस अवस्था को देखकर अनेक आलोचकों ने प्रगतिवाद पर अश्लीलता का दोषारोपण किया था। ऐसे लेखकों में अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी अग्रगण्य हैं; परन्तु अब इनको कोई भी प्रगतिवादी नहीं मानता। जिस काव्य का आधार लोक-कल्याण तथा सामाजिक उन्नति नहीं, वह कभी भी प्रगतिशील नहीं माना जा सकता।

दो समस्याएँ : दो पक्ष

हिन्दी के आधुनिक प्रगतिवादी-साहित्य का दार्शनिक आधार—मार्क्सवादी दर्शन है। आज उसके समक्ष दो समस्याएँ हैं—(१) पुरानी सड़ी-गली संस्कृति का मूलोच्छेदन, तथा (२) कला को कला के लिए न मानकर उसका उपयोग जीवन के विकास के लिए करना। इस कार्य के लिए उसके दो पक्ष हैं—(१) राजनीतिक मोर्चा—सम्पूर्ण साम्यवादी देश मिलकर संसार में समाजवाद की स्थापना करना चाहते हैं; (२) सांस्कृतिक मोर्चा—मार्क्सवाद के सिद्धान्तों को कलात्मक और साहित्यिक रूप प्रदान कर जनता पर समाज के कल्याण-विधायक प्रगतिशील विचारों की छाप डालना। इसके मूल में विभिन्न देशों में पारस्परिक सांस्कृतिक और साहित्यिक आदान-प्रदान को प्रोत्साहन दे, एक विश्वव्यापी जन-संस्कृति का निर्माण करने का उद्देश्य रहता है।

समाजवाद की साहित्यिक वाणी

इस प्रगतिवादी दृष्टिकोण का आधार—ऐतिहासिक विकास है। सृष्टि के

इतिहास में मानव-संस्कृति अपनी आदिम अवस्था से निरन्तर विकासवान रही है। विभिन्न अवस्थाओं को पार करती हुई, आज वह पूँजीवादी व्यवस्था के अन्त और समाजवादी व्यवस्था की आरम्भिक अवस्था में है। समाजवाद मानव संस्कृति की पर्याप्त विकसित अवस्था है। प्रगतिवादी साहित्य उसी समाजवादी व्यवस्था की साहित्यिक वाणी है। इसी कारण पंत प्रगतिवाद को मार्क्सवाद का साहित्यिक संस्करण मानते थे।

विध्वंसक और निर्माणकारी क्रान्ति

प्रगतिवादी कलाकार उपयोगी पुरातन के प्रति उचित सम्मान रखते हुए नवीन के प्रति सजग रहता है; परन्तु पुरातन के प्रति उसके मन में अन्ध-विश्वास तथा थोथा मोह नहीं होता। यदि पुरातन नवीन प्रगति में बाधक बनकर नहीं आता तो वह उसे स्वीकार कर लेता है। वह उपयोगी पुरातन से शिक्षा ग्रहण कर वर्तमान और भविष्य का निर्माण करता है। वह साहित्य को सामाजिक चेतना उत्पन्न करने वाला जन-कल्याणकारी साधन मानता है। इसी से वह कला को कला के लिए न मानकर, जीवन के लिए मानता है और उसकी दृष्टि में वह जीवन भी व्यक्तिगत न होकर—समष्टिगत होता है। वह सम्पूर्ण जनवादी शक्तियों को एकत्र कर सामाजिक प्रगति-विरोधी तत्त्वों—सामन्तवाद, पूँजीवाद, रूढ़िवाद, धर्म आदि का विरोध करता है। फ्रायड के वैयक्तिक एवं कल्पित विचारों को वह समाज के लिए घातक समझता है। सर्वहारा वर्ग की समस्याएँ ही उसकी प्रधान समस्याएँ हैं। वह क्रान्ति का पुजारी होता है। इसलिए उसका विश्वास सुधारवाद या हृदय-परिवर्तन में किंचित्मात्र भी नहीं होता। वह सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन चाहता है। गांधीवाद हृदय-परिवर्तन में विश्वास करता है, इसी कारण प्रगति-वाद का उससे विरोध है। क्योंकि हृदय परिवर्तन का सिद्धान्त वैयक्तिक है, उसकी प्रक्रिया अत्यन्त शिथिल, मन्द और परिणाम के प्रति सदैव आश्वस्त करने वाली नहीं रहती। प्रगतिवाद समाज की प्रगति-मार्ग के बाधक प्रतिक्रिया-वादी तत्त्वों का पूर्ण उन्मूलन कर आर्थिक वैषम्य को हमेशा के लिए समाप्त कर देना चाहता है और यह क्रान्ति द्वारा ही सम्भव है। हृदय-परिवर्तनवादी सिद्धान्त इतिहास की कसौटी पर निरन्तर असफल सिद्ध होता आया है। वह विषमता-नाशक क्रान्ति के मार्ग में सदैव बाधक रहा है।

यथार्थवादी भाषा-शैली

एक आलोचक के शब्दों में—"प्रगतिवादी जब काव्यगत भावनाओं का नए सिरे से मूल्यांकन करना चाहता है, सौन्दर्य और प्रेम के नए मानदण्ड प्रस्तुत करना चाहता है, आदर्श राज्य की नई रूपरेखा खींचना चाहता है, तो वह इन नवीन भावनाओं को अभिव्यंजित करने के लिए नवीन भाषा-शैली की उपेक्षा करता है ।" स्पष्ट, यथार्थ एवं वास्तविक विचार और भावों की अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए भाषा भी सरल और व्यावहारिक होनी चाहिए । उसमें सम्प्रेषणीयता और मर्मस्पर्शिता होने पर ही वह दूसरों को पूर्ण रूप से प्रभावित कर सकेगी । इसके लिए तितली के समान रंगीन और कोमल भाषा-शैली की आवश्यकता नहीं । इसके लिए तो—"वह आता, दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता, "जैसी स्वाभाविक शैली एवं भाषा की अपेक्षा रहती है । काव्यशास्त्र के रूढ़ और प्रतिक्रियावादी नियमों को भी विशेष महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए । प्रतीक भी ऐसे हों, जो जन-साधारण की समझ में सुगमता से आ जायँ । छायावादी सूक्ष्म प्रतीक-योजना इस काव्य में ग्रहण नहीं की जा सकती । उपयोगितावाद के प्राधान्य के कारण ही आरम्भ में, इस साहित्य में कला का ह्रास और विचारों का प्राधान्य बढ़ता चला जा रहा था; परन्तु अब कुछ प्रगतिवादी साहित्यकार कला का भी विशेष ध्यान रखने लगे हैं । नई कला मँजते-मँजते ही मँज पाती है ।

साहित्य का अकलात्मक परन्तु प्रधान स्वर

प्रगतिवादी साहित्य अपने प्रारम्भिक रूप में प्रधानतः प्रचारवादी रहा है । अतः उसका वह अंश शुद्ध साहित्य की परिभाषा के भीतर पूरी तरह से नहीं आ पाता । साहित्य का उद्देश्य प्रचार होते हुए भी उसमें कलात्मकता होनी चाहिए । क्योंकि साहित्य मनोरंजन के माध्यम से प्रचार करता है और मनोरंजन करने की शक्ति कला द्वारा ही उत्पन्न होती है । कलाहीन साहित्य और सामान्य धर्म, विज्ञान, इतिहास इत्यादि में कोई अन्तर नहीं रह जाता । प्रगतिवाद की आरम्भिक अवस्था में इस कलाहीनता का प्रधान कारण यह था कि उसे प्रतिगामी शक्तियों से भयंकर संघर्ष लेना पड़ा था । युद्ध के समय हम हथियारों की चमक-दमक की चिन्ता न कर, उनके प्रभाव की चिन्ता करते हैं । इसी कारण प्रगतिवादियों ने आरम्भ में भाषा-शैली की मनोरमता, कलात्मक-

सौन्दर्य आदि की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया था। प्रगतिवाद में छायावाद के वायवीपन और सूक्ष्मता की स्थूल भौतिकता में, पलायन वृत्ति की संघर्ष और क्रांति में, अत्यधिक कलात्मकता की अत्यधिक सरलता में, कल्पनात्मकता की यथार्थवाद में, निराशा और दुःख की आशा और उत्साह में अभिव्यजना हुई। इसी से कला का परिष्कृत उन्नत रूप नहीं उभर सका। प्रगतिवादी कलाकारों ने सरलतम भाषा और शैली का प्रयोग कर अपने विचारों और भावों को व्यक्त किया है। साथ ही, प्रगतिवाद के विषय—किसान-मजदूर ग्रामीणों से सहानुभूति तथा पूँजीवादियों और शोषकों के प्रति तीव्र घृणा होने के कारण उसमें नीरसता और रूक्षता आ गई। परन्तु कालान्तर में प्रगतिवाद उस अवस्था को पार कर कोमल, व्यंजनात्मक, कलात्मक और अधिक प्रभावशाली रूप धारण करता गया और आज साहित्य का सर्वाधिक प्रधान स्वर बना हुआ है। आज साहित्य के अन्य सारे वाद समाप्त प्रायः हो चुके हैं, परन्तु प्रगतिवादी चिन्तन सम्पूर्ण साहित्य को प्रभावित करता हुआ आज भी साहित्य की मूल चेतना बना हुआ है।

प्रगतिवाद-सम्बन्धी आक्षेप

हमारे अनेक रूढ़िवादी महारथियों ने प्रगतिवाद पर अनेक आक्षेप किये हैं; जैसे—(१) धर्म ईश्वर, आस्तिकता से, जो भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ हैं, प्रगतिवाद को कोई मोह नहीं है। यह अध्यात्म, संस्कृति और धार्मिक चेतना से शून्य है। (२) साहित्य की चिरंतनता पर इसका विश्वास नहीं। यह प्राचीन साहित्य को सामंतशाही का पोषक मानता है। (३) यह समाज के यथार्थ और वास्तविक चित्रण पर जोर देता है। और ऐसा करते समय यह सामाजिक प्रणाली की गन्दगी का चित्रण कर उसके विरुद्ध क्रान्ति की भावना उत्पन्न करता है। (४) यह साहित्य एकांगी है। यह केवल असत् का चित्रण करता है। शान्ति की अपेक्षा संघर्ष में इसका अधिक विश्वास है। इसके मूल में प्रचार की ऊपरी चहल-पहल है, सृजन की भीतरी साधना नहीं। (५) अधिकांश प्रगतिशील लेखकों मे शोषित वर्ग के प्रति कवल मौखिक सहानुभूति है। इसलिए इनकी रचनाएँ कृत्रिम और भड़कीली होती हैं। (६) इसमें सेक्स का अश्लील चित्रण होता है। (७) यह समाज के सम्मुख कोई आदर्श नहीं प्रस्तुत करता।

आक्षेपों का विश्लेषण : विशेषताएँ

उपर्युक्त आक्षेपों में से कुछ आंशिक रूप में ठीक हैं, कुछ प्रगतिवाद को न समझने के परिणाम है तथा कुछ के मूल में द्वेष की गन्ध है। कुछ साहित्यकार प्रगतिवाद का बिल्ला लगा कर प्रगतिवाद को बदनाम करने का प्रयत्न करते रहे हैं। प्रगतिवाद को उपर्युक्त आक्षेपों में से अधिकांश आक्षेप इन्हीं लोगों के कारण सहने पड़े हैं। अब प्रगतिवाद का मुखौटा पहने हुए, प्रगतिवाद के क्षेत्र में अनाधिकार घुस-पैठ करने वाले अज्ञेय तथा उनके सहयोगी प्रयोगवादी व्यक्तिवादी साहित्यकारों की असलियत का पर्दाफाश कर उन्हें इस क्षेत्र से निकाल बाहर किया गया है। कुछ निष्पक्ष आलोचकों ने प्रगतिवाद की निम्नलिखित विशेषताएँ बताई हैं—(१) प्रगतिशील युग के अन्तर्गत प्रगतिशील शक्तियों को पहचानना (२) प्राचीन तथा नवीन विचारधाराओं की स्वस्थ तुलना करना। (३) नवीन समस्याओं का प्रगतिशील हल ढूँढ़ना। (४) निरर्थक, अगतिशील प्राचीनता के प्रति मोह का त्याग। (५) नवीन समस्याओं के सम्बन्ध में साहित्यिक प्रेरणा। (३) रूढ़ियों के विरुद्ध आन्दोलन। (७) जीवन के यथार्थ स्वरूप का कलात्मक उद्घाटन। (८) कला का लक्ष्य—नई प्राण-प्रतिष्ठा, नई तकनीक, नूतन छन्द, नवीन भाषा और सतत् विकास ही जीवन का ध्येय, आदि।

उदयकालीन परिस्थितियाँ

हिन्दी-साहित्य में प्रगतिवाद के उदय का काल—देशव्यापी राजनीतिक उथल-पुथल का युग था। भारतीय अँग्रेज-विरोधी को अपना भाई समझते थे। रूस सभी साम्राज्यवादी देशों और पूँजीवादी शोषकों का विरोध कर रहा था। भारतीय कवि अंग्रेजों द्वारा किए जाने वाले देश के निर्मम शोषण, भयानक अत्याचारों तथा अपमान से क्षुब्ध हो रहे थे। इसी कारण आरम्भ में वे देश की स्वतन्त्रता अथवा विषमता भरे इस संसार के सम्पूर्ण नाश का नारा लेकर आगे आए। उनके सामने कोई स्पष्ट विचारधारा नहीं थी। वे किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर क्रान्ति—विध्वंसकारी क्रान्ति का—आह्वान कर रहे थे; परन्तु उन पर गांधीवाद का भी गहरा प्रभाव था, अतः उनका विरोध मौखिक मात्र बनकर रह गया, प्रभावकारी न बन सका। इन कवियों में—नवीन, सोहनलाल द्विवेदी, माखनलाल चतुर्वेदी, दिनकर आदि प्रमुख हैं। इन लोगों का जीवन या राजनीति के प्रति कोई स्पष्ट एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं था। ये बात तो समाज-

वाद की, सामाजिक समानता भी करते थे, परन्तु उसे स्थापित कैसे किया जाय, यह नहीं सुझा पाते थे।

रूसी-साहित्य का प्रभाव

हिन्दी के प्रगतिवादी साहित्य को रूस के समाजवादी लेखकों से पर्याप्त प्रेरणा मिली। प्रसिद्ध रूसी लेखक मेक्सिम गोर्की ने बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही यथार्थवादी प्रगतिशील चित्रण करना प्रारम्भ कर दिया था। रूसी क्रान्ति के उपरान्त इस साहित्य का प्रभाव भारतीय लेखकों पर अधिक पड़ा। प्रेमचन्द का झुकाव बहुत पहले से इस विचारधारा के प्रति रहा था। प्रेमचन्द ने रूसी कथा-साहित्य से प्रेरणा प्राप्त कर जन-जीवन का यथार्थ चित्रण और अधिक गहरे रूप में प्रस्तुत किया। अपने विभिन्न उपन्यासों द्वारा उन्होंने वर्ग-चेतना को जगाया; परन्तु 'गोदान' से पूर्व तक वे गांधी के अहिंसावादी आदर्श का मोह त्यागने में असमर्थ रहे थे। 'गोदान' में आकर उनका वह मोह भी समाप्त हो गया था। इसी का अनुसरण कर प्रसाद ने 'कंकाल' जैसा यथार्थवादी उपन्यास लिखा। परन्तु भारतीय प्रगतिवादी पर रूसी प्रभाव आंशिक रूप में ही मानना चाहिए। भारत में भी लगभग वैसी ही विषम परिस्थितियाँ थीं, जिन्होंने रूस और चीन में साम्यवादी आन्दोलन को सफल बनाया था। इसलिए साहित्य में व्यक्त हुए प्रगतिवादी दृष्टिकोण को स्थानीय परिस्थितियों का ही प्रतिफलन मानना चाहिए, जिसे रूसी साम्यवाद और वहाँ के साम्यवादी विचारधारा से अनुप्राणित साहित्य से पर्याप्त प्रेरणा प्राप्त हुई थी।

प्रगतिवादी विचारधारा का विकास

सन् १९३६ में भारत में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना हुई। प्रेमचन्द की अध्यक्षता में इस संघ का प्रथम अधिवेशन लखनऊ में किया गया। इस नवीन संघ को कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर और शरतचन्द्र जैसे कलाकारों का आशीर्वाद एवं सहयोग प्राप्त हुआ। हिन्दी में कुछ समय तक प्रेमचन्द इसके कर्णधार बने रहे। प्रेमचन्द के उपरान्त इस धारा को सबसे बड़ी प्रेरणा और बल 'निराला' से मिला। उन्होंने गद्य-पद्य—दोनों के माध्यम से इस धारा को और अधिक गतिशील एवं शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न किया। उनकी 'चतुरी चमार', 'पगली' आदि कहानियाँ; 'चोटी की पकड़', 'बिल्लेसुर बकरिहा' आदि उपन्यास; कुकुरमुत्ता, नए पत्ते आदि काव्य-संग्रह प्रगतिवादी साहित्य के सुन्दर उदाहरण हैं। पन्त ने 'रूपाभ' नामक पत्र निकालकर इस आन्दोलन को

पर्याप्त शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न किया। पंत 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की रचना कर प्रगतिवादी के प्रबल समर्थक बन गये। परन्तु उनकी बौद्धिक सहानुभूति, सांस्कृतिक क्रान्ति के प्रति उनका मोह, विचारों की स्वाभाविक कोमलता और परस्पर-विरोधी दृष्टिकोण उन्हें इस क्षेत्र में स्थायी रूप से रखने में असमर्थ रहे। अतः वे कल्पना की मनोरम परन्तु अटपटी दार्शनिकता के जिस क्षेत्र में आए थे, पुनः वहीं लौट गए। अन्य कवियों में, जिन्हें समाजवाद का समर्थक और पोषक माना जा सकता है, नरेन्द्र, सुमन, अंचल, दिनकर आदि प्रसिद्ध हैं।

प्रेमचन्द द्वारा सम्पादित 'हंस' नामक मासिक पत्रिका ने कुछ समय तक प्रगतिवाद का नेतृत्व किया। इसके द्वारा अनेक नए प्रगतिशील विचारधारा के लेखक प्रकाश में आए। इन साहित्यकारों ने प्रगतिवाद को एक जीवन-दर्शन के रूप में अपनाया। मार्क्सवाद के सिद्धान्त इनके काव्याधार बने। इनमें राहुल, यशपाल, केदारनाथ, नागार्जुन, अली सरदार जाफरी, रामविलास शर्मा, रांगेय राघव, वीरेन्द्र मिश्र आदि प्रमुख हैं। आज प्रगतिवादी साहित्य का सृजन— उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, आलोचना, कविता आदि सभी रूपों में हो रहा है प्रगतिवाद की विभिन्न विधाओं के प्रमुख साहित्यकार इस प्रकार हैं—

प्रगतिवाद के प्रमुख साहित्यकार

प्रमुख कहानीकार और उपन्यासकार—राहुल, निराला, रांगेय राघव, यशपाल, अमृतलाल नागर, नागार्जुन, भीष्म साहनी, हिमांशु जोशी, राही मासूम रजा आदि।

प्रमुख निबन्धकार—रामविलास शर्मा, रांगेय राघव, यशपाल, भगवतशरण उपाध्याय।

प्रमुख आलोचक—रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, नामवर सिंह, चन्द्रबली सिंह, प्रकाशचन्द्र गुप्त, अमृतराय, रांगेय राघव, शम्भूनाथ।

उपर्युक्त साहित्यकारों के अतिरिक्त उपेन्द्रनाथ अश्क, देवेन्द्र सत्यार्थी, रामवृक्ष बेनीपुरी, शिवपूजन सहाय आदि को भी पर्याप्त सैद्धान्तिक विरोध रहते हुए भी प्रगतिवादी मान लिया जाता है।

वैचारिक संघर्ष : दो प्रकार के विचार

प्रगतिवादी आलोचकों के दो दल हो गये हैं। एक दल का यह मत है कि हमारा प्राचीन साहित्य सुन्दर, समृद्ध और शक्तिशाली होते भी जन-जीवन से पृथक रहा है। उसमें सामन्ती दृष्टिकोण को ही प्रधानता मिलती है;

साधारण जनता की समस्याओं का चित्रण उसमें कहीं भी नहीं मिलता। अतः यदि हमें अपने समाज की रूपरेखा को बदलना है तो इस सामन्ती साहित्य के प्रति थोथे मोह को छोड़ना पड़ेगा। इसकी दृष्टि में कालिदास, तुलसी आदि सामन्ती साहित्य के प्रेणता हैं। अतः काव्यानन्द प्राप्त करने के लिए तो उनका अध्ययन श्रेयस्कर है; परन्तु वे हमारी वर्तमान सामाजिक विषमता का कोई हल प्रस्तुत करने में असमर्थ हैं। अतः सामाजिक क्रान्ति के दृष्टिकोण से वे त्याज्य हैं। मगर फिर भी ये लोग सम्पूर्ण प्राचीन साहित्य को उपेक्षा की दृष्टि से न देखकर केवल उसके प्रगति-विरोधी तत्त्वों की ही आलोचना करते हैं। दूसरा दल इस मत का विरोधी है। यद्यपि मार्क्सवादी सिद्धान्तों के विषय में इन दोनों दलों में मतैक्य है; परन्तु दूसरा दल प्राचीन साहित्य के प्रति अधिक उदार दृष्टिकोण रखता है। इस का कहना है कि हमें प्राचीन साहित्य के शुद्ध कल्याणकारी अंशों और गुणों का ग्रहण; और निरर्थक, व्यक्तिवादी रूप की अवहेलना करनी चाहिए। तुलसी जैसे पुराने कवियों ने समाज और समस्याओं का चित्रण अपने समकालीन समाज के सन्दर्भ में किया है, अतः उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इन दोनों दलों में पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से कुछ समय तक खूब आलोचना प्रत्यालोचना होती रही थी। जनता में जब तक जीर्ण सडे-गले, रूढ़िवादी पुरातन के प्रति तनिक भी मोह रहेगा, तब तक यथार्थ समाजवाद की स्थापना स्वप्न बनी रहेगी। परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि प्राचीन साहित्य में प्रगतिशील जीवन-मूल्य मिलते ही नहीं। तुलसी के रामराज्य की कल्पना क्या समाजवाद का रूप आदर्श प्रस्तुत नहीं करती? क्रान्ति के मूल में निर्ममता की भावना सर्वप्रधान रहती है, यह सत्य है; परन्तु सम्पूर्ण प्राचीन साहित्य त्याज्य नहीं है। उसमें प्रगतिशील तत्त्व पर्याप्त परिणाम में मौजूद हैं। हमें उनका स्वागत और प्रयोग करना ही पड़ेगा। कबीर, तुलसी आदि की उपेक्षा करना हमारे लिए सम्भव नहीं है। प्रगतिवादी दल के इस पारस्परिक विवाद ने इस साहित्यिक आन्दोलन को बहुत गहरा धक्का पहुँचाया था। परन्तु समाज की चेतना में इसकी जड़ें इतनी गहरी उतर गयी थीं कि विवादस्पद सिद्धान्तों तथा उन सिद्धान्तों को लेकर परस्पर वाक्-युद्ध करने वाले बिद्वानों का मोह त्याग जनता ने इसे अपनाए रखा है।

प्रश्न १६—हिन्दी के 'हालावादी' काव्य का संक्षिप्त विवेचन कीजिए।

उत्तर—छायावादी काव्य : मूल उद्गम

हिन्दी के हालावादी काव्य का मूल उद्गम-स्रोत फारसी के प्रसिद्ध सूफी

कवि उमर खय्याम का काव्य माना जाता है। उसका अनुकरण कर हरिवंशराय 'बच्चन' ने जिस मादक कविता का प्रणयन किया था, उसे ही हिन्दी के आलोचकों ने 'हालावाद' के नाम से पुकारा। हिन्दी-साहित्य में यह घटना सन् १९३३ से लेकर १९३६ तक घटती रही थी। काव्य की इस धारा ने साहित्य में तूफान की तरह प्रवेश किया था और उसी की तरह क्षणिक उथल-पुथल मचाकर केवल चार वर्ष का छोटा-सा जीवन जी कर शीघ्र ही विलीन हो गई थी। तूफान के गुजर जाने के बाद जिस तरह उसके भयंकर विध्वंस पर नव-निर्माण का कार्य किया जाता है, उसी तरह विज्ञ आलोचकों ने इस धारा का विरोध कर युग के कलाकारों का ध्यान हालावाद की तरह से हटाकर जन-जीवन की ओर मोड़ दिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि शीघ्र ही हालावाद अतीत की एक मादक-सुन्दर परन्तु दुःखद घटना मात्र बनकर समाप्त हो गया, क्योंकि इसने अपने समय में सस्ती लोकप्रियता पर आधारित अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया था। बिल्कुल उसी प्रकार जैसे आजकल गुलशन नन्दा जैसे उथले और सस्ते स्तर के उपन्यासकार लोकप्रिय हो रहे हैं। इसलिए साहित्य का आकलन करते समय इसका उल्लेख एवं विवेचन करना आवश्यक हो गया है। हमें हालावाद को समझने के लिए पहले उसके प्रेरक उमर खय्याम आदि के साहित्य की रूपरेखा समझ लेना आवश्यक है।

सूफी-रहस्यवाद का प्रभाव

फारसी के रहस्यवादी सूफी कवियों ने इस्लाम की अतिशय धार्मिक एवं नैतिक कट्टरता के विरोध में एक नूतन उपासना-पद्धति का निर्माण किया था, जिसमें गुह्य साधना, चमत्कार और सुरा-सुन्दरी का उन्मुक्त भोग था; परन्तु इसमें सर्वत्र उस रहस्यमय अज्ञात सत्ता ईश्वर के प्रति एक आध्यातिमक संकेत भरा रहता था। इसलिए उसमें सुरा-सुन्दरी आदि प्रतीकों के रूप में प्रयुक्त हुए थे। सूफी कवि प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में उस रहस्यमय 'प्रिय' का आभास पाकर हर्षोन्मत्त हो उठता है उसके इस हर्ष नें शराब के नशे की-सी तीव्रता, मादकता और खुमारी भरी रहती है। इस्लाम में शराब को हराम माना जाता है परन्तु सूफी कवियों के ईश्वरीय प्रेम में सुरा-सुन्दरी के प्रेम का-सा गहरा नशा था। इसलिए उन्होंने अपने प्रेम की तीव्रता प्रकट करने के लिए सुरा और सुन्दरी को प्रतीक-माध्यम बनाकर अपने काव्य का निर्माण किया था। इस तरह शराब यहाँ ईश्वरीय प्रेम की प्रतीक बन गई थी। दूसरे, ये कवि धार्मिक

कट्टर विधि-निषेधों की उपेक्षा और अवहेलना करने वाले विद्रोही थे। इसीलिए इन्होंने इस्लामी 'कठमुल्लावाद' के प्रति विद्रोह की भावना व्यक्त करने के लिए भी शराब को महत्त्व दिया था। साध ही रोजा और नमाज की भी अवहेलना की थी। शराब के इस नशे में डूबकर उन्हें 'इलहाम' होता था और उस तन्मयता की अवस्था में उनके लिए रूह और खुदा में कोई अन्तर नहीं रह जाता था। यही उनका लक्ष्य होता था। इनकी साधना-पद्धति और भारतीय अद्वैत भावना के अनुसार ईश्वर और जीव में पूर्ण तादात्म्य होने की प्रक्रिया में बहुत-कुछ समानता है। इसी कारण कुछ लोग सूफी साधना-पद्धति को भारतीय अद्वैतवाद से प्रभावित मानते हैं।

उमर खय्याम का जीवन

फारसी के इन सूफी कवियों में मौलाना रूम, हाफिज और उमर खय्याम विशेष प्रसिद्ध हैं। इनमें उमर खय्याम ने अपनी प्रसिद्ध रुबाइयों द्वारा सबसे अधिक प्रसिद्धि प्राप्त की। उनका जीवन के प्रति यह दृष्टिकोण था कि एकांत स्थान हो, सुन्दर प्रेयसी अर्थात् साकी, शराब की सुराही और प्याला पास में हो; कविता की पुस्तक हाथ में हो; और इन सब में डूबकर वह अपनी लौकिक स्थिति को भूल जाय। उसके इस भूलने में, इस आत्म-विस्मृति में ईश्वरीय प्रेम की प्राप्ति ही प्रधान लक्ष्य था। इसीलिए इन वस्तुओं को आधार अर्थात् प्रतीक बनाकर सूफी-कवियों ने अपने उद्गारों को लौकिक बाना पहना दिया। उमर खय्याम की रुबाइयों में इस स्वच्छन्द वृत्ति का प्रकाशन इतना मादक और मनोरम हुआ कि आज उनकी गणना संसार के सर्वश्रेष्ठ कवियों में की जाती है। प्रसिद्ध अंग्रेजी कवि फिट्जराल्ड केवल उनकी रुबाइयों का अंग्रेजी में अनुवाद कर साहित्य-जगत में अमर हो गया था। यद्यपि इस अनुवाद में उमर-खय्याम के सिद्धान्तों को अत्यन्त विकृत और भ्रमात्मक रूप में ही प्रस्तुत किया गया है, क्योंकि सूफी चिन्तनधारा और साधना-पद्धति से अनभिज्ञ फिट्जराल्ड उमर खय्याम की मूल भावना को पकड़ने में असमर्थ रहा था।

हिन्दी-कवियों पर विकृत प्रभाव

उमर खय्याम की रुबाइयों के हिन्दी-अनुवाद ने हिन्दी-संसार को अपनी ओर आकृष्ट कर, अभिभूत कर लिया। कुछ नवयुवक कवियों ने शराब की इस मादकता का प्रकाशन अपनी कविताओं द्वारा करना प्रारम्भ कर दिया—जिनमें बच्चन, पद्मकांत मालवीय, हृदयनारायण पांडेय 'हृदयेश', बालकृष्ण

शर्मा 'नवीन' आदि का नाम लिया जा सकता है। 'बच्चन' तथा मैथिलीशरण गुप्त ने उमर खय्याम की रुबाइयों के अनुवाद किए। उपर्युक्त कवियों में केवल 'बच्चन' ही इसके एकमात्र प्रवर्त्तक और सफल कवि माने जा सकते हैं। इन लोगों ने उमर खय्याम की आध्यात्मिकता व रहस्य-भावना को तो भुला दिया, केवल उनकी विद्रोह और तन्मयता की ऊपरी भावना को ही लेकर आगे बढ़े।

परिस्थितिजन्य कारण

हिन्दी में इस साहित्य के स्वागत और वेगवान प्रसार के कई कारण थे, जिनमें सन् १९३० से १९३५ तक की राजनीतिक निराशाजनक स्थिति, क्रान्तिकारियों का दमन, गोलमेज कॉन्फ्रेंस की असफलता, गांधीवादी नैतिकता आदि प्रमुख हैं। समाज में अव्यवस्था फैल रही थी। कांग्रेस यद्यपि राजनीतिक आन्दोलन चला रही थी; परन्तु उससे जनता को सन्तोष नहीं मिल रहा था। दूसरी ओर जन-जीवन पर गांधीवादी नैतिकता का दबाव बढ़ता जा रहा था। इस निराशा के युग में छायावादी सूक्ष्म वासनात्मक और सौन्दर्य-परक काव्य जनता को पूर्ण तृप्ति प्रदान करने में असमर्थ हो उठा था। जनता कुछ ऐसी नशीली चीज चाहती थी, जिसके खुमार में डूबकर वर्तमान निराशा की कचोट को भूल जाय। बच्चन आदि ने ऐसे ही मादक साहित्य का निर्माण कर जनता को, विशेष रूप से नवयुवकों और किशोरों को, कुछ समय तक मद-विभोर बनाए रखा, परन्तु मद का वह खुमार शीघ्र ही उतर गया। इस सम्बन्ध में यह तथ्य विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि वयस्क और समझदार लोगों ने बच्चन के इस नवीन हालावाद-काव्य की उपेक्षा ही की थी। सचेत होने पर जनता ने उसे ठुकराकर दूर फेंक दिया। इसी कारण कहा गया है—"हालावाद तूफान की तरह आया और केवल चार वर्ष जीवित रहकर उसी गति से विलीन हो गया।" आज बच्चन की 'मधुशाला' आदि पुस्तकों का उपयोग अन्त्याक्षरी-प्रतियोगिताओं तक ही सीमित होकर रह गया है। कोई भी सुरुचि-सम्पन्न वयस्क पाठक उन्हें पढ़ना पसन्द नहीं करता।

पलायन-पराजय की भावना

डॉ० रामरतन भटनागर ने हालावाद की उत्पत्ति का कारण बताते हुए लिखा है कि छायावादी दुःखवाद ने आगे चलकर आध्यात्मिक रूप धारण कर लिया। फलस्वरूप कवियों ने जीवन में निराशा एवं शून्यता का अनुभव किया। हालावाद के कवि ने परिस्थितियों को अपरिवर्तनशील मानकर उनके सम्मुख

आत्म-समर्पण कर दिया। इसके लिए उसने परोक्षवादी (आध्यात्मिक) दृष्टि-कोण न अपना कर एक ऐसे नए पथ को अपनाया, जिसमें भोगवाद तथा झूठी मस्ती थी। इसकी नींव कवि की पराजय-भावना पर आधारित थी। इस भावना ने उसे उमर खय्याम की ओर आकर्षित किया। उमर खय्याम के आध्यात्मिक संकेत को तो उसने छोड़ दिया; केवल उसकी मादकता ली, उसी के प्रतीक लिए और कविता के संसार में एक युगान्तर-सा उपस्थित कर दिया। इसी विवेचन के आधार पर डा० भटनागर ने 'बच्चन' की कविता के निम्न-लिखित उपकरण बताए हैं—

उपकरण

(१) भोग के प्रति आसक्ति, (२) टूटे हुए स्वप्न के लिए रुदन, (३) दैव या भाग्य पर आश्रय। कभी-कभी उसका विरोध भी, परन्तु भाग्य की प्रबलता पर कवि का अटल विश्वास, (४) सस्ती भावुकता, (५) सौन्दर्य के प्रति आसक्ति, (६) जीवन की क्रियाशीलता के प्रति उदासीनता।

हालावाद का अल्पायु इतिहास

हिन्दी-काव्य की सम्पूर्ण धाराओं में हालावाद की आयु सबसे कम रही। इसका सम्पूर्ण इतिहास सन् १९३३ से १९३६ तक के केवल चार वर्षों और बच्चन की केवल तीन कविता-पुस्तकों—'मधुशाला', 'मधुबाला' और 'मधु-कलश' तक ही सिमट कर रह गया। नवीनजी का भी 'साकी' नामक एक संग्रह प्रकाशित हुआ था, मगर, उसे बच्चन के सामने अधिक प्रचार नहीं मिल सका। इस काव्य की सबसे बड़ी विडम्बना यह रही कि आगे चलकर स्वयं बच्चन ही इसके विरोधी बन गये थे। इस काव्य की उत्पत्ति तरुण कवियों की घोर वैयक्तिकता से हुई थी, जिसके सामने उनकी दृष्टि में सामाजिक उत्तर-दायित्व नगण्य था। वे सामाजिकता को अभिशाप मानकर व्यक्तिगत प्रेम, वासना एवं क्रीड़ा का स्वतन्त्र और निरपेक्ष राज्य चाहते थे। इस काव्य में उनकी रुद्ध वासनाएँ मुखरित हुई थीं। केवल 'आनन्द करो' ही उनका मूलमन्त्र था। साहित्य के सजग आलोचकों ने उनकी इस प्रवृत्ति का विरोध किया। अन्त में बच्चन को भी यह काव्य सन्तोष नहीं दे सका। मधुशाला, हाला, साकी और प्याला द्वारा उन्होंने जिस मानसिक तृप्ति की आकांक्षा की थी, वह उन्हें प्राप्त न हो सकी। बच्चन ने जग की उपेक्षा की थी बदले में उन्हें जग द्वारा घोर उपेक्षा मिली। इस प्रकार हालावाद के प्रवर्त्तक इस कवि को निरंतर

पराजय मिलती रही। अन्त में हारकर उसे जग के सम्मुख शीश झुका उसकी जय-जयकार करनी पड़ी। अन्त में जब बच्चन 'मधुशाला', 'मधुबाला' और 'मधुकलश' में मद की मादकता धारा बहाकर ऊब उठे, तब उनके काव्य का प्रवाह बदल गया और बाद में अपनी वेदना से पीड़ित किसी का 'निशा निमन्त्रण' पाकर अपनी प्रियतमा की याद में 'एकांत सङ्गीत' गाते और उस पर 'खादी के फूल' चढ़ाते हुए 'सत-रंगिनी' के रंगों में खो गये। इसके बाद उन्होंने बंगाल के अकाल पर मर्मस्पर्शी कविताएँ लिखकर जन-जीवन को अपनाया और आजकल वे नित नवीन कोमल एवं ललित गीतों और कविताओं का सृजन कर नई आशा और नए प्रेम-गीत गाते हुए अपना वही पुराना लोक-प्रिय स्थान प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं। आज वे हाला की खुमारी और जीवन की निराशा एवं वेदना को भूल—जीवन की वास्तविकता के निकट आते जा रहे हैं।

वैयक्तिकता पर सामाजिकता की विजय

अपने इस काव्य में बच्चन ने जीवन के संघर्ष से त्रस्त हो, क्षण-भर को वर्तमान में ही डूबकर भूत के यथार्थ और भविष्य के काल्पनिक दुःखों से मुक्ति पा लेनी चाही थी। इसलिए इसमें निराशा एवं पलायनवादी भावना का स्वर ही सर्वोपरि रहा। सामाजिक जीवन-प्रगति में इसका कोई योग न था। कवि ने समाज की शक्ति को पहचान उस पर चोट करने का तो साहस नहीं किया, मगर धर्म के आडम्बरों पर कसकर चोट की, क्योंकि वह जानता था कि इस आक्रमण का सभी काव्य-प्रेमी स्वागत करेंगे। कवि की दृष्टि में मन्दिर-मस्जिद झगड़ा कराते हैं, इसीलिए वह उनकी अवहेलना कर 'मधु-सिंचित डगर' पर चल पड़ा। और उसे मानवता के साम्य का रूप केवल मधु-शाला में ही मिला; परन्तु अन्त में यह सब कुछ, जिसे कवि ने सत्य मान लिया था, उसका भ्रम सिद्ध हुआ और वह अपनी वेदना को अपने हृदय में समेटे इस पथ से अलग हट गया। इस प्रकार उसकी उच्छृङ्खलता, जिसे वह विद्रोह, क्रान्ति और न जाने क्या-क्या समझता था, थोथी निकली और इसके लिए उसे जग द्वारा भर्त्सना मिली। कुछ समय बाद ही बच्चन ने स्वयं ही अपने पथ के थोथेपन और निकम्मेपन का अनुभव कर लिया। कवि की घोर वैयक्तिकता को जग के सम्मुख आत्म-समर्पण करना पड़ा। यह व्यक्ति के ऊपर समाज की विजय थी।

हालावाद : निष्क्रियता का प्रचारक

बच्चन अपनी समझ से एक ऐसे काव्य का सृजन कर रहे थे, जिसे कोई भी नहीं समझ सकेगा, उसके वास्तविक भाव हृदयंगम करने में समाज असमर्थ रहेगा। उन्होंने स्पष्ट लिखा है—"समझ सकेगा उसे कोई ? आज तक संसार ने एक भी कवि को नहीं समझा।" परन्तु असलियत यह है कि सभी समझदार कवियों को समझने वाला संसार इस 'हालावादी' साहित्य की असलियत को समझ चुका था, इसलिए इसे अग्राह्य समझ कर अपनाना नहीं चाहता था। संघर्ष-रत संसार नियति के सम्मुख अपने को निरीह समझने वाले कलाकार को कैसे बढ़ावा दे सकता था ? उसका स्वर उखड़ा-उखड़ा-सा था। उसे स्वयं अपनी कृति की श्रेष्ठता पर विश्वास नहीं था। निष्क्रियता के प्रचारक इस कवि को कौन प्रश्रय दे सकता था ? मानव की सतत प्रवृत्ति और सक्रियता में विश्वास रखने वाला साहित्य ही समाज को प्रिय होता है। हालावाद-जैसा अहंवादी, थोथा, सामाजिक जीवन-दर्शन से शून्य नियतिवादी, निष्क्रियता का प्रचारक साहित्य पानी के बुलबुले के समान क्षणिक जीवन व्यतीत कर नष्ट हो जाता है।

नपुंसक विद्रोह का रूप

कहा जाता है कि इन कवियों ने विद्रोह किया था, मगर उनके इस विद्रोह का रूप क्या था ? इसमें एक नपुंसक हतवीर्य व्यक्ति का चीत्कार था या एक सशक्त हृदय का गुरु-गम्भीर गर्जन ? क्या इनका यह पथ कल्याणकारी था ? इन कवियों को कोई सामाजिक चिन्ता नहीं थी, इसलिए इनके पास समाज के लिए कोई सन्देश भी नहीं था तो फिर ऐसा सन्देशहीन काव्य हमारा क्या उपकार कर सकता था ? इसने केवल इतना ही किया कि कुछ क्षणों के लिए हमारे भावुक किशोरों और तरुणों को अपनी तीव्र मादकता से उद्भ्रान्त-सा बना दिया। परन्तु जब अन्त में अपने इस प्रयत्न में कवि को ही निराशा और अतृप्ति हाथ लगी तो इन कच्ची बुद्धि वालों को भला क्या मिलता ?

केवल खुमारी का काव्य

बच्चन अपने इस काव्य को रूपक मानते हैं। भला इससे बड़ा और क्या मजाक हो सकता है ? 'पद्मावत' और 'कामायनी' भी तो रूपक-काव्य कहे जाते हैं। ये जीवन के कठिन क्षणों में हमें आशा और विश्वास का सन्देश देते हैं, जिसके मूल में इनके रचयिताओं की जीवन-व्यापी साधना रही है, हालावाद के समान क्षणिक खुमारी का सन्देश नहीं। 'हालावाद' में कुछ लोग दर्शन भी

देखते हैं, परन्तु ऐसा कहना 'दर्शन' की गम्भीरता और श्रेष्ठता का अपमान करना है। इसमें किसी 'विकृत दर्शन' के भी तो दर्शन नहीं होते। यह तो शुद्ध रूप से एक 'खुमारी' का काव्य है, जिसकी कोई सामाजिक उपयोगिता नहीं।

विशेषताएँ

हालावाद की विशेषताएँ संक्षेप में निम्नलिखित मानी जाती हैं—

(१) इसमें सामाजिक एवं धार्मिक रूढ़ियों के प्रति उच्छृङ्खल विद्रोह है। (२) ये लोग संसार में रहते हुए भी स्वर्गीय सुख के प्रति लालायित हैं। (३) जीवन के संघर्ष से पलायन कर क्षणिक मादकता में मुक्ति ढूँढ़ते हैं। (४) इनका सुख क्षणिक और काल्पनिक है। (५) काव्य-क्षेत्र में कल्पना की ऊँची उड़ानें हैं। (६) सौन्दर्य, प्रेम और जीवन—इनके सबसे बड़े आकर्षण हैं। (७) ये कविगण विवशता से त्रस्त होकर अरण्य-रोदन करते रहते हैं। इसमें पथ-भ्रष्ट लक्ष्यहीन अराजकता है। (८) सीधी उन्मादक भाषा में वासना की सरल अभिव्यक्ति है। (९) यह घोर व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन है। (१०) इसमें कर्मशीलता का नितान्त अभाव है। और (११) समष्टि रूप से संघर्ष से पलायन की एकान्त भावना है।

प्रश्न १७—प्रयोगवादी काव्यधारा का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उत्तर—भाषा-शैली की अशक्तता का नारा

हिन्दी-साहित्य में पिछले लगभग ३५ वर्षों से एक नवीन प्रकार के काव्य के दर्शन होने लगे थे, जिसे उसके प्रतिष्ठापकों एवं उन्नायकों ने 'प्रयोगवादी काव्य' कहकर पुकारा था। अज्ञेय इस नवीन धारा के कर्णधार माने जाते रहे हैं। अज्ञेय एवं उनके सहयोगियों का कहना था कि आजकल की नवीन युग-चेतना नवीन आदर्शों एवं नवीन संस्कृतियों का निर्माण कर रही है। इस चेतना का अंकन प्राचीन परम्परागत भाषा एवं शैली द्वारा नहीं किया जा सकता, क्योंकि हमारी भाषा का अब तक का रूप प्राचीनता का अनुसरण करने के कारण शिथिल और अशक्त हो उठा है; इसलिए नवीन विचारों, अनुभूतियों एवं अभिव्यक्तियों को सफलता के साथ व्यक्त करने में असमर्थ है। अतः हमें प्रचलित, चलती हुई भाषा और आलंकारिक परम्पराओं का मोह छोड़कर नवीन भाषा-रूपों का सृजन करना पड़ेगा, और इसके लिए नवीन भाषा, नवीन प्रतीक और नवीन उपमानों का सहारा लेना पड़ेगा। परन्तु वास्तविकता यह

है कि नवीनता का यह नारा पूँजीवाद की दुरभिसन्धि के कारण उत्पन्न हुआ था। पूँजीवाद आरम्भ से ही व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन, उससे प्रभावित साहित्य और कला-रूपों को ही प्रोत्साहन, आश्रय और समर्थन देता आया है। क्योंकि ऐसा ही साहित्य उसके लिए हानिकारक न हो अप्रत्यक्ष रूप से उसकी सहायता ही करता है। इसलिए उसका भरसक यह प्रयत्न रहता है कि बुद्धिजीवी समाज को महत्त्व न दे, व्यक्ति को ही सर्वोपरि मानते रहें। हमारे नए प्रयोगवादी इसी जीवन-दर्शन से प्रभावित थे अतः पूँजीपतियों से प्रभावित होने के कारण ही इन नए कवियों के इस नवीनता के मोह ने हिन्दी के अनेक नवीन उदीयमान कवियों को शीघ्र-प्रसिद्धि के मायाजाल में उलझा पथ-भ्रष्ट कर दिया था। अस्तु,

प्रगतिवाद-विरोधी काव्यधारा : व्यक्तिवादी दर्शन

नवीनता की पुकार लगाने वाले इन नवीन एवं कुछ पुराने साहित्यकारों ने प्रगतिवाद के अत्यधिक जनवादी दृष्टिकोण से त्रस्त होकर प्रयोगवाद का नाम देकर एक ऐसी विचारधारा का प्रारम्भ किया था, जो सिद्धान्त रूप से प्रगतिवाद की विरोधी विचारधारा थी। प्रगतिवाद का दृष्टिकोण कला, साहित्य और समाज के प्रति जनवादी है। प्रयोगवाद का दृष्टिकोण इन क्षेत्रों में पूँजीवादी, कुत्सित, संकीर्ण एवं पूर्णतः प्रगति-विरोधी, व्यक्तिवादी और प्रतिक्रियावादी है। प्रयोगवादी कलाकार कला को जीवन के लिए न मान, उसे केवल कला के लिए ही मानते हैं।

उत्पत्ति-सम्बन्धी दो मत

प्रयोगवाद कैसे और क्यों उत्पन्न हुआ, इसके विषय में आलोचकों के दो परस्पर विरोधी मत हैं। कुछ आलोचक इसकी उत्पत्ति छायावाद की वायवी भाव-वस्तु और उसके शिल्प-विधान अथवा शैली के प्रति विद्रोह के रूप में मानकर प्रगतिवाद और प्रयोगवाद को एक-सी ही परिस्थितियों की उपज मानते हैं। और इस प्रकार प्रयोगवाद को प्रगतिवाद का समान-धर्मा सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु आलोचकों का एक दूसरा वर्ग प्रयोगवाद की उत्पत्ति प्रगतिवाद के मार्ग को अवरुद्ध करने वाली प्रतिक्रियावादी पूँजीवादी विचारधारा से अनुप्राणित मानता है।

प्रयोगवाद का इतिहास

हिन्दी में प्रयोगवादी कविता का जन्म साधारणतः सन् १९४३ में प्रकाशित

'तारसप्तक' नामक संग्रह से माना जाता है, जिसके सम्पादक अज्ञेय थे। इसके उपरान्त सन् १६५१ में 'दूसरा सप्तक' और फिर 'तीसरा सप्तक' प्रकाशित हुआ। इन संग्रहों के अतिरिक्त 'प्रतीक' नामक मासिक पत्रिका ने अज्ञेय के सम्पादन में प्रयोगवादी कविताओं को काफी प्रश्रय दिया। 'पाटल' 'दृष्टिकोण' तथा कभी-कभी 'नया पथ' जैसी प्रगतिशील पत्रिकाओं में भी ऐसी कविताओं के दर्शन हो जाते रहे; परन्तु 'तारसप्तक' की परम्परा में सन् १६५४ से नई कविता' नाम से प्रकाशित होने वाले कविता-संग्रहों के रूप में प्रयोगवादी कवियों का एक संगठित प्रयास चला था, जिसमें प्रयोगवादी कविता अपने वास्तविक रूप में प्रकट हुई थी। इसके अतिरिक्त अनेक नए-पुराने प्रयोगवादी कवियों के व्यक्तिगत काव्य-संग्रह भी बड़ी सज-धज के साथ प्रायः प्रकाशित होते रहते। 'धर्मयुग' आदि भी ऐसी कविताओं को निरन्तर प्रश्रय देते रहते हैं। यही प्रयोगवादी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास है। वस्तुतः प्रयोगवादी कलाकारों और प्रयोगवादी रचनाओं को आरम्भ से ही पूँजीवादी प्रकाशन-सस्थाओं का संरक्षण मिलता रहा है और प्रयोगवादी कलाकार इन संस्थानों में मोटी-मोटी तनख्वाहें पाते रहे हैं, और आज भी पा रहे हैं।

प्रगतिवाद का सुनियोजित-संगठित विरोध

प्रयोगवाद, यदि स्पष्ट शब्दों में कहा जाय तो, पूँजीपतियों द्वारा समर्थित एक ऐसी काव्यधारा है, जो आज भी प्राणपण से प्रगतिवाद का विरोध कर रही है। छायावाद से पूँजीपतियों एवं प्रतिक्रियावादी शक्तियों को कोई भय नहीं था, क्योंकि छायावाद सामाजिक विद्रोह की बात नहीं करता था। मगर जब सन् १६३६-३७ के लगभग छायावाद का पतन होने लगा और प्रगतिवाद नवीन युग-चेतना की प्रतिध्वनि करता हुआ आगे बढ़ा, तो इन लोगों के कान खड़े हुए। इसका कारण यह था कि प्रगतिवाद ने शोषित-वर्ग का समर्थन किया था और उसके प्रखर स्वरों में सामान्य दुःखी-दलित जनता का क्षोभ मुखरित हो उठा था। यह देखकर पूँजीपतियों एवं 'कला कला के लिए' सिद्धान्त के समर्थक कलाकारों ने प्रगतिवाद को बुरी तरह बदनाम करना आरम्भ कर दिया। परन्तु यह करने पर भी जब प्रगतिवाद की सशक्त जनवादीधारा उनके रोके न रुक सकी तो उन्होने एक ऐसी काव्य-धारा का प्रणयन कराया, जिसमें हमारी ऐसी समस्याओं को प्रधानता दी गई, जिनसे हमारी दैनिक और सामाजिक समस्याओं का कोई सम्बन्ध नहीं था। हमारे अनेक उदीयमान तरुण

कलाकारों का सारा ध्यान और सारी शक्ति तकनीक (शैली) के नवीन प्रयोगों की तरफ लगा दी गई। इसके लिए यूरोप से कलावादी-साहित्य का आयात किया गया और उसका प्रचार कर नए कवियों का ध्यान एक ऐसे साहित्य का सृजन करने में लगा दिया गया, जो जनवादी हो चाहे न हो; परन्तु विलक्षण, अद्‌भुत, दुरूह और ऐसा अवश्य हो जिसे पढ़कर पाठक आश्चर्यचकित हो उठें, भले ही उसे समझ पाएँ या न समझ पाएँ, परन्तु यह अवश्य कहें कि नई बात कही है। उदाहरण के लिए, प्रयोगवादी कविता का एक नमूना ही यथेष्ट होगा।

"अगर कहीं मैं तोता होता !
तो क्या होता ?
तोता होता !
तो क्या होता ?
(आह्लाद से झूमकर)
तो तो तो तो ता ता ता ता
(निश्चय के स्वर में)
होता होता होता होता !"

इस कविता का भाव, भाषा, शैली, संवेदना आदि की दृष्टि से क्या मूल्य हो सकता है? इसका निर्णय यदि पाठकों पर ही छोड़ दिया जाय तो अच्छा रहेगा। अधिकांश प्रयोगवादी कविताएँ ऐसी ही निरर्थक, ऊटपटाँग और रद्दी होती हैं।

समाजविरोधी वैचित्र्य-प्रिय काव्यधारा

ऐसी ही कविताओं को देखकर पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा था—"प्रयोगवादी साहित्यकार से साधारणतः उस व्यक्ति का बोध होता है, जिसकी रचना में कोई तात्त्विक अनुभूति, कोई स्वाभाविक क्रम-विकास या कोई सुनिश्चित व्यक्तित्व न हो" डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल भी प्रयोगवादियों से क्षुब्ध हैं। वे इनके प्रयत्नों को थोथा और निस्सार मानते हैं। उनका कहना है—'वैचित्र्य-विधान के मोह में पड़कर प्रयोगवादी कलाकारकला की आत्मा की बड़ी निर्मम हत्या करके भी यह समझता है कि उसने आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए पुण्य-पथ का प्रदर्शन किया है। यहाँ वह भूल जाता है कि वैचित्र्य-विधान ही काव्य नहीं।.........ऐसे स्वयम्भू कवियों की अहम्मन्यता के परिणामस्वरूप ही

साहित्यिक क्षेत्र में विकृति उत्पन्न हो रही है।" शिवदानसिंह चौहान प्रयोगवाद को 'त्रिशंकुओं का साहित्य' कहते हैं—जिनका इस लोक से तो सम्पर्क छूट ही जाता है, परन्तु वे दूसरे लोक भी नहीं पहुँच पाते। इतनी बात जरूर है कि अपने काव्य-सृजन द्वारा उन्हें भौतिक सुख-सुविधाएँ प्रचुर मात्रा में अवश्य उपलब्ध हो जाती हैं।

प्रयोगवाद का असली रूप

प्रबुद्ध आलोचक डॉ० रामविलास शर्मा ने प्रयोगवादियों की इसी रुग्ण, कुत्सित मनोवृत्ति का पर्दाफास करते हुए लिखा है—"रूपकारों में प्रयोग करने की स्वाधीनता को हिन्दी में 'प्रयोगवाद' का नाम दिया गया है।.........प्रयोगवाद अज्ञेय-जैसे कलाकारों की सामाजिक उत्तरदायित्व से बरी होने की माँग है। प्रयोगवाद का कला सिद्धान्त है, कला कला के लिए। उसकी विषयवस्तु पराजय और कुण्ठा के रस में डूबी हुई है; उसका रूप कुरूपता का पर्याय है।.... प्रयोगवाद भय-ग्रस्त प्राणियों की पुकार है। यह भय उन्हें भविष्य से है, जन-आन्दोलन से है, अपनी साहित्यिक परम्परा से है, जिससे बचकर वह अपनी मौलिकता प्रमाणित करने के लिए बुरी तरह उत्सुक दिखाई देते हैं।........ विषय-वस्तु में निकम्मापन, निरर्थकता, निरुद्देश्यता, कभी लुढ़की सुराही पर, कभी अपने पर अतुकान्त आहें भरना, यह है प्रयोगवाद। कवियों के लिए जन-जीवन या तो है नहीं, या है तो उन्हीं जैसा विकृत और निरुद्देश्य।"

प्रयोगवादियों के झूठे दावे

डॉ० शर्मा द्वारा किया हुआ प्रयोगवाद का उपर्युक्त मूल्यांकन प्रयोगवादियों के असली रूप को उघाड़कर सामने रख देता है। प्रयोगवादी कवियों का दावा है कि वे संस्कृति के रक्षक हैं और जनभाषा को अधिक सम्पन्न बनाने में लगे हुए हैं। वे 'सायर, सिंह, सपूत' की तरह पुरखों की बनी-बनाई लीक पर न चलकर नवीन राहों का अन्वेषण कर रहे हैं। प्रयोगवादी कवि एवं प्रयोगवाद के प्रबल समर्थक डॉ० देवराज का कहना है कि पहली बात तो यह कि पुरानी कविता रूढ़िग्रस्त एवं अरोचक हो उठी है। दूसरे, काव्य भाषा को जन-भाषा के निकट लाना है अथवा काव्य-निबद्ध अनुभूति को जन-जीवन के सम्पर्क में लाना है। तीसरे, बदले हुए जीवन की नई सम्भावनाओं के उद्घाटन के लिए अथवा नये मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए नवीन प्रयोग करने हैं। उन्हीं के शब्दों में

"नई शैली का अर्थ है—जीवन का अनुभूत जगत को अभिव्यक्ति देना।" इस वक्तव्य को ईमानदारी से भरा हुआ मान लिया जाय तो इस काव्य की सम्भावनाएँ बड़ी ऊँची दिखाई पड़ती हैं; परन्तु हो इसके विपरीत रहा है। इस काव्य द्वारा न तो जन भाषा का संस्कार हो पा रहा है, और न काव्य-निबद्ध अनुभूति ही जन-जीवन के सम्पर्क में आ रही है। कहा कुछ जाता है और किया कुछ जाता है। इसीकारण साहित्य की गतिविधि पर सतर्क दृष्टि रखने वाले साहित्यकार इस नवीन काव्य से चौंक उठे थे और इसका निरन्तर विरोध करते रहे।

अनुभूति-शून्य काव्यधारा

इन कवियों की अनुभूति ऐसी नहीं होती जिसे साधारण जन समझ सकें। भाषा भी इनकी ऐसी ऊटपटाँग और कभी-कभी इतनी दुरूह होती है कि उसे कोई भी समझ नहीं पाता। उनके प्रतीक और उपमाएँ सहज-बोधगम्य नहीं होतीं। कुछ थोड़ी-सी कविताओं को छोड़कर शेष सम्पूर्ण प्रयोगवादी काव्य एक लक्ष्यहीन भ्रान्त पथिक के समान आकाश-कुसुम तोड़ लाने की आशा से भरा, मुँह ऊपर उठाए चला जा रहा है। प्रयोगवादी कवि यह भूल जाता हैं कि वर्णन-मात्र ही काव्य नहीं है। वर्ण्य विषय के साथ जब तक कवि की सच्ची अनुभूति का योग नहीं होगा, तब तक उसका काव्य प्रभाव नहीं डाल सकेगा, और नवीनता के एकान्त मोह में उलझे हुए इन कवियों का अनुभूति से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। जिसे वे सच्ची अनुभूति कहते हैं वह ऊपर से थोपी हुई, उधार ली गई अथवा विदेशी साहित्य की भोंड़ी नकल मात्र है; और यदि अनुभूति है तो वह इतनी कुंठित और व्यक्तिपरक है कि समाज से उसका दूर-दराज का भी सम्बन्ध नहीं दिखाई देता। सच्चा कवि वह है जो सामाजिक अनुभूति को वैयक्तिक अनुभूति का रूप प्रदान करने में सफल हो सके।

निरर्थक प्रयोग से भरा काव्य

पं० नन्ददुलारे वाजपेयी प्रयोगवाद की इन्हीं कमियों को देखकर उसकी भर्त्सना करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं—"किसी भी अवस्था में यह प्रयोग का बाहुल्य वास्तविक साहित्य-सृजन का स्थान नहीं ले सकता। प्रयोगों में और काव्यात्मक निर्माण या सृजन में जो मौलिक अन्तर है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। विशेषकर, काव्य का क्षेत्र प्रयोगों की दुनिया से बहुत दूर है। कवि सबसे पहले अपनी अनुभूतियों के प्रति उत्तरदायी है। वह उनके साथ खिलवाड़ नहीं कर सकता। उसका दूसरा उत्तरदायित्व काव्य-परम्परा

और काव्यात्मक अभिव्यक्ति के प्रति है। वह किसी भी अवस्था में ऐसे प्रयोगो का पल्ला नहीं पकड़ सकता, जिनका उस काव्य के भावगत और भाषागत संस्कारों से तथा उन दोनों के स्वाभाविक विकास-क्रम से सहज-सम्बन्ध नहीं है।"

अन्त में, उन्होंने अपने निश्कर्ष को निम्नलिखित तीन भागों में विभाजित कर दिया है—

१. प्रयोगवादी रचनाएँ पूरी तरह काव्य की चौहद्दी में नहीं आतीं। वे अतिरिक्त बुद्धिवाद से ग्रसित हैं।

२. प्रयोगवादी रचनाएँ वैचित्र्य-प्रिय हैं, वृत्ति का अभिनिवेश उनमें नहीं है।

३. प्रयोगवादी रचनाएँ अनुभूति के प्रति ईमानदारी नहीं हैं और सामाजिक उत्तरदायित्व को भी वहन नहीं करतीं।

प्रयोगवादियों ने काव्य के अतिरिक्त कथा-साहित्य और समीक्षा के क्षेत्रों में भी कुछ नवीन प्रयोग किए थे, परन्तु उसमें भी उन्हें बुरी तरह असफल होना पड़ा था। उनकी एक भी कृति लोकप्रियता प्राप्त न कर सकी।

प्रश्न १८—सिद्ध कीजिए कि आधुनिक काल का साहित्य मध्यकाल के साहित्य की अपेक्षा अधिक सम्पन्न और आशाजनक है।

उत्तर—भक्तिकालीन साहित्य का महत्त्व

हिन्दी-साहित्य का मध्यकाल अपने विस्तार में भक्तिकाल और शृंगार काल (रीतिकाल)—दोनों को समेट लेता है। भक्तिकाल और शृंगारकाल को आचार्य शुक्ल ने क्रमशः पूर्व-माध्यमिक काल और उत्तर-माध्यमिक काल कहा है। इस काल में जिस भारी परिमाण में साहित्य सृजन हुआ, उसका सहज अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता। इस पूरे काल में हजारों मुक्तक और प्रबन्ध-काव्य रचे गए थे। भक्तिकाल तो हिन्दी-साहित्य का 'स्वर्ण-युग' ही माना गया है। इस युग में निर्गुण-शाखा के कवियों में कबीर ने ज्ञानमार्ग और जायसी ने प्रेममार्ग का नेतृत्व किया और सगुण शाखा के भक्त-कवियों में तुलसी ने रामभक्ति की और सूर ने कृष्णभक्ति की अगाध सरिताएँ प्रवाहित कीं। इन भक्तों ने संसार के बाहरी आकर्षणों से माया-मोह तोड़कर निराकार तथा साकार ब्रह्म के प्रति अपने जीवन की समस्त आकांक्षाओं को अर्पित कर दिया। इनका काव्य, आत्मा का काव्य है। अपनी आत्मा को अपने आराध्य

परमात्मा के निकट ले जाने में ही इनकी सम्पूर्ण शक्ति क्रियाशील रही; परन्तु साथ ही, वे वाह्य संसार के प्रति भी सजग रहते थे। अपनी तन्मयता में डूबे हुए वे जनता के प्रति भी देख लिया करते थे। तुलसी तो पूरे समाज को, उसकी समस्त संगति-विसंगति को साथ लेकर चले थे। कबीर ने सामाजिक विषमता और धार्मिक आडम्बरों की खुलकर भर्त्सना की थी। इसी कारण आज भारतीय जन-मानस पर इन कवियों का इतना गहरा प्रभाव छाया हुआ है। सामाजिक दृष्टि से जन-मानस को प्रभावित करने की दृष्टि से कबीर और तुलसी भक्तिकाल के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जा सकते हैं और गहन आत्मानुभूति के क्षेत्र में सूर सर्वश्रेष्ठ हैं।

शृंगारकाल : चमत्कार और शृंगार का प्राधान्य

शृंगारकाल का साहित्य दरबारों में पनपा था। संस्कृत-काव्यशास्त्र के पिछले खेमे के कवियों के अनुकरण पर हिन्दी में रीति,ग्रन्थों की रचना और शृंगार रस के वर्णन में इस काल के कवि उसी प्रकार लगे रहे, जिस प्रकार भक्त-कवि अपने इष्टदेव के ध्यान में। इन कवियों के लिए 'नारी' ही रामायण बन गई। ये कवि नारी के अंग-प्रत्यंग के निरीक्षण और उनका वर्णन में ही अपनी सारी शक्ति लगाने में ब्रह्मानन्द का अनुभव करते थे। मनोविज्ञान के पण्डित को भी उनकी इस गहराई को देखकर आश्चर्य होगा। इन कवियों में कवि-आचार्य और केवल कवि—दोनों ही प्रकार के साहित्यकार थे; परन्तु दोनों का ही दृष्टिकोण अपनी चमत्कारपूर्ण शृंगारमयी उक्तियों द्वारा अपने आश्रयदाताओं को रिझाने के साथ ही अपनी तथा अपने आश्रयदाताओं की मानसिक वासना को तृप्त करना था। इस चमत्कार-प्रदर्शन के आवेश से काव्य का कलापक्ष तो प्रौढ़ हो गया, लेकिन भावपक्ष में एकरसता आ गई। यह साहित्य जन-जीवन से बहुत अंशों तक दूर रहा। उसमें जनता के दुःख-दर्द की कोई चिन्ता नहीं मिलती। घनानन्द आदि रससिद्ध कवि भी प्रेम-भावना का अनुभूतिपरक वैयक्तिक चित्रण करने में ही व्यस्त रहे। समष्टि रूप से, शृंगारकालीन साहित्य में समाज पूरी तरह से उपेक्षित ही बना रहा।

मध्यकालीन साहित्य : एकांगी साहित्य

इन दोनों कालों के साहित्य में एकांगिता थी। एक में यदि आध्यात्मिकता प्रमुख थी तो दूसरे में विलासिता। एक भगवान के दरबार में फूला-फला तो दूसरा भगवान् के अंश 'राजा' के दरबार में। एक में भावपक्ष की प्रधानता

थी तो दूसरे में कलापक्ष ही सब कुछ था। समष्टि रूप से, जीवन की विविधता का दोनों में ही अभाव था। सामान्य जनता के जीवन से दोनों भिन्न-भिन्न अर्थों में दूर थे। परिणाम यह हुआ कि माध्यमिक काल के भक्ति और रीति—दोनों प्रकार के साहित्य में परिणाम की अधिकता होते हुए भी सामाजिक जीवन के बहुमुखी चित्रण की कमी थी।

आधुनिक साहित्य : पूर्ण बहुमुखी

व्यापकता और सम्पन्नता की दृष्टि से आधुनिक काल का साहित्य मध्ययुगीन साहित्य से अधिक पूर्ण, श्रेष्ठ और विस्तृत है। सबसे पहली बात तो यह है कि मध्यकाल का साहित्य केवल पद्य में है। गद्य का वहाँ पूर्ण अभाव है। आधुनिक काल के साहित्य में गद्य और पद्य—दोनों का प्राचुर्य है; पद्य में केवल हृदय-पक्ष का प्रदर्शन किया जा सकता है, बुद्धि पक्ष का कम; परन्तु जीवन की पूर्णता इन दोनों के समन्वय से ही आती है। इस दृष्टि से आधुनिक साहित्य पूर्ण है, क्योंकि इसमें इन दोनों का सन्तुलित समन्वय मिलता है, यद्यपि आजकल बुद्धिवाद का प्राधान्य होता जा रहा है। गद्य, पद्य की अपेक्षा अधिक यथार्थपरक होता है; उसमें विश्लेषण करने की अधिक क्षमता होती है। हिन्दी में भारतेन्दु-काल से लेकर आज तक गद्य की धारा अबाध गति से बहती चली आ रही है। इस काल में नाटक, निबन्ध, उपन्यास, कहानी, आलोचना आदि गद्य की अनेक विधाओं का अत्यन्त प्रौढ़ विकास हुआ है। आजकल रेखाचित्र, इण्टरव्यू, रेडियो-नाटक, ध्वनि-नाटक, रिपोर्ताज आदि नवीन विधाओं के भी दर्शन होने लगे हैं—जो गद्य की बहुमुखी प्रगति के प्रतीक हैं। आज हिन्दी राष्ट्रभाषा हो गई है, इसलिए उसका वैज्ञानिक साहित्य भी बड़ी तीव्र-गति से उन्नति कर कर रहा है। विज्ञान की विभिन्न शाखाओं से सम्बन्धित पारिभाषिक शब्दकोश बनाए जा रहे हैं। इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, भाषा-शास्त्र, शिक्षा-शास्त्र आदि विषयों पर हिन्दी में अनेक सुन्दर ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं।

जीवन का पूर्ण प्रतिनिधि : आधुनिक साहित्य

न केवल गद्य, वरन् पद्य में भी विभिन्न विषयों की रचनाएँ हो रही हैं। राष्ट्रीयता, अन्तरराष्ट्रीयता, प्रकृति-प्रेम, सामाजिक क्रान्ति आदि—सभी कुछ काव्य-माध्यम से अभिव्यक्ति पा रहे हैं। सारांश यह है कि सम्पूर्ण मानव-समाज और जीवन आज की कविता के विषय बन गए हैं। कविता में नए-नए

विचारों के साथ नई-नई तकनीकों के प्रयोग भी हो रहे हैं। देश की अन्य भाषाओं में रचित साहित्य के साथ आज हम कदम मिलाकर चलने का प्रयत्न कर रहे हैं। विदेशी साहित्य की लगभग सभी प्रवृत्तियों के दर्शन हमारे साहित्य में होने लगे हैं। आज हमारा लक्ष्य सम्पूर्ण मानवता है। सबसे बड़ी बात यह है कि साहित्य आज जन-जीवन के साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाकर चल रहा है। आज कोरी कल्पना और भावुकता के लिए उसमें अधिक स्थान नही रहा है। अब वह जीवन के यथार्थ को अपनाने लगा है। उसे जनता से सीधी प्रेरणा मिल रही है। कबीर, जायसी, तुलसी आदि के साहित्य को छोड़कर मध्यकाल का अधिकांश साहित्य जनता से दूर रहा था। आज साहित्य और जनता की वह दूरी समाप्त हो गई है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आधुनिक काल का साहित्य मध्यकाल के साहित्य से अधिक व्यापक, विस्तृत और सम्पन्न है। विविधता और व्यापक दृष्टिकोण के साथ-साथ गहरा जन-सम्पर्क उसकी विशेषता है। इतना अवश्य है कि जो एकान्त गहराई मध्यकालीन साहित्य में है, वह इस साहित्य में नहीं है। इसका कारण—इसकी बहुमुखी प्रगति है। आज के कलाकार इस अभाव की पूर्ति करने में संलग्न हैं, जिसे देखते हुए हमारे साहित्य का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल दिखाई दे रहा है।

स्वातन्त्र्योत्तरकालीन हिन्दी-साहित्य

प्रश्न १—स्वातन्त्र्योत्तरकालीन हिन्दी-साहित्य की प्रगति का विहंगावलोकन करते हुए सिद्ध कीजिए कि इस काल के साहित्य में अपेक्षाकृत अधिक गहराई और विस्तार आया है।

उत्तर—**गतिरोध की भ्रान्ति**

हम गत पृष्ठों में आधुनिक काल के हिन्दी-साहित्य की विभिन्न विधाओं में देश को आजादी मिलने से पूर्व हुए रचनात्मक कार्यों पर प्रकाश डाल चुके हैं; परन्तु भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त होने के उपरान्त हिन्दी-साहित्य में जो नवीन परिवर्तन और विस्तार आया है, वह हिन्दी-साहित्य के इतिहास की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय घटना है। छायावाद के पतन और प्रगतिवाद के अभ्युदय तक हिन्दी-साहित्य में काफी काम हो चुका था। विगत द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान हिन्दी-साहित्य में एक तथाकथित गतिरोध की-सी स्थिति आ गई थी, जिसे लेकर यह आवाज उठाई गई थी कि हिन्दी-साहित्य प्रसाद-प्रेमचन्द-शुक्ल तक ही समाप्त-सा हो गया था और इस साहित्यिक त्रिमूर्ति के निधन के उपरान्त हिन्दी-साहित्य में कोई भी उल्लेखनीय कार्य नहीं हो सका। साहित्यकारों की सृजनात्मक शक्तियाँ कुण्ठित हो गई थीं। (प्रेमचन्द का १९३६ में; प्रसाद का १९३७ में तथा शुक्ल जी का १९४२ में निधन हो चुका था।) पुराने खेमे के आलोचक इस स्थिति से चिन्तित हो उठे थे और उन्होंने घोषणा की थी कि हिन्दी-साहित्य में गतिरोध की स्थिति उत्पन्न हो गई है, और हिन्दी का भविष्य अन्धकारमय है। इसी भ्रांतिपूर्ण दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण एवं निराकरण करने के लिए आजादी के पिछले ३३-३४ वर्षों में हुई हिन्दी-साहित्य की प्रगति का पृथक् रूप से विवेचन करना आवश्यक हो गया है।

भ्रान्ति के कारण

उस समय साहित्य में गतिरोध-सा दिखाई पड़ने के कई कारण थे। पहला कारण था कि प्रसाद-प्रेमचन्द-शुक्ल के निधन के उपरान्त हिन्दी में आगे

वैसी सशक्त युग-प्रवर्तनकारी प्रतिभाओं के दर्शन नहीं हुए। इन तीनों के साहित्य में कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध, आलोचना और कविता—साहित्य की इन प्रमुख विधाओं के उन्नततम रूप के दर्शन हुए थे। परन्तु इनके निधन के उपरान्त साहित्य की किसी भी विधा में कोई भी ऐसा दूसरा व्यक्तित्व उभर कर सामने नहीं आया जो इस त्रिमूर्ति द्वारा रिक्त किए स्थान की पूर्ति कर सकता। महादेवी, निराला, पन्त, वृन्दावनलाल वर्मा, हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० रामविलास शर्मा आदि साहित्य-सृजन कर रहे थे; परन्तु छायावाद के उपर्युक्त तीनों कवियों ने या तो अपनी दिशाएँ बदल दी थीं या वे उसके उपरान्त कोई अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, युग पर समग्र प्रभाव डालने वाली कृतियाँ प्रस्तुत करने में असमर्थ रहे थे। वर्माजी निरन्तर साहित्य-साधना में रत रहे और उन्होंने महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक उपन्यास हिन्दी-संसार को भेंट किये; परन्तु प्रेमचन्द के समान वे अपना समग्र प्रभाव नहीं डाल सके। वह ऐतिहासिक उपन्यासों तक ही सीमित होकर रह गए। हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि आलोचक सभी निर्माण-पथ पर थे। उनके दृष्टिकोण में नवीनता, विविधता और व्यापकता तो आ रही थी; परन्तु शुक्लजी जैसी सशक्त सारग्राहिणी प्रतिभा और पुष्ट मौलिक चिंतन का अपेक्षित रूप नहीं उभर पा रहा था। इस स्थिति को देखकर पुराने खेमे के आलोचकों ने यह आवाज उठाई कि हिन्दी-साहित्य में गतिरोध आ गया है और राष्ट्रभाषा-पद की अधिकारिणी हिन्दी का भविष्य उज्ज्वल नहीं रहा है। इस दृष्टिकोण का एक और भी कारण था। पुराने आलोचकों और साहित्यकारों की अपनी पुरानी मान्यताएँ और सीमाएँ थीं। वे उन्हीं से चिपके हुए थे। साहित्य के समालोचन का उनका एक निश्चित मापदण्ड बन गया था, और उसी के आधार पर वे नवीन साहित्य को परखने का प्रयत्न करते थे। जब इस साहित्य में उन्हें अपनी उन पुरानी मान्यताओं का खण्डन अथवा अवहेलना होती दिखाई पड़ती थी तो वे हिन्दी के भविष्य के प्रति शंकित हो उठते थे, जो उनकी सीमाओं और प्रवृत्तियों तथा चिन्तन-धारा को देखते हुए स्वाभाविक था।

परिवर्तित परिस्थितियों का प्रभाव

परन्तु अब परिस्थितियाँ बदल चुकी थीं। सन् १९४२ के देश-व्यापी आन्दोलन और अंग्रेज-सरकार द्वारा किया गया उसका दमन, सन् १९४६ का भारतीय नाविक विद्रोह तथा द्वितीय विश्वयुद्ध से उत्पन्न अन्तर्राष्ट्रीय परि-

स्थितियों ने भारत को दासता के चंगुल से मुक्त कर दिया था। इस युद्ध में इंगलैण्ड इतना निर्बल और निर्धन हो चुका था कि उसने भारत से चले जाने में ही अपनी भलाई समझी। परिस्थितियों के बदलने से साहित्य एवं जीवन के प्रति भारतीयों के दृष्टिकोण में अन्तर आ रहा था। स्वाभिमान और विद्रोह की भावना से परिपूर्ण राष्ट्रभाषा में ध्वंस एवं विनाश के स्वरों के स्थान पर उल्लासपूर्ण नव-निर्माण के स्वर मुखरित होने लगे थे। देश के आजाद होते ही सारा हिन्दी-साहित्य एकबारगी ही स्वदेश-प्रेम एवं जन-प्रेम के सुमधुर गीतों से गूंज उठा था। परन्तु यह उल्लास क्षणजीवी बनकर ही रह गया। क्योंकि एक लम्बे संघर्ष और साधना के उपरान्त प्राप्त इस आजादी ने जनमानस की आशा-आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं की थी। आजादी का उल्लास भावात्मक अतः क्षणिक बनकर ही समाप्त हो गया, उसका जनकल्याणकारी रूप उभर कर सामने नहीं आ सका।

भयानक समस्याओं से आक्रान्त स्थिति

जब आजादी के इस नवीन उल्लास का खुमार उतरा तो साहित्य ने पुनः जीवन का निरीक्षण किया और अपने को नई-नई समस्याओं से आक्रांत पाया। यह आजादी सन् १९४६ और १९४७ के भयंकर जनसंहार एवं देश के विभाजन के उपरान्त प्राप्त हुई थी। शरणार्थियों की समस्या मुँह बाये सामने खड़ी थी। उन्हें यह आजादी बहुत महँगी पड़ी थी, इसलिए उनके मन में इसके प्रति सहज आक्रोश था। साम्प्रदायिकता की भावना ने देश में साम्प्रदायिक-वैमनस्य का भयानक-वातावरण उत्पन्न कर दिया था। प्रतिक्रिया-स्वरूप साहित्य में परिस्थितियों की इस विषमता का स्वर भी उसी शक्ति के साथ प्रतिध्वनित हुआ, जिस उमंग के साथ उल्लास मुखरित हुआ था।

आक्रोश और विद्रोह के स्वर

आजादी के बाद जीवन-निर्वाह की समस्या विषमतर होती चली गई। युद्ध-जनित तथा विभाजन के कारण उत्पन्न हुई देश-व्यापी महँगाई और व्यापारियों की मुनाफाखोरी ने साधारण जनता को संकट में डाल दिया। सरकार के अव्यावहारिक और परमुखापेक्षी आदर्शवादी दृष्टिकोण और समाज तथा शासन तंत्र में छाये भ्रष्टाचार ने आजादी की सारी उमंग को धूल में मिला दिया। एक तरफ देशी पूँजीपति प्रत्यक्ष रूप से तथा विदेशी पूँजीपति अप्रत्यक्ष रूप से जनता के धन एवं श्रम का शोषण करने लगे, दूसरी तरफ सरकार विभिन्न

योजनाओं की पूर्ति के लिए नए-नए करों का बोझ डाल एवं विदेशी ऋण ले-ले कर जीवन-निर्वाह को और भी विषम-भयंकर बनाती रही। इसलिए साहित्य में इस स्थिति के विरुद्ध आक्रोश एवं विद्रोह के स्वर पुनः फूट पड़े। हमारे नए शासक अंग्रेजों के देशी संस्करण ही नहीं, बल्कि उनसे भी अधिक भ्रष्ट और सामान्य जन-जीवन की उपेक्षा करने वाले प्रमाणित हुए। सरकारी शासन-तंत्र अंग्रेजों के जमाने का ही बना रहा; उसमें रंचमात्र भी परिवर्तन नहीं हो पाया।

साहित्यिक उथलेपन के कारण

संविधान द्वारा हिन्दी राष्ट्रभाषा घोषित कर दी गई। अब हिन्दी का दायित्व और भी अधिक बढ़ गया। हिन्दी को समृद्ध बनाने के प्रयत्न शुरू हुए। साहित्य के विभिन्न अंगों की समृद्धि की समस्या सामने आई और हिन्दी-संसार अपनी समृद्धि और अपने सम्मान की रक्षा के लिए प्राणपण से जुट गया। इस नवीन प्रयत्न के कारण साहित्य में विस्तार आया, नये-नये दृष्टिकोण उभरे, समस्याओं के नये-नये हल प्रस्तुत किये गए; और इन सबके कारण वह गहराई न आ पाई, जो हम प्रसाद-प्रेमचन्द-शुक्ल के युग में देख चुके थे। विस्तार के साथ उथलापन आता ही है, गहराई तो लम्बी साधना के उपरान्त आती है। विस्तार के उपरान्त गहराई का आना अनिवार्य होता है। पिछले तीन दशकों का हिन्दी-साहित्य उसी विस्तार का रूप है। अब धीरे-धीरे उसमें गहराई आने लगी है।

साहित्य का उभरता नया रूप

पिछले तीन दशकों में हिन्दी-साहित्य की लगभग सभी विधाएँ उन्नत हुई हैं; परन्तु आलोचना तथा कथा-साहित्य के क्षेत्र में जितना काम हुआ है, उतना अन्य क्षेत्रों में नहीं हो पाया है। कविता, नाटक, संस्मरण, रेखाचित्र, आत्मकथा, जीवनचरित्र आदि के क्षेत्र में कम काम हुआ है। आज प्रकाशक आलोचना और उपन्यास छापने के लिए तो तुरन्त प्रस्तुत हो जाते हैं; परन्तु कविता अथवा नाटक प्रकाशित करने में आनाकानी करने लगते हैं। इसका कारण—जनता की माँग तथा कविता और नाटकादि के स्तर का हीन और लोकप्रिय न होना भी माना जा सकता है। प्रसाद, निराला, पन्त आदि के कविता-संग्रहों की आज भी माँग है; परन्तु नवीन कवियों के कविता-संग्रहों को कोई भी खरीद कर नहीं पढ़ना चाहता। प्रेमचन्द के युग का कथा-साहित्य आज भी उतना ही लोकप्रिय है, जितना कि पहले था। कथा-साहित्य के प्रति जनता के हृदय में

एक सहज आकर्षण है। आलोचना विद्यार्थियों, शोध-छात्रों एवं विद्वानों में समान रूप से लोकप्रिय है। नाटकों में एकांकी नाटकों की एक लहर-सी आई थी, जिसने बड़े नाटकों की लोकप्रियता को काफी कम कर दिया था। इधर बड़े नाटक भी काफी लिखे गये, फिर भी लोकप्रिय होने में असफल रहे। इसका प्रमाण यह है कि हम आज भी बँगला, मराठी आदि भाषाओं के नाटकों का अनुवाद कर उन्हें अभिनीत करते रहते हैं। गद्य-गीतों का तो एकान्त अभाव है। पत्र-पत्रिकाओं में भूले-भटके कभी-कभी एकाध गद्य-गीत दिखाई पड़ जाता है। इधर संस्मरण काफी लिखे गये हैं और लोकप्रिय होते जा रहे हैं। पिछले कुछ वर्षों में बड़े सुन्दर जीवन-चरित्र, आत्मचरित्र, रिपोर्ताज, निबन्ध आदि लिखे गये हैं, जो स्तर की दृष्टि से श्रेष्ठ और भव्य हैं। पिछले कुछ वर्षों से हिन्दी-साहित्य में एक नया परिवर्तन होना आरम्भ हुआ है। अब साहित्यकार वादों का मोह त्याग जन-जीवन के साथ घनिष्ठतर होने का प्रयत्न करने लगे हैं। कलावादी आग्रह कम होता चला जा रहा है।

व्यापक शोध कार्य

अनुसन्धान के क्षेत्र में इधर बहुत काम हुआ है। हमारे विश्वविद्यालयों ने इस क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया है। भाषा-शास्त्र, भाषा-सम्बन्धी समस्याओं, समीक्षा के नवीन एवं प्राचीन सिद्धान्तों तथा समस्याओं,मध्य एवं शृंगारकालीन साहित्य के नवीन मूल्यांकन, हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में रचित साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन आदि के क्षेत्र में बहुत काम हुआ है। कोश-निर्माण के क्षेत्र में भी इधर अप्रत्याशित प्रगति हुई है। विभिन्न विषयों से सम्बन्धित नये-नये कोश बन रहे हैं। सरकार एवं विभिन्न संस्थाएँ विद्वानों को शोधकार्य में दक्षता प्राप्त करने के लिये विदेश भेज रही हैं।

अभूतपूर्व विस्तार और विविधता

पत्र-पत्रिकाओं के क्षेत्र में इधर पर्याप्त वृद्धि हुई है। पुरानी पत्रिकाओं के साथ-साथ नई-नई पत्रिकाएँ भी प्रकाशित हो रही हैं। 'समालोचक', 'आलोचना', 'माध्यम', 'साहित्य-संदेश' जैसे आलोचनात्मक पत्र साहित्य की इन नवीन गति-विधियों का मूल्यांकन करते हुए उसका दिशा-निर्देश करने का प्रयत्न करते रहे हैं। साहित्य के हर क्षेत्र में नवीन उत्साह और नवीन लगन है। बंगाल, तमिलनाडु आदि प्रान्तों में हो रहे हिन्दी-विरोधी आन्दोलनों से हिन्दी-संसार सतर्क हो उठा था। परन्तु अब यह विरोध धीरे-धीरे शान्त होता जा रहा है। आज प्रत्येक

हिन्दी-प्रेमी को इस बात की चिन्ता है कि हमारा साहित्य समृद्ध बने। ऐसी स्थिति में यह कहना कि हिन्दी में गतिरोध की स्थिति है या थी असंगत एवं भ्रामक है। अभी विस्तार का युग है, आगे चलकर गहराई भी आ जायेगी। पुरानी मान्यताएँ टूटती जा रही हैं। उनके पोषकों की आवाज भी क्षीण होती जा रही है। प्रगति के इन क्षणों में प्राचीन मान्यताओं से चिपके रहना घातक होगा। नवीन दृष्टिकोण कहीं आकाश से नहीं आ टपकता। उसकी उत्पत्ति जीवन की प्रतिपल बदलती रहने वाली स्थितियों और उनके कारण उत्पन्न होने वाली समस्याओं से होती है। आज का हिन्दी-साहित्य इन नवीन समस्याओं के प्रति सजग है। सम्भवतः हिन्दी साहित्य के सम्पूर्ण इतिहास में ऐसा युग कभी नहीं आया, जिसमें इतना विस्तार और इतनी विविधता आई हो। दृष्टि-कोणों में भिन्नता अवश्य है। स्वस्थ और अस्वस्थ—दोनों ही प्रकार के दृष्टि-कोण सामने आ रहे हैं; परन्तु समय की प्रगति अस्वस्थ का विनाश कर स्वस्थ को आगे बढ़ाती चली जा रही है। प्रयोगवाद-जैसा विनाशकारी एवं अस्वस्थ दृष्टिकोण समाप्तप्राय हो चुका है।

उज्ज्वल भविष्य की झलक

संक्षेप में, हिन्दी-साहित्य की वर्तमान प्रगति पर्याप्त शक्तिशाली, बहुमुखी, व्यापक एवं संतोषजनक है। उमड़ती हुई नदी की धारा में कूड़ा-करकट भी बहता चला आता है, परन्तु समय का प्रभाव इस गंदगी को दूर कर नदी की धारा को पुनः स्वच्छ एवं निर्मल बना देता है। इसलिए हमें साहित्य की वर्त-मान धारा में उत्पन्न विकृतियों से अधिक आशंकित नहीं होना चाहिए। जैसे समय में 'हालावाद' को समाप्त कर दिया था, वैसे ही समय 'प्रयोगवाद' जैसे विकृत दृष्टिकोण को भी समाप्त कर साहित्य की धारा को निर्मल बना देगा, क्योंकि विकृति कभी भी अधिक समय तक नहीं टिक पाती और अब तो 'प्रयोगवाद' भी इतिहास की वस्तु बन चुका है।

प्रश्न २—पिछले तीन दशकों के आलोचना-साहित्य की विवेचना करते हुए सिद्ध कीजिए कि इसमें पर्याप्त विस्तार और गहराई आई है।

उत्तर—आलोचना : सर्वाधिक व्यापक-विस्तृत विधा

हिन्दी में, सन् १६५८ में प्रकाशित होने वाले आलोचनात्मक मासिक 'समालोचक' का उद्घाटन करते हुए बाबू गुलाबराय ने कहा था, "साहित्य जब स्वयं आत्मचिन्तन करने लगता है, तभी आलोचना का जन्म होता है।

जिस प्रचुर मात्रा में लक्ष्य-ग्रन्थों का हिन्दी में सृजन हो रहा है, उसके देखते हुए यह आवश्यकता प्रतीत होती है कि साहित्य का मूल्यांकन कर, उनकी गति विधि निश्चित करने के लिए आलोचना-साहित्य का विकास हो।" पिछले तीन दशकों की हिन्दी-आलोचना उक्त कथन का प्रमाण है। इन ३० वर्षों में हिन्दी में आलोचनात्मक साहित्य का प्रकाशन सबसे अधिक हुआ है। इसमें पाठ्यक्रमों में निर्धारित विषयों, ग्रन्थों, कवियों आदि से सम्बन्धित साधारण स्तर की सहायक पुस्तकों से लेकर प्राचीन और नवीन ग्रन्थों, कवियों, समस्याओं आदि पर अत्यन्त गवेषणापूर्ण उच्चकोटि के शोधपूर्ण ग्रन्थों का भी यथेष्ट परिमाण में सृजन हुआ है। विस्तार, वैविध्य, गाम्भीर्य की दृष्टि से इस काल में आलोचना-क्षेत्र में जितना काम हुआ है, उतना कदाचित् इससे पूर्व कभी भी नहीं हुआ था। यह विस्तार एवं गाम्भीर्य इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी के आलोचक हिन्दी की वर्तमान गतिविधि एवं समृद्धि का न्यायोचित मूल्यांकन और नियमन करने के प्रति सजग एवं जागरूक हैं।

(इस काल से पूर्व हुए आलोचना-सम्बन्धी कार्य का विवेचन हम गत पृष्टों में कर आये हैं। इसीलिए यहाँ उसका पुनः विवेचन अपेक्षित नहीं। सुधी पाठक इसे उसी क्रम में जोड़कर पढ़ें।)

व्यापक शोध-कार्य

हिन्दी की नई समीक्षा के प्रवर्त्तक के रूप में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का नाम लिया जाता है। उन्होंने हिन्दी में सबसे पहले विवेचन और विश्लेषण से परिपूर्ण आलोचना उपस्थित कर, आलोचना के क्षेत्र को व्यापकता प्रदान की थी। शुक्लजी के पश्चात् हिन्दी-आलोचना आगे बढ़ी है। आलोचकों की दृष्टि भाषा एवं साहित्य-सम्बन्धी नवीन विषयों की ओर गई है। विश्वविद्यालयों में अनुसंधान-कार्य काफी लोकप्रिय एवं महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर चुका है। साहित्य के इतिहास के विभिन्न युगों से सम्बन्धित नवीन सामग्री प्रकाश में आई है, अनेक साहित्यकारों एवं धाराओं का नवीन मूल्यांकन किया गया है। इस प्रगति की कुछ विशेषताएँ सहज ही अपनी ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर लेती हैं।

आलोचना के चार प्रकार

आचार्य शुक्ल ने हिन्दी-आलोचना में सबसे पहले भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का समन्वय कर युगान्तर उपस्थित किया था। उसी

समय हिन्दी-आलोचना के चार रूपों के दर्शन हुए थे—(१) व्याख्यात्मक, (२) सैद्धान्तिक, (३) निर्णयात्मक, तथा (४) आत्माभिव्यंजक। आज इनमें से सैद्धान्तिक तथा आत्माभिव्यंजक प्रणालियाँ अधिक प्रचलित हैं। हिन्दी-आलोचना की चार पद्धतियाँ मानी गई हैं—(१) मुक्त समीक्षा, (२) सौष्ठववादी या स्वच्छन्दतावादी, (३) मनोविश्लेषणात्मक; तथा (४) मार्क्सवादी या प्रगतिवादी। पिछले २५-३० वर्षों में मुक्त समीक्षा-पद्धति को छोड़ शेष तीन पद्धतियों को ही अधिक अपनाया गया है।

प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा

सौष्ठववादी समालोचना को प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा भी कहते हैं। इसमें वैयक्तिकता पर आधारित तटस्थता के साथ-साथ मूल्यांकन और निर्णय को भी महत्त्व दिया जाता है। इस पद्धति के आरम्भिक रूप के दर्शन पन्त, निराला, महादेवी वर्मा, प्रसाद आदि के काव्य-संग्रहों की भूमिका-रूप में लिखे गए आलोचनात्मक निवन्धों में होते हैं। इसके उपरान्त इस प्रवृत्ति के दर्शन नन्ददुलारे वाजपेयी, निराला, पन्त, गंगाप्रसाद पाण्डेय, शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि की आलोचनाओं में हुए। इस प्रकार की आलोचनाओं में कवियों, लेखकों तथा उनकी कृतियों के मनोवैज्ञानिक और तात्विक विश्लेषण पर अधिक बल दिया जाता है।

मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा

मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा-पद्धति फ्रायड और युंग जैसे पाश्चात्य विचारकों से प्रभावित है। इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय आदि इस पद्धति के आलोचक हैं। आरम्भ में डा० नगेन्द्र पर इस पद्धति का प्रभाव था; परन्तु इधर उनकी नवीन कृतियों में अधिक स्वस्थ एवं आशाप्रद दृष्टिकोण के दर्शन हुए हैं जो शुभ प्रगति के लक्षण हैं। जोशी, अज्ञेय तथा उनके नवीन शिष्य अभी तक फ्रायडवाद की कुत्सित गलियों के चक्कर काटने को ही आलोचना समझ रहे हैं। यद्यपि जोशीजी ने इधर प्रकाशित अपने नवीन निवन्धों में फ्रायडवाद की शव-परीक्षा करते हुए उसकी काफी भर्त्सना की है। प्रयोगवादी नवीन आलोचकों पर इसी पद्धति का प्रभाव है, जिसके दर्शन यदा-कदा उनके कविता-संग्रहों की भूमिका,रूप में प्रकाशित निवन्धों तथा फुटकर लेखों में होते रहते हैं। इन निवन्धों की भाषा विदेशी-साहित्य में प्रचलित विचारों, वाक्य-रचना आदि के विकृत, अस्पष्ट अनुवादों के कारण इतनी जटिल, दुरूह और भाराक्रान्त रहती है कि उसमें अभिव्यक्त भाव को समझ लेना बड़े साहस और धैर्य की अपेक्षा

रखता है। यह इस वर्ग के आलोचकों की मानसिक पराधीनता का प्रमाण है।

प्रगतिवादी समीक्षा

पिछले वर्षों में मार्क्सवादी समीक्षा-पद्धति सबसे शक्तिशाली रही है। इसका आरम्भ तो प्रेमचन्द के समय से ही हो चुका था, परन्तु आरम्भ में इसका दृष्टिकोण अतिवादी और संकीर्ण रहा था, जिसने हिन्दी साहित्य को एक प्रकार से हानि ही पहुँचाई थी; परन्तु आगे चलकर मार्क्सवादी आलोचक सम्हल गए। उन्होंने देशी-विदेशी आलोचना-सिद्धान्तों का गम्भीर अध्ययन किया और इस अध्ययन का परिणाम यह निकला कि उनके दृष्टिकोण में क्रमशः सन्तुलन, स्थिरता तथा नवीन जागृति के शुभ रूप के दर्शन होने लगे। आज सौष्ठववादी तथा मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा-पद्धति ह्रासकालीन अवस्था में है। मार्क्सवादी या प्रगतिवादी समालोचक आज हिन्दी-साहित्य का दिशा-निर्देश कर रहे है; परन्तु इस वर्ग के आलोचक साहित्य का पूर्ण नियमन करने में सफल नहीं हो पा रहे हैं। कारण—उनका पारस्परिक सैद्धान्तिक या व्यक्तिगत दृष्टि-वैषम्य तथा अत्यधिक उपयोगितावादी दृष्टिकोण ही माना जा सकता है। प्रगतिवादी आलोचकों ने डा० रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त, अमृतराय, डा० नामवरसिंह, डा० रांगेय राघव, चन्द्रबलीसिंह, डा० कर्णसिंह चौहान, डा० शम्भूनाथ सिंह आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

समन्वयवादी समीक्षा

इधर काफी दिनों से ऐसी समीक्षा-पद्धति प्रचार पा रही थी, जिसका दृष्टिकोण समन्वयवादी रहा था। इसका आरम्भ शुक्लजी पहले ही कर चुके थे। बाबू गुलाबराय को इस पद्धति का प्रतिनिधि आलोचक माना जा सकता है। इस पद्धति में दो प्रकार समन्वय मिलता है—(१) भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों का स्वस्थ समन्वय, तथा (२) समीक्षा की विभिन्न पद्धतियों का समन्वय। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भी इसी वर्ग के समालोचक हैं। ये लोग अतिवादी दृष्टिकोण को छोड़ते हुए बीच का मार्ग अपनाते हैं। अपनी समझ से इन्हें जहाँ स्वस्थ एवं शुभ प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं, उसे सहर्ष अपना लेते हैं। सैद्धान्तिक स्थापनाओं को सामने रखते हुए भी ये उनसे स्वयं को बाँध नहीं लेते। आज इस प्रकार की समीक्षा-पद्धति का हिन्दी-संसार में यथेष्ट सम्मान है, परन्तु इस पद्धति की समन्वयवादी अथवा समझौतावादी

प्रवृत्ति का अशुभ परिणाम यह निकलता है कि ये किसी स्पष्ट और स्वस्थ निर्णय पर नहीं पहुँच पाते। 'प्रगतिवाद बुरा भी है, अच्छा भी है', 'प्रयोगवाद ग्राह्य भी है, अग्राह्य भी' जैसे निर्णयों से भ्रान्ति की सृष्टि होती है। फिर भी इन समालोचकों ने विभिन्न वादों के समर्थकों में व्याप्त पारस्परिक कटुता को दूर करने का प्रशंसनीय कार्य किया है। इसके लिए हिन्दी-संसार इनका सदा आभारी रहेगा।

प्रगतिवादी दृष्टिकोण : विश्लेषण

हम पीछे कह आए हैं कि इस युग की सर्वाधिक व्यापक और सशक्त समीक्षा-पद्धति प्रगतिवादी समीक्षा-पद्धति है। इसलिए यहाँ इसका थोड़ा-सा विवेचन अपेक्षित है। इस पद्धति के समीक्षक भौतिकवादी दृष्टिकोण के समर्थक हैं, क्योंकि ये लोग साहित्य और जीवन को परस्पर अभिन्न मानते हैं और मानव-जीवन मूलतः भौतिकवादी ही होता है। इनका कहना है कि भौतिकवादी दृष्टिकोण न केवल जीवन में अपनाया जाय, वरन् साहित्य में भी उसका विवेचन होना चाहिए। सामाजिक यथार्थ का साहित्य में उसके यथार्थ रूप में चित्रण होना चाहिए। इसलिए साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में हमें पुरानी मान्यताओं से ही चिपके न रह कर नवीन वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाना चाहिए। ये लोग साहित्य में समाज-कल्याण की भावना का रहना अनिवार्य मानते हैं। इस सम्बन्ध में डा० रामविलास शर्मा का कथन द्रष्टव्य है—

"मेरा उन लोगों से मतभेद है जो साहित्य को समाज के हित या अहित से परे मानकर केवल रूप की प्रशंसा करके आलोचना की इति कर देते हैं। उनके लिए बिहारी, तुलसीदास—दोनों ही समान रूप से वन्दनीय हैं; और दोनों की ही परम्परा समान रूप से वांछनीय है। प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन करते हुए मेरी दृष्टि में समाज के हित-अहित को नहीं भूल जाना चाहिए। यदि दरबारों में राजाओं की चाटुकारिता करते हुए भी श्रेष्ठ साहित्य रचा जा सकता था तो इसे सन्त-कवियों की सनक ही मानना चाहिए—कि वे दरबारों में आनन्दपूर्वक समय न बिताकर चिमटा बजाते हुए रूढ़िवादियों का विरोध सहन करते।" निष्कर्ष यही निकला कि प्रगतिशील साहित्य वह होता है जो सभी प्रकार की विकृतियों का विरोध कर समाज को आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है तथा मानव-व्यक्तित्व के विकास में सहायक होता है। केवल नवीनता को ही प्रगति का पर्याय नहीं माना जा सकता। नवीनता वही सार्थक

और उपादेय होती है, जो आगे बढ़ने की प्रेरणा देने वाली और सहायक बनने की क्षमता रखती हो।

प्रगतिशील दृष्टिकोण : व्यापक आयाम

प्रगतिवादी आलोचना अधिक प्रौढ़ होती जा रही है। लगभग सभी प्रगतिवादी आलोचक मूलतः समाजवादी हैं। उनका प्रेरणा-स्रोत समाजवादी विचार-पद्धति ही है; परन्तु इधर समाजवाद की नई-नई व्याख्याएँ होने लगी हैं। प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन नए दृष्टिकोण से किया जाने लगा है। शुभ के संग्रह की ओर इन लोगों का ध्यान अधिक जा रहा है। आज हिन्दी राष्ट्र-भाषा हो गई है, परन्तु कुछ प्रान्तों में उसका घोर विरोध हो रहा है। प्रगतिवादी आलोचक इस स्थिति के प्रति अधिक चौकन्ने हैं। देश की एकता और विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं में सौहार्द्र उत्पन्न करने के लिए उनके विस्तृत और वैज्ञानिक अध्ययन का कार्य आरम्भ हो चुका है। उनकी समानताओं और उनकी विभिन्नताओं से साधारण पाठकों को परिचित कराने का नारा इन लोगों ने एक स्वर से उठाया है। उत्तर-दक्षिण के भाषा-परिवारों के विषय में फैले हुए अनेक प्रकार के भ्रमों का निराकरण करने का प्रयत्न किया जा रहा है। इस दिशा में हिन्दी के विद्वानों ने इधर उल्लेखनीय कार्य किया है। भाषा-शास्त्र और भाषा-सम्बन्धी समस्याओं की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। डा० उदय नारायण तिवारी का 'भोजपुरी भाषा-साहित्य', डा० प्रेमनारायण टंडन का 'सूर की भाषा', डा० क्षितिकण्ठ मिश्र का 'खड़ीबोली का आन्दोलन', डा० कपिलदेव सिंह का 'ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली'—जैसे शोधपूर्ण ग्रन्थ इस बात के प्रमाण हैं कि भाषा-सम्बन्धी समस्याओं की ओर हिन्दी के विद्वानों का ध्यान जा रहा है। इधर डा० रामविलास शर्मा ने अपने नवीन ग्रन्थ 'भाषा और समाज' में भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में नवीन स्थापनाएँ करने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उन्होंने भाषा-विकास के नए वैज्ञानिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए हिन्दी-भाषा की उत्पत्ति और विकास सम्बन्धी प्रचलित मान्यताओं का खण्डन कर नई स्थापनाएँ की हैं। उनका यह ग्रन्थ इस दृष्टि से अभूतपूर्व और अमूल्य माना जा सकता है।

समीक्षा-शास्त्र का अभूतपूर्व विकास

समीक्षा-सिद्धान्तों की ओर हिन्दी के विद्वानों का पुनः ध्यान गया है।

प्राचीन एवं नवीन, देशी और विदेशी समीक्षा-सिद्धान्तों का अध्ययन किया जा रहा है। इस विषय से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की इस काल में रचना हुई है। डा० भोलाशंकर व्यास का 'ध्वनि-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त', डा० गोविन्द त्रिगुणायत का 'शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त', डा० बलदेव उपाध्याय का 'भारतीय साहित्य-शास्त्र' (दो भाग), डा० भगवत स्वरूप मिश्र का 'हिन्दी-आलोचना का उद्‌भव और विकास', डा० ओमप्रकाश का 'हिन्दी अलङ्कार-साहित्य', डा० भगीरथ मिश्र का 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास', डा० रवीन्द्रसहाय वर्मा का 'हिन्दी-काव्य में आंग्ल प्रभाव', डा० कपिलदेव द्विवेदी का 'अर्थ विज्ञान और व्याकरण-दर्शन', डा० हरद्वारीलाल शर्मा का 'सौन्दर्य-शास्त्र', प्रोफेसर भगीरथ दीक्षित का 'काव्यालोक' आदि समीक्षात्मक ग्रन्थों ने हिन्दी के समीक्षा-साहित्य को गम्भीर और विस्तृत बनाया है। इधर डा० नगेन्द्र ने इस क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया है। उन्होंने संस्कृत समीक्षा-शास्त्र का विस्तृत एवं गम्भीर अध्ययन कर अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ स्वयं लिखे और दूसरों से लिखवाकर सम्पादित किए हैं। संस्कृत के 'ध्वन्यालोक' जैसे प्रसिद्ध समीक्षाशास्त्रीय ग्रन्थ का 'हिन्दी ध्वन्यालोक' के नाम से अनुवाद किया है। साथ ही 'भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा' और 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका' जैसे शोधपूर्ण ग्रन्थों की रचना कर हिन्दी के गौरव को बढ़ाया है। डा० नगेन्द्र की प्रेरणा से संस्कृत के सैद्धान्तिक ग्रन्थों का हिन्दी रूपान्तर किया जा रहा है। इस क्षेत्र में प्रेरणा डा० नगेन्द्र की रही है; परन्तु अनुवाद का असली कार्य आचार्य विश्वेश्वर द्वारा किया गया है। इधर प्रकाशित डा० नगेन्द्र का नवीन ग्रन्थ 'रस-सिद्धान्त' काफी विवादास्पद और चर्चा का विषय रहा है।

लोक-साहित्य का अध्ययन

पिछले दशक में लोक-साहित्य के अध्ययन पर विशेष बल दिया गया है। लोक-साहित्य का अध्ययन करने-कराने की प्रेरणा देने वालों में डा० सत्येन्द्र का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनका 'ब्रज-लोकसाहित्य का अध्ययन', डा० कृष्णदेव उपाध्याय का 'लोक-साहित्य की भूमिका', डा० श्याम परमार का तत्सम्बन्धी शोध-ग्रन्थ, डा० कुन्दनलाल उप्रेती का 'लोक-साहित्य के प्रतिमान' उल्लेखनीय हैं। विभिन्न बोलियों के लोक-साहित्य का अध्ययन किया जा रहा है। इससे सबसे बड़ा लाभ यह हुआ है कि अप्रत्याशित लोकगीतों एवं

कथाओं में सम्बन्धित बोलियों के प्रदेशों की सांस्कृतिक महत्ता पर यथेष्ट प्रकाश पड़ा है। दूसरा लाभ यह हुआ है कि हिन्दी की प्रादेशिक बोलियों के अध्ययन की ओर विद्वानों की रुचि जाग्रत हुई है।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास का विस्तृत अध्ययन

इस काल में हिन्दी-साहित्य के इतिहास का भी गम्भीर अध्ययन हुआ है। इतिहास के भिन्न-भिन्न कालों पर शोधपूर्ण निबन्ध लिखे गये हैं। सम्बन्धित काल-विषयक सामग्री का विभिन्न पक्षों एवं दृष्टिकोणों से अध्ययन किया गया है। इस विषय से सम्बन्धित ग्रन्थों में डा० दशरथ ओझा का 'हिन्दी-प्रेमाख्यानक काव्य', डा० सावित्री सिन्हा का 'मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ', डा० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी का 'रीतिकालीन हिन्दी-कविता और शृङ्गार रस का विवेचन', डा० भगवतीसिंह का 'रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय', डा० हरवंशलाल शर्मा का 'सूर और उनका साहित्य', डा० सरला शुक्ल का 'जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य', डा० टीकमसिंह तोमर का 'हिन्दी वीर-काव्य', डा० हरवंश कोछड़ का 'अपभ्रंश साहित्य', डा० विमल कुमार का 'सूफीमत और हिन्दी-साहित्य', डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'हिन्दी-साहित्य : उद्भव और विकास', डा० दीनदयालु गुप्त का 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय', डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल का 'अकबरी दरबार के हिन्दी-कवि' आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं।

साहित्य के व्यापक अध्ययन सम्बन्धी कार्य

आधुनिक हिन्दी-साहित्य पर भी यथेष्ट कार्य हुआ है। साहित्य की विभिन्न विधाओं पर शोधपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये हैं। विभिन्न कवियों का नवीन दृष्टि से मूल्यांकन किया गया है। डा० भगवतस्वरूप मिश्र का 'हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास', डा० दशरथ ओझा का 'हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास', डा० सोमनाथ गुप्त का 'हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास', डा० रामगोपालसिंह चौहान का 'हिन्दी नाटक : सिद्धान्त और समीक्षा' तथा 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य', डा० प्रेमनारायण शुक्ल का 'हिन्दी-साहित्य में विविध वाद', डा० कृष्णलाल का 'हिन्दी कहानियों की शिल्प-विधि का विकास', डा० नामवरसिंह का 'कविता के नए प्रतिमान' आदि ग्रन्थ निकल चुके हैं। 'कविता के नए प्रतिमान' पर डा० नामवरसिंह को साहित्य अकादमी का पाँच हजार रुपये का पुरस्कार मिला था। उपन्यासों पर काफी

काम हो रहा है। इसके अतिरिक्त प्राचीन एवं नवीन कवियों और लेखकों का भी वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी का 'संत-कवि दरिया', डा० त्रिगुणायत का 'कबीर की विचारधारा', डा० हरवंशलाल शर्मा का 'सूर और उनका साहित्य', डा० नारायणदास खत्री का 'आचार्य भिखारीदास', डा० हीरालाल दीक्षित का 'आचार्य केशवदास', डा० ब्रजेश्वर वर्मा का 'रैदास', डा० माताप्रसाद गुप्त का तुलसीदास', डा० राजेन्द्र शर्मा का 'पं० बालकृष्ण भट्ट', डा० फतहसिंह का 'कामायनी सौन्दर्य', डा० द्वारिकाप्रसाद का 'कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन', डा० प्रेमशंकर का 'प्रसाद का काव्य', डा० उदयभानुसिंह का 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग', डा० विजयपालसिंह का 'केशवदास', डा० नत्थनसिंह का 'बालमुकुन्द गुप्त' आदि ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य की समृद्धि एवं विकास पर नया प्रकाश डालते हैं। समष्टि रूप से मध्यकालीन साहित्य का अध्ययन करते हुए सन्त-कवियों और शृंगार कालीन कवियों पर काफी शोधपूर्ण कार्य हुआ है। आज शृंगार कालीन कवियों की अपेक्षा संत एवं भक्त-कवियों को विशेष महत्त्व दिया जा रहा है। यह हमारे वर्तमान सांस्कृतिक विकास का प्रतीक है। अब अन्य प्रान्तीय भाषाओं के संत-साहित्य के अध्ययन की ओर भी विद्वानों का रुझान हुआ है। इसके अतिरिक्त तुलनात्मक-समीक्षा के क्षेत्र में भी काफी काम हुआ है। अन्य भारतीय भाषाओं तथा हिन्दी में पाई जाने वाली समान प्रवृत्तियों, साहित्य-रूपों आदि के अनेक सुन्दर तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किए गए हैं। यह नवीन रुझान अन्य भारतीय भाषाओं को हिन्दी के निकट लाने में बहुत काम करेगा। आधुनिक काल के साहित्य में निराला और पंत का अध्ययन अपेक्षाकृत कम हुआ है।

समीक्षा-प्रधान पत्र-पत्रिकाओं का योगदान

पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से भी आलोचना-साहित्य का पर्याप्त विकास हुआ है। 'साहित्य-सन्देश' पिछले तीस-पैंतीस वर्षों से स्वस्थ आलोचनात्मक सामग्री प्रस्तुत करता चला आ रहा था। दुःख है कि अब इसका प्रकाशन बन्द हो गया है। इस क्षेत्र में पहले बीस-पच्चीस वर्षों में दो नवीन उल्लेखनीय पत्रों का प्रकाशन आरम्भ हुआ था—दिल्ली से प्रकाशित होने वाली त्रैमासिक 'आलोचना' और आगरा से प्रकाशित होने वाला मासिक 'समालोचक'। 'आलोचना' ने अपने आरम्भिक वर्षों में बहुत सुन्दर कार्य किया था; परन्तु

बीच में प्रयोगवादियों के हाथ में पड़कर उसकी प्रतिष्ठा को पर्याप्त धक्का लग चुका है। फिर भी हिन्दी संसार 'आलोचना' की सेवाओं को सदैव याद रखेगा। अब यह पत्रिका कभी-कभी ही प्रकाशित हो पाती है। 'समालोचक' का प्रकाशन सन् १९५८ में प्रारम्भ हुआ था। इसने अपना प्रथम अंक 'सौन्दर्य-शास्त्र विशेषांक' निकालकर हिन्दी-आलोचना के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और अछूते-से समझे जाने वाले विषय पर विस्तृत प्रकाश डाला था। अब तक इस तरफ हिन्दी वालों का ध्यान नहीं गया था। इस विषय से सम्बन्धित हिन्दी में अभी तक केवल एक छोटी-सी पुस्तक थी—डा० हरद्वारीलाल शर्मा रचित 'सौन्दर्य-शास्त्र'। 'समालोचक' ने इस नवीन विषय को उठाकर हिन्दी-आलोचना-क्षेत्र में एक नई समस्या का प्रणयन किया था। इसका दूसरा विशेषांक 'यथार्थवाद' भी पर्याप्त लोकप्रिय रहा था। यदि 'समालोचक' इसी स्तर के साथ प्रकाशित होता रहता, तो शीघ्र ही हिन्दी 'जगत' में अपना एक नितान्त उपयोगी स्थान बना लेने में समर्थ हो जाता; परन्तु दो वर्ष बाद उसका प्रकाशन बन्द हो गया था।

हिन्दी-समीक्षा की उल्लेखनीय प्रगति

उपर्युक्त विवेचन में हिन्दी में हो रहे शोधकार्य का ही प्रमुख रूप से परिचय दिया गया है। उक्त शोध-ग्रन्थों के अतिरिक्त भी अनेक महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक ग्रन्थ निकले हैं जिनकी तालिका स्थानाभाव के कारण यहाँ देना असम्भव है। फिर भी उपर्युक्त विवेचन यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि हिन्दी-आलोचना की उल्लेखनीय प्रगति हुई है। आलोचना की इस प्रगति से इस तथ्य पर भी यथेष्ट प्रकाश पड़ता है कि हिन्दी की विभिन्न विधाओं का भी यथेष्ट विकास हुआ है। लक्षण-ग्रन्थों के अधिक परिमाण में प्रस्तुत होने पर ही लक्ष्य-ग्रन्थों तथा आलोचनात्मक ग्रन्थों की रचना होती है। यह विवरण उन लोगों की आँखें खोल देने के लिए पर्याप्त है, जो कहते हैं कि हिन्दी में काम ही क्या हुआ है या हो रहा है, तथा यह कि हिन्दी-साहित्य में गतिरोध की स्थिति आ गई थी। पिछले तीन दशकों के आलोचना-साहित्य में विस्तार और गहराई—दोनों ही गुण पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं।

प्रश्न ३—विगत तीस वर्षों के हिन्दी-उपन्यास-साहित्य का परिचय देते हुए बतलाइए कि इस क्षेत्र में प्रेमचन्द की परम्परा का विकास हुआ है तथा हिन्दी उपन्यास अपनी रूढ़िगत मान्यताओं को भंग कर आगे बढ़ा है।

उत्तर—उपन्यास : नए कला-सिद्धान्तों का समावेश

प्रेमचन्द की उपन्यास-कला के सर्वोत्कृष्ट रूप के दर्शन उनके अन्तिम उपन्यास 'गोदान' में हुए थे और 'गोदान' को एक स्वर से हिन्दी का सर्वोत्कृष्ट उपन्यास घोषित कर दिया गया था। प्रेमचन्द सामाजिक यथार्थवाद के पोषक थे। सैद्धान्तिक स्तर पर सामाजिक यथार्थवाद का प्रतिनिधित्व अपने पूर्ण अर्थों में सर्वप्रथम 'गोदान' में ही हुआ था। प्रेमचन्द के उपरान्त हिन्दी-कथा-साहित्य ने करवट बदली। उसमें नए-नए कला-सिद्धान्तों का समावेश हुआ जो निश्चित रूप से प्रेमचन्द-युगीन सामाजिक यथार्थवाद की परम्परा से भिन्न थे। प्रेमचन्द ने व्यक्ति को एक सामाजिक इकाई मान, उसे स्वयं में एक स्वतन्त्र इकाई नहीं माना था। परन्तु मनोवैज्ञानिक कथाकार इस यथार्थवादी दृष्टिकोण के विरुद्ध व्यक्ति को स्वयं एक स्वतन्त्र इकाई मानकर चले और उनका 'व्यक्ति' समाज से दूर होता चला गया। जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय आदि मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी इसी नवीन विचारधारा के प्रतिनिधि उपन्यासकार माने जा सकते हैं। इस प्रकार प्रेमचन्द के उपरान्त हमारी औपन्यासिक मान्यताओं में पर्याप्त अन्तर आ गया। इसके अतिरिक्त और भी कई नई विचारधाराओं ने उपन्यास के क्षेत्र में प्रवेश कर उसे अधिक व्यापकता प्रदान की थी।

मनोविश्लेषणवादी उपन्यास

मनोविश्लेषण-शास्त्र तथा अंतश्चेतनावाद के सूक्ष्म सिद्धान्तों के चित्रण के कारण इन नए उपन्यासकारों की कृतियों में एक नवीनता और मौलिकता दिखाई पड़ी, जिसने हिन्दी-पाठकों को अपनी ओर आकर्षित किया; परन्तु अपने एकांगीपन के कारण ये कृतियाँ समाज पर सामूहिक प्रभाव डालने में असमर्थ रहीं। नवीन शिल्प-विधान एवं मनोवैज्ञानिक चमत्कारपूर्ण चरित्र-विश्लेषण ने कुछ समय तक इन्हें पर्याप्त लोकप्रियता तो प्रदान की और इनकी काफी चर्चा भी होती रही, परन्तु जीवन के बहुमुखी एवं विविध छटामय विभिन्न पक्षों के चित्रण का इनमें अभाव था, इसलिए इनकी लोकप्रियता स्थायी न रह सकी। फिर भी प्रेमचन्द के उपरान्त तथा आजादी प्राप्त करने के समय तक हमारा कथा-साहित्य एक प्रकार के मनोवैज्ञानिक कुहासे से आच्छादित रहा, जिसने हिन्दी की अनेक नई प्रतिभाओं को अपनी नवीनता से चमत्कृत कर काफी समय तक गलत रास्ते पर चलाया। इस प्रकार पिछले तीन दशकों की पृष्ठभूमि में इस मानसिक कुण्ठावाद और मनोवैज्ञानिक यथार्थ का काफी प्राबल्य रहा। प्रेम-

चन्द के बाद और आजादी से पूर्व के दस वर्ष हिन्दी कथा-साहित्य के इतिहास में मानसिक कुण्ठावाद और मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद के नाम से पुकारे जायेंगे। इन दस वर्षों में रचे गये उपन्यासों ने प्रेमचन्द की स्वस्थ सामाजिक यथार्थवादी परम्परा को भंग कर हिन्दी उपन्यास को एक संकीर्ण क्षेत्र तक ही सीमित बना रखा था। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि शुद्ध कला की दृष्टि से जैनेन्द्र, अज्ञेय और जोशी के उपन्यास सफल और सुन्दर बन पड़े हैं; परन्तु जैसे निर्जीव सौन्दर्य की कोई प्रभावशाली उपयोगिता नहीं होती, वैसे ही इन कृतियों ने सामाजिक प्रगति में कोई स्वस्थ योग न देकर मानसिक विलास और बौद्धिक विकृति की ही अभिवृद्धि की थी।

कुण्ठावाद का पतन

आजादी के बाद उत्पन्न हुई नई चेतना ने पुराने और खेमे के अनेक उपन्यासकारों को इस मोहजाल से निकालकर पुनः स्वस्थ मार्ग पर डाल दिया। प्रेमचन्द के सामाजिक यथार्थवाद की लुप्त परम्परा पुनः प्रबल हुई और आज उपन्यास-साहित्य में इसी का स्वर सबसे प्रबल है। वैसे मानसिक कुण्ठावाद और मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद की परम्पदा भी अभी तक लुप्त नहीं हुई है। कुछ तरुण कलाकार अभी तक इसके दुष्प्रभाव का अनुभव न कर सकने के कारण इसके मोह से ग्रसित हो उपन्यास लिख रहे हैं। कुण्ठावाद का प्रयोगवाद पर अत्यन्त गहरा प्रभाव रहा है। जिस प्रकार प्रयोगवाद ने कविता के क्षेत्र में भ्रम एवं विकृतियों का सृजन किया है, उसी प्रकार इस वाद ने कथा क्षेत्र में भी भ्रान्तियाँ उत्पन्न कर दी थीं। इसका प्रभाव हिन्दी-कहानियों पर तो कुछ गहरा रहा था, परन्तु यह उपन्यासों को कम ही प्रभावित कर पाया था। आज सामाजिक यथार्थवाद के समर्थ उपन्यासकारों के प्रभाव से कुण्ठावाद का प्रभाव नाममात्र का रह गया है। अब यह गुलशन नन्दा जैसे सस्ते उपन्यासकारों तक ही सीमित होकर रह गया है, वह भी अपने नितान्त उथले और भ्रष्ट रूप में।

उपन्यास की आशातीत प्रगति

इस काल में हिन्दी-उपन्यास ने आशातीत प्रगति की है। अनेक पुराने और नये उपन्यासकारों ने दर्जनों की संख्या में उपन्यासों की रचना कर शिल्पविधान तथा कथ्य के क्षेत्र में अनेक नवीन एवं स्वस्थ प्रयोग कर साहित्य की इस विधा को आगे बढ़ाया है। इस दृष्टि से आशातीत उपलब्धियाँ हुई हैं। अनेक प्रसिद्ध उपन्यासकार, जो प्रेमचन्द-युग में उपन्यासों का सृजन करते आये थे, इस युग

में भी समान रूप से क्रियाशील रहे हैं। इनमें बाबू वृन्दावनलाल वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा, जैनेन्द्र, अज्ञेय, अमृतलाल नागर, अश्क, यशपाल, अमृतराय आदि ने इस काल में अनेक सुन्दर उपन्यास लिखे हैं। वर्मा जी ने इस काल में अनेक ऐतिहासिक उपन्यास लिखकर हिन्दी-उपन्यास के इस पक्ष को काफी समृद्ध बनाया था। उनके 'कचनार, मृगनयनी, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, भुवन-विक्रम, माधव जी सिंधिया, सोना' आदि ऐतिहासिक तथा 'अमरबेल' जैसे सामाजिक उपन्यास इसी युग में सामने आए थे। शास्त्रीजी ने 'वैशाली की नगरवधू, सोमनाथ, गोली, वयंरक्षाम, खग्रास' जैसे ऐतिहासिक, वैज्ञानिक और सामाजिक उपन्यास लिखकर पर्याप्त प्रगति का परिचय दिया था। जैनेन्द्र 'सुखदा', 'विवर्त्त', 'त्याग-पत्र' तथा 'व्यतीत' और 'जयदोल' नामक उपन्यास लिखकर 'कल्याणी' की अपनी पुरानी परम्परा से ही चिपके रहे हैं। उनके इन नवीन उपन्यासों में कोई नवीनता नहीं आ पाई है। जैनेन्द्र के इधर प्रकाशित उपन्यास 'मुक्तिबोध' पर साहित्य अकादमी ने पाँच हजार रुपये का पुरस्कार प्रदान किया है। इस उपन्यास को न तो जैनेन्द्र ही अपनी श्रेष्ठ कृति मानते हैं और न आलोचकों ने ही इसे एक अच्छे स्तर का उपन्यास माना है। इस काल में उपेन्द्रनाथ अश्क ने मध्यवर्गीय जीवन में व्याप्त अवसाद और कुण्ठा का चित्रण करते हुए अनेक सुन्दर सामाजिक उपन्यास लिखे हैं; जिनमें सामाजिक यथार्थवाद की पृष्ठ-भूमि पर निराशा का सृजन ही अधिक हुआ है। 'गिरती दीवारें, गर्म राख, बड़ी-बड़ी आँखें'—उनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं—'गर्म राख' की किसी समय काफी चर्चा रही थी। उनके इन उपन्यासों में जीवन में उल्लास एवं प्रगति की भावना उत्पन्न करने की शक्ति का अभाव है। उनका संघर्ष प्रभावहीन होकर रह जाता है।

यशपाल : ऐतिहासिक योगदान

यशपाल ने इस काल में 'मनुष्य के रूप, दिव्या, अमिता, झूठा-सच' आदि सुन्दर उपन्यास लिखे जो उनके दादा कामरेड, देशद्रोही आदि की परम्परा से थोड़ा-सा हटे हुए हैं। यशपाल मार्क्सवादी के रूप में प्रसिद्ध हैं; परन्तु साथ ही उन पर फ्रायड का भी गहरा प्रभाव रहा है। वे उन मार्क्सवादी लेखकों की कोटि में आते हैं जिनका रूसी राज्य-क्रांति के बाद रूसी कथा-साहित्य से प्राबल्य रहा था और जिनकी यौन-वर्जनाओं के चित्रण से क्षुब्ध होकर लेनिन को

मार्क्सवाद और फ्रायडवाद में स्पष्ट अन्तर बताना पड़ा था। यदि यशपाल के उपन्यासों में से फ्रायड के कुण्ठावाद को निकाल दिया जाय तो उनका कथा-साहित्य सामाजिक यथार्थवाद का सच्चा प्रतिनिधित्व कर सकता है। फ्रायड के प्रभाव के कारण उनके उपन्यासों में वही रंग आ जाता है, जिसके लिए जोशी, अज्ञेय और कुछ सीमा तक जैनेन्द्र भी बदनाम हैं। परन्तु जैनेन्द्र और अज्ञेय आदि से यशपाल में अन्तर है। यशपाल का दृष्टिकोण सामाजिक यथार्थवादी और निर्वैयक्तिक है, जबकि जैनेन्द्र और अज्ञेय केवल वैयक्तिक भावनाओं के कलाकार हैं। यशपाल के वृहद् उपन्यास 'झूठा-सच' में यशपाल के दृष्टिकोण और चित्रण की विशालता, गहराई और समाजवादी स्वर, फ्रायड के प्रभाव से मुक्त हो, अधिक प्रखर रूप में दिखाई पड़ा है। 'झूठा-सच' को 'गोदान' के बाद हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास माना जा सकता है।

इलाचन्द्र जोशी

इलाचन्द्र जोशी के इधर के उल्लेखनीय नवीन उपन्यास 'मुक्तिपथ, जिप्सी, सुबह के भूले तथा जहाज का पंछी' आदि हैं। अपने इन उपन्यासों में जोशीजी के दृष्टिकोण में पर्याप्त अन्तर एवं प्रगति दिखाई पड़ती है। 'सुबह के भूले' और 'जहाज का पंछी' में जोशीजी सामाजिक यथार्थवाद के काफी नजदीक आ गये हैं। वैसे जोशीजी मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी के रूप में ही अधिक प्रसिद्ध हैं, परन्तु इन दोनों उपन्यासों में मानसिक कुण्ठावाद का प्रभाव अपेक्षाकृत कम है। 'जहाज का पंछी' की काफी चर्चा रही है।

अज्ञेय

अज्ञेय के इस काल में कई उपन्यास निकले हैं—'नदी के द्वीप', 'अपने-अपने अजनबी' आदि। 'शेखर : एक जीवनी' के लेखक अज्ञेय और 'नदी के द्वीप' के लखक अज्ञेय में रंचमात्र भी अन्तर नहीं आ पाया है। इस उपन्यास में भी अज्ञेय का दृष्टिकोण वैसा ही वैयक्तिक, घोर असामाजिक एवं कुण्ठाग्रस्त है, जैसा कि शेखर : एक जीवनी' में था। इनका इधर का एक नवीन उपन्यास 'अपने-अपने अजनबी' काफी चर्चा का विषय रहा है।

विभिन्न धाराओं वाले अन्य उपन्यासकार

भगवती प्रसाद वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा तथा अंचल ने भी इस काल में अनेक सुन्दर उपन्यास लिखे हैं। वाजपेयीजी ने वैज्ञानिक यथार्थवाद को अपने उपन्यासों में अधिक प्रश्रय दिया है, जबकि अंचल सामाजिक यथार्थवाद के

अधिक निकट हैं। अंचल के नए उपन्यास 'नई इमारत', 'मरु प्रदीप' आदि हैं। भगवतीचरण वर्मा स्वच्छंद प्रकृति के उपन्यासकार हैं। उन पर किसी विशिष्ट कला-सिद्धान्त या वाद का प्रभाव नहीं है। उनके एक परवर्ती उपन्यास 'आखिरी दाँव' को देखकर बड़ी निराशा हुई थी; परन्तु उनके इधर के नवीन उपन्यास 'भूले-बिसरे चित्र', 'शक्ति और सामर्थ्य' 'सबहिं नचावत राम गोसाईं' आदि वर्माजी के परिवर्तित स्वस्थ दृष्टिकोण का सशक्त प्रमाण देते हैं। भूले-बिसरे चित्र' पिछले दशक के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों में स्थान पाने योग्य है, परन्तु इधर के अपने एक नवीन उपन्यास 'रेखा' में वर्माजी मानसिक कुण्ठावाद के मोह और प्रभाव से बुरी तरह ग्रस्त दिखाई पड़ते हैं। उनके नवीनतम उपन्यास 'सबहिं नचावत राम गोसाईं' में आधुनिक राजनीतिक स्थिति पर गहरे व्यंग्य किए गए हैं।

निराला का महत्त्व

पुरानी पीढ़ी के उपन्यासकारों में निराला का नाम उनके अन्तिम उपन्यास 'बिल्लेसुर बकरिहा' के कारण उल्लेखनीय है। 'बिल्लेसुर बकरिहा' नवीन आंचलिक उपन्यासों का आरम्भ है। आंचलिक उपन्यासों के विकास में इस कृति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। छायावादी एवं मुक्त-छंद के प्रवर्त्तक निराला को हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों का भी प्रवर्त्तक माना जा सकता है।

नयी पीढ़ी के उपन्यासकार

उक्त पुराने खेमे के उपन्यासकारों के अतिरिक्त इस काल में अनेक ऐसे उपन्यासकारों का उदय हुआ है, जिनमें से कुछ तो लगभग सन् १९४० से लिखते चले आ रहे हैं तथा कुछ आजादी के बाद प्रकाश में आए हैं। इनमें कुछ ने प्रेमचन्द की सामाजिक यथार्थवाद की परम्परा को आगे बढ़ाया है; तथा कुछ ने उस परम्परा के क्षेत्र को विस्तार और नवीनता दी है। इनके साथ ही इस युग में कुछ उपन्यासकार ऐसे भी सामने आए हैं, जिनकी सृजनात्मक प्रतिभा निस्सन्देह उच्चकोटि की है; परन्तु अपने सीमित एवं विकृत दृष्टिकोण के कारण वे उपन्यास को आगे प्रगति देने में असमर्थ रहे हैं, भले ही कुछ नवीन शिल्प-विधाओं का प्रयोग कर उन्होंने कुछ काल के लिए अस्थायी प्रसिद्धि प्राप्त कर ली हो।

नई पीढ़ी के इन उल्लेखनीय उपन्यासकारों में अमृतलाल नागर, नागार्जुन रांगेय राघव, अमृत राय, राजेन्द्र यादव, देवेन्द्र सत्यार्थी, डा० लक्ष्मीनारायण

लाल, रुद्र कार्शिकेय, नरोत्तमदास नागर, उदयशंकर भट्ट, फणीश्वरनाथ 'रेणु', धर्मवीर भारती, मोहन राकेश, कमलेश्वर, भीष्म साहनी, शैलेश मटियानी, राही मासूम रजा, हिमांशु श्रीवास्तव, हिमांशु जोशी, नरेन्द्र कोहली आदि का नाम लिया जा सकता है। उक्त उपन्यासकारों में सामाजिक यथार्थवादी, आदर्शोन्मुख यथार्थवादी तथा कुण्ठावादी—सभी प्रकार के कलाकार हैं।

सामाजिक यथार्थवादी चित्रण को प्रमुखता देकर उपन्यास लिखने वालों में इस काल में एक नवीन प्रवृत्ति का उदय हुआ है, जिसे 'आंचलिकता' कहा गया है। आंचलिकता और सामाजिकता यथार्थवाद में मौलिक अन्तर न होकर केवल क्षेत्र अथवा परिधि का अन्तर होता है। इनका विवेचन आगे चलकर किया जायेगा।

अमृतलाल नागर

इस नवीन सामाजिक यथार्थवादी परम्परा के उपन्यासकारों में अमृतलाल नागर, नागार्जुन, रांगेय राघव, उदयशंकर भट्ट, राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश, कमलेश्वर, हिमांशु श्रीवास्तव, शैलेश मटियानी, हिमांशु जोशी, श्रीलाल शुक्ल, राही मासूम रजा, शानी आदि का अपना विशिष्ट महत्त्व है। नागरजी 'महाकाल', 'सेठ बाँकेमल' जैसे उपन्यास लिखकर पहले ही काफी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। 'सेठ बाँकेमल' उनका लघु आंचलिक उपन्यास है। किसी अंचल-विशेष की भाषा का जितना सुन्दर निर्वाह करने में नागर जी समर्थ हो सके हैं, उतना हिन्दी का कोई अन्य उपन्यासकार नहीं हो सका। 'सेठ बाँकेमल' अपनी आंचलिक भाषा, कथा-शिल्प एवं संक्षिप्तता की दृष्टि से हिन्दी का सर्वोत्कृष्ट लघु आंचलिक उपन्यास माना जा सकता है। कुछ वर्ष पूर्व नागरजी का वृहद् काय उपन्यास 'बूँद और समुद्र' प्रकाशित हुआ था, जो इस काल के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों में माना जाता है। इसमें लखनऊ के सामाजिक जीवन का विशद एवं यथार्थ चित्रण हुआ है। उपन्यास-कला की दृष्टि से यह उपन्यास सर्वाङ्ग-पूर्ण माना गया है। केवल कथा-संगठन में हल्की-सी शिथिलता अवश्य है। उनका 'सुहाग के नूपुर' भी उल्लेखनीय उपन्यास है। उनका इधर प्रकाशित वृहद्काय उपन्यास 'अमृत और विष' काफी चर्चा का विषय बना हुआ है। कुछ लोगों ने इसकी प्रशंसा की है तथा कुछ ने निन्दा। 'अमृत और विष' पर नागरजी को साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला था। इधर पौराणिक परिवेश पर आधारित उनका एक नवीन उपन्यास प्रकाशित हुआ है—'एकदा

नैमिषारण्ये'। इसमें उन्होंने पुराणों को इतिहास मान; प्राचीन भारतीय चिन्तन और संस्कृति का नये कलारूपों के साथ अंकन किया है। उन्होंने अपने नवीनतम उपन्यास 'मानस का हंस' में तुलसी के जीवन को बड़ी कलात्मक औपन्यासिक शैली में प्रस्तुत किया है।

रांगेय राघव

डा० रांगेय राघव ने दर्जनों उपन्यास लिखकर हिन्दी-साहित्य के गौरव को बढ़ाया है। उनका 'मुर्दों का टीला' हिन्दी के श्रेष्ठ उपन्यासों में माना जाता है। उन्होंने कुछ लघु औपन्यासिक जीवनियाँ लिखकर एक नई दिशा का निर्देश किया है। इनके नवीन उपन्यासों में सर्वाधिक उल्लेखनीय उपन्यास 'कब तक पुकारूँ' है। यह आंचलिक उपन्यास है। इसमें भरतपुर के आस-पास बसे नटों के जीवन, उनकी सामाजिक मान्यताओं आदि का सशक्त भाषा एवं ओजपूर्ण शैली में चित्रण किया गया है। उनके 'चीवर, काका, अँधेरे के जुगनू, आखिरी आवाज' आदि सभी उपन्यास पाठकों में लोकप्रिय रहे हैं।

नागार्जुन

इन उपन्यास-लेखकों में से, प्रेमचन्द की सामाजिक यथार्थवादी परम्परा का वास्तविक अधिकारी, नागार्जुन को माना जा सकता है। इनके 'रतिनाथ चाची, बाबा बटेश्वरनाथ, बलचनमा, नई पौध, वरुण के बेटे' आदि उपन्यास सामाजिक यथार्थ के अत्यन्त कलात्मक एवं भव्य प्रतीक हैं। जीवन की व्यापकता और सम्पूर्णता, सामाजिक आधार पर यथार्थ का चित्रण, कथा-शिल्प के क्षेत्र में नवीन प्रयोग तथा जनवादी तत्त्वों में दृढ़ आस्था—इनके उपन्यासों की विशेषताएँ हैं। भूमि संघर्ष, किसानों की समस्या, जमींदारी-प्रथा के विरुद्ध उनका तीव्र एवं सक्रिय असन्तोष तथा आक्रोश, सामाजिक कुरीतियों को भंग करने का विश्वास एवं ओज, जनवादी आन्दोलन की सफलता में दृढ़-विश्वास आदि के चित्रण के कारण ही नागार्जुन, प्रेमचन्द के सच्चे उत्तराधिकारी बन सके हैं। नरोत्तम नागर का 'वह पथ बन्धु था'—इस काल का बहुचर्चित उपन्यास रहा है, जिसमें नए-पुराने जीवन-मूल्यों का संघर्ष ध्वनित हो रहा है।

राजेन्द्र यादव

राजेन्द्र यादव के अनेक उपन्यास प्रकाश में आये हैं—'प्रेत बोलते हैं', 'उखड़े हुए लोग', 'शह और मात', 'अनदेखे अनजान पुल', 'कुलटा', 'एक इंच

मुस्कान', 'मंत्र विद्ध'—आदि। 'उखड़े हुए लोग' में समाज के उस अंग का चित्रण है जो आगे तो बढ़ना चाहता है, उसमें आगे बढ़ने की शक्ति भी है; परन्तु सामाजिक गठन उसे जमने नहीं देता। कांग्रेसी नेताओं की धूर्त्तता, वर्तमान नवयुवक का लक्ष्यहीन उद्देश्य तथा सामाजिक विषमता और शोषण का इसमें सुन्दर चित्रण हुआ है। यह उपन्यास भी छठे दशक के उपन्यासों में उल्लेखनीय उपन्यास है; परन्तु 'शह और मात' अत्यन्त शिथिल उपन्यास है। राजेन्द्र यादव ने इधर कई छोटे-छोटे उपन्यास और लिखे हैं, परन्तु इनमें उनका स्वर और कला विकृति के शिकार बन गए हैं। इधर इनका 'सारा आकाश' नामक उपन्यास पर्याप्त चर्चित रहा है। इसे लेकर इसी नाम से एक फिल्म बन चुकी है। यह यादव के पहले उपन्यास 'प्रेत बोलते हैं' का ही संशोधित और परिवर्तित नवीन संस्करण है। इसने यादव की डूबती ख्याति में फिर चार चाँद लगा दिए हैं। परन्तु सम्वेदना और कला, दोनों ही दृष्टि से यह उपन्यास सामान्य कोटि का है। विचारों की निर्धनता इसकी सबसे बड़ी कमजोरी है।

आंचलिक उपन्यास

इधर हिन्दी में आंचलिक उपन्यासों का काफी जोर रहा है। निराला, उदयशंकर भट्ट, नागार्जुन, फणीश्वरनाथ रेणु, देवेन्द्र सत्यार्थी, अमृतलाल नागर, अमृतराय आदि के कुछ उपन्यासों को आंचलिक उपन्यास की संज्ञा दी गई है। कुछ लोग रेणु के 'मैला आँचल' को हिन्दी का पहला आंचलिक उपन्यास मानते हैं तथा उन्हीं के दूसरे उपन्यास 'परती परिकथा' को विश्व के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों की पंक्ति में बैठा देते हैं। परन्तु हम पीछे बता आये हैं कि निराला का 'बिल्लेसुर बकरिहा' तथा नागार्जुन के लगभग सभी उपन्यास श्रेष्ठ और रेणु से पूर्व लिखे गये आंचलिक उपन्यास हैं। अमृतलाल नागर का 'सेठ बाँके-मल' तो शुद्ध आंचलिक उपन्यास है ही, उनके 'बूँद और समुद्र' को भी आंच-लिक उपन्यास माना जा सकता है। उदयशंकर भट्ट का 'सागर, लहरें और मनुष्य' भी इस वर्ग के उपन्यासों में अपना बिशिष्ट महत्त्व रखता है। रांगेय राघव के 'कब तक पुकारूँ' और 'काका' तथा रुद्र काशिकेय के 'बहती गंगा' को भी इस कोटि में रखा जाता है। फिर समझ में नहीं आता कि रेणु के उपर्युक्त दोनों उपन्यासों को इतना महत्त्व क्यों दिया गया है? रेणु के उपन्यासों के कथातत्त्व शिथिल हैं, घटनाओं में कहीं भी सम्बद्धता नहीं है, पात्रों के चरित्र

उभर कर नहीं आ पाये हैं। संक्षेप में, रेणु के उपन्यास 'ऊब' पैदा करने वाले हैं। उनमें औपन्यासिक रस का सर्वथा अभाव है। इसका कारण यह है कि रेणु जान-बूझकर अपने उपन्यासों को आंचलिक बनाने के लिए सर्वत्र सतर्क रहते हैं, जिससे उनकी रोचकता और स्वाभाविकता मारी जाती है। परन्तु अब रेणु के उपन्यास अधिक चर्चा के विषय नहीं रह गए है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी

इधर रजनी पनिकर के कई सुन्दर उपन्यास सामने आये थे—मोम के मोती, प्यासे बादल, पानी की दीवार, काली लड़की आदि। इनमें यथार्थ की पृष्ठभूमि पर मध्यवर्गीय, विशेष रूप से नारी-समाज की समस्याओं का सुन्दर चित्रण होते हुए भी दृष्टिकोण आदर्शवादी ही है। इनके अतिरिक्त आनन्द प्रकाश जैन, गुरुदत्त, यज्ञदत्त, कमलेश्वर, यादवेन्दु शर्मा 'चन्द्र', प्रभाकर माचवे, अमृतलाल, मोहन राकेश, शिवानी, शानी आदि उपन्यासों के क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य कर रहे हैं। इधर के उल्लेखनीय उपन्यासों में शानी का 'काला जल' कमलेश्वर का 'काली आँधी', गिरीश अस्थाना का 'धूपछाँही रंग', राही मासूम रजा का 'आधा गाँव', श्रीलाल शुक्ल का 'राग दरबारी', मन्नू भंडारी का 'आपका बन्टी', बिन्दु सिन्हा का 'स्मृति के देश', हिमांशु जोशी का 'कगार की आग', सूर्यबाला का 'मेरे सन्धिपत्र', पानू खोलिया का 'सत्तर पार के शिखर', हिमांशु श्रीवास्तव का 'रिहर्सल' आदि को महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। इस काल के उपन्यासों का विवरण तब तक अधूरा समझा जायेगा, जब तक कि डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का उल्लेख न हो। यह उपन्यास-हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों में अपने विशेष स्थान का अधिकारी होने के साथ-साथ अपने प्रकार का हिन्दी का एकमात्र उपन्यास है। शिल्प, कथा-सौष्ठव, भाव आदि की दृष्टि से यह अप्रतिम है। हिन्दी-संसार भले ही द्विवेदीजी के आलोचनात्मक ग्रन्थों की भविष्य में उपेक्षा कर दे; परन्तु 'बाणभट्ट की आत्मकथा' एक 'क्लासिक रचना' के रूप में सदैव स्मरण किया जाता रहेगा। उनका नवीन उपन्यास 'चारु चन्द्रलेख', 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की पद्धति का उपन्यास होते हुए भी उसकी तुलना में शिथिल और अकलात्मक है। इधर उनका एक नया उपन्यास और निकला है—'पुनर्नवा'। यह भी बहुत कलात्मक ऐतिहासिक उपन्यास है।

इस काल के सर्वश्रेष्ठ उपन्यास

संक्षेप में, इस काल के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों में 'बूँद और समुद्र, झूठा-सच, कब तक पुकारूँ, बलचनमा, सागर, लहरें और मनुष्य, जहाज का पंछी, बाण-भट्ट की आत्म-कथा, भूले-बिसरे चित्र, आपका बन्टी, मेरे सन्धिपत्र' आदि को स्थान दे सकते हैं। कुछ प्रयोगवादियों ने भी इस दिशा में प्रयत्न किये हैं, जिनमें धर्मवीर भारती के 'गुनाहों के देवता', 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' तथा लक्ष्मीकांत वर्मा का 'खाली कुर्सी की आत्मकथा' नवीन शिल्प-विधान के लिए उल्लेखनीय हैं; परन्तु इनमें कथा-शिल्प की नवीनता के अलावा और कुछ नहीं है। यशपाल के 'झूठा-सच' को 'गोदान' के उपरान्त हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास माना जा सकता है।

अनूदित उपन्यास

इधर हिन्दी में अनुवाद की परम्परा पुनः वेग से आई है। देशी-विदेशी अनेक श्रेष्ठ उपन्यासों के खूब अनुवाद हुए हैं। तोलस्तोय, गोर्की, चेखव, तुर्गनेव गोगोल, एमिल जोला, ड्यूमा आदि विदेशी कलाकारों की श्रेष्ठ कृतियों के सुन्दर अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। इसके अतिरिक्त उर्दू, गुजराती, मराठी, बँगला, उड़िया, तमिल, तेलगु, कन्नड़ आदि प्रान्तीय भाषाओं के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों के भी अनुवाद हुए हैं। इन अनुवादों ने प्रान्तीयता की संकीर्ण भावना को दूर करने में काफी सहयोग दिया है। इधर हिन्दी उपन्यासकारों में दो उपन्यासकार बहुत पढ़े जाते हैं—गुरुदत्त और गुलशन नन्दा। गुरुदत्त हिन्दू राष्ट्रवादी हैं तथा गुलशन नन्दा सस्ते यौनवाद के प्रचारक। उनकी लोकप्रियता का यही रहस्य है। वैसे इधर विभिन्न पाकेट बुक सीरीज के अन्तर्गत छपने वाले ऐसे अनेक स्वयम्भू 'उपन्यास-सम्राट्' उत्पन्न हो गये हैं, जिनके छोटे-छोटे उपन्यास खूब बिकते हैं। इनका स्तर भी गुलशन नन्दा जैसा ही है।

हिन्दी-उपन्यास : समृद्ध-व्यापक रूप

हिन्दी उपन्यासों के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि पिछले पच्चीस वर्षों में साहित्य ी इस विधा ने आशातीत उन्नति की है। प्रेमचन्द की लुप्त परम्परा को आगे बढ़ाकर समृद्ध बनाया गया है। नवीन दृष्टिकोण सामने आये हैं, नवीन शिल्प-विधानों का प्रयोग किया गया है। फिर गतिरोध का प्रश्न कहाँ उठता है; परन्तु पिछले वर्षों से हिन्दी-उपन्यास कम प्रकाश में आ रहे थे। कहानियों की बढ़ती हुई लोकप्रियता और प्रचार ने उपन्यासों

की प्रगति को गहरा धक्का पहुँचाया था; परन्तु इधर उपन्यासों का लेखन और प्रचार फिर बढ़ता जा रहा है और नित-नए उपन्यास प्रकाशित हो रहे हैं। वस्तुतः वही लेखक सुन्दर उपन्यास लिख रहे हैं जो आत्म-प्रचार और गुटबंदी के मोह से मुक्त हैं। मोहन राकेश का 'अँधेरे बंद कमरे', शानी का 'काला जल', हिमांशु श्रीवास्तव के 'लोहे के पंख' और 'नदी फिर बह चली', शैलेश मटियानी का 'भागे हुए लोग', गिर्राज किशोर का 'लोग', राही मासूम रजा का 'आधा गाँव', 'टोपी शुक्ला', हिमांशु जोशी का 'कगार की आग' आदि हिन्दी के नव-प्रकाशित उपन्यासों में उल्लेखनीय और महत्वपूर्ण हैं। श्रीलाल शुक्ल का 'राग दरबारी' नामक उपन्यास साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत होने के कारण काफी चर्चित रहा है। यह एक युगपरक सुन्दर उपन्यास है। मन्नू भण्डारी का 'आपका बंटी' तथा सूर्यबाला का 'मेरे सन्धि-पत्र' नामक उपन्यास इस युग के श्रेष्ठ उपन्यासों में स्थान पाने के अधिकारी हैं। इधर राजेन्द्र राव नामक एक नवयुवा उपन्यासकार बड़ी तेजी से सामने आ रहे हैं। इनके कई उपन्यास निकल चुके हैं।

प्रश्न ४—स्वातान्त्र्योत्तर काल की हिन्दी-कहानी की प्रगति का परिचय देते हुए सिद्ध कीजिए कि साहित्य का यह अंग भी समृद्ध हुआ है।

उत्तर—हिन्दी कहानी : मिश्रित रूप

उपन्यास के समान हिन्दी-कहानी भी प्रेमचन्द द्वारा समृद्धि को प्राप्त हुई थी। प्रेमचन्द की लगभग ३५० कहानियों ने हिन्दी के लिए एक आदर्श प्रस्तुत कर उसे आगे बढ़ाया था। कहानी-क्षेत्र में उनका दृष्टिकोण सामाजिक यथार्थ-वादी था; परन्तु जिस प्रकार उपन्यास-क्षेत्र में जैनेन्द्र, अज्ञेय, जोशी आदि मनोविश्लेषणात्मक मानसिक कुण्ठावादी पद्धति को लेकर चले थे, उसी पद्धति को उन्होंने कहानी के क्षेत्र में भी उसी रूप से अपनाया था। इस पद्धति का परवर्ती नवीन कहानीकारों ने भी खूब उपयोग किया। इस पद्धति के साथ-साथ समाजवाद से प्रभावित कहानियाँ भी प्रकाश में आईं। कुछ कहानियों में समाजवाद का साहित्यिक संस्करण मात्र दिखाई दिया तथा कुछ में प्रेमचन्द की सामाजिक यथार्थवादी धारा का नवीन और अधिक सशक्त रूप सामने आया।

कहानी-सम्बन्धी नई मान्यताएँ : कुण्ठावाद

द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त उत्पन्न बेकारी, महँगाई, अनैतिकता,

भ्रष्टाचार, देश का विभाजन तथा सर्वोपरि, स्वतन्त्रता-प्राप्ति से उत्पन्न नई-नई समस्याओं तथा जिम्मेदारियों ने समाज के दृष्टिकोण में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित कर दिया था। हमारे कहानीकार भी इन परिस्थितियों तथा समस्याओं से प्रभावित हुए थे। परिणामस्वरूप कहानी कला सम्बन्धी प्रेमचन्द-युगीन मान्यताओं में पर्याप्त अन्तर आ गया। इससे पूर्व हिन्दी-कहानीकार किसी उत्कट संवेदना को अपना लक्ष्य बनाकर कहानी लिखते थे, जिसे बीज-भाव कहा जाता है। उसमें कथावस्तु को यथेष्ट महत्त्व दिया जाता था; परन्तु कुण्ठावाद अथवा अवचेतनावाद (फ्रायडवाद) के दुर्बोध दिवास्वप्नों में एक बीज-भाव का आज कहीं पता नहीं चलता। कुण्ठावादी कहानीकार बाह्य अथवा सामाजिक जगत से पूर्णतः तटस्थ होकर अवचेतन में ही अपनी कहानी के लिए मसाला ढूँढ़ता है। इसका परिणाम यह हुआ कि उसकी कहानी में कथानक को अनावश्यक मान लिया गया है। कार्य-कारण-सम्बन्ध और परिणाम त्याज्य घोषित कर दिए गए हैं। अंग्रेजी एवं अमरीकी कथा-साहित्य के प्रभाव से शिल्प के क्षेत्र में विचित्र एवं नवीन प्रयोग हो रहे हैं। इन नवीन प्रयोगों का श्रेय भी प्रयोगवादी साहित्यिकों को ही दिया जा सकता है। जिस प्रकार इन लोगों ने उपन्यास और कविता के क्षेत्र में 'नवीन प्रयोगों का' नारा उठाकर विकृति एवं असामाजिकता उत्पन्न करने का प्रयत्न किया था, उसी प्रकार का घातक प्रभाव इनकी कहानियों का भी पड़ा है। परन्तु यह देखकर सन्तोष होता है कि हमारे नये कहानीकारों की पीढ़ी इन जादूगरों के माया-जाल में अधिक नहीं फँसी है। आज भी बहुसंख्यक कहानीकार स्वस्थ सामाजिक दृष्टिकोण को लेकर सामने आ रहे हैं।

विषम परिस्थितियों का प्रभाव

सन् १९४७ के बाद की कहानियों में एक विचित्रता आई थी। आजादी के बाद कहानियों में जिस नवीन उल्लास एवं उमंग का चित्रण होना चाहिए था, वह नहीं हुआ। इसका कारण, आजादी के पश्चात् उत्पन्न विषम परिस्थितियाँ ही रही थीं। देश के विभाजन एवं उससे पूर्व हुए भयङ्कर नर-संहार के उपरान्त हमें आजादी मिली थी, जिसने हमारे उत्साह को धूल में मिला दिया था। इसके उपरान्त उत्पन्न बेकारी, महँगाई, खाद्य-संकट, रिश्वतखोरी भ्रष्टाचार, नवीन करों के बोझ आदि ने आजादी के सम्पूर्ण उल्लास को लगभग

समाप्त-सा कर डाला था। इस असंतोष, निराशा, खीझ आदि का प्रभाव हमारे साहित्य पर भी पड़ा और इसी कारण आजादी के बाद कुछ वर्षों तक लिखी गई कहानियों में इसी अवसाद, निराशा, असन्तोष आदि का चित्रण होता रहा। इस आर्थिक विषमता से उत्पन्न कठिनाइयों ने साम्राज्यवाद, पूँजीवाद, बुर्जुवा नेताशाही आदि के विरुद्ध इस काल के नवीन कथाकारों में एक भयङ्कर असन्तोष भर दिया; परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि इस काल का कहानी-साहित्य केवल इसी असन्तोष एवं निराशा की अभिव्यक्ति बनकर ही रह गया है। इस काल की कहानी अपने सम्पूर्ण सामाजिक परिवेश को अपने भीतर समेट कर आगे बढ़ी थी।

कहानी के नए-नए रूप

देश-प्रेम, मानवतावाद, हिन्दी-प्रेम आदि ने इस विधा को काफी प्रभावित किया है। हिन्दी-कहानी लेखक प्रादेशिक साहित्यों के सम्पर्क में आया है। उसने विदेशी साहित्य का अध्ययन किया है, नई समस्याओं को समझा है; और इन सबका प्रभाव इस काल के कहानी-साहित्य पर पड़ा है। इसका परिणाम यह निकला है कि इन नवीन कहानी-लेखकों ने कहानी के नवीन शिल्प-विधानों के प्रयोग किये हैं, कहानी के क्षेत्र में विस्तार आया है, और उपन्यासों के समान ही इस काल की कहानी भी नए युग के नए परिवेश को आत्मसात करती हुई प्रगति के पथ पर आगे बढ़ी है।

पुरानी पीढ़ी के कहानीकार

इस काल में उपन्यासकारों के समान पुराने कहानीकारों की लेखनी से भी अविराम कहानियों का सृजन होता रहा है। जैनेन्द्र, अज्ञेय, सियारामशरण गुप्त, इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, यशपाल, वृन्दावन लाल वर्मा, अमृतलाल नागर आदि पुरानी पीढ़ी के कथाकारों ने अनेक सुन्दर कहानियों का सृजन किया है; परन्तु उनके शिल्प-विधान तथा मान्यताओं में कोई विशेष अन्तर नहीं आ पाया है। जैनेन्द्र ने नैतिक मान्यताओं के प्रश्न को लेकर पुराने ढर्रे की कहानियाँ लिखी हैं। यशपाल की कहानियों में सामाजिक यथार्थ के साथ-साथ फ्रायड का प्रभाव भी यथावत् रहा है। अज्ञेय एवं जोशीजी की कहानियों में भी कोई नवीनता नहीं दिखाई दी है। जैनेन्द्र, अज्ञेय, जोशी आदि मनोविश्लेषण प्रधान कहानियाँ लिखने में और मानव की आन्तरिक प्रेरणाओं का अंकन करने में ही व्यस्त रहे हैं। भगवतीचरण वर्मा इधर

निरन्तर कहानियाँ लिखते रहते हैं। इधर 'सारिका' में उनकी कुछ बहुत सुन्दर कहानियाँ प्रकाशित हुई थीं।

कुछ उल्लेखनीय कहानीकार

कहानी के क्षेत्र में अज्ञेय और धर्मवीर भारती का अपना विशिष्ट महत्त्व है। उनकी कहानियाँ उनके उपन्यासों से भिन्न कोटि की हैं। इन कहानियों में कला का तो वही उन्नततम् रूप दिखाई पड़ता है जो उनके उपन्यासों में है; परन्तु सामाजिक यथार्थ इन कहानियों में उपन्यासों के समान बहिष्कृत नहीं है। इधर धर्मवीर भारती की एक बहुत ही सुन्दर कहानी पढ़ने को मिली— 'बन्द गली का आखिरी मकान।' भारती अब यदा-कदा ही कहानियाँ लिखते हैं, परन्तु जब भी लिखते हैं, उनकी कहानियों में कहानी-कला का समुन्नत रूप और सौन्दर्य निखरा हुआ दिखाई पड़ता है।

'नवाबी मसनद' एवं 'सेठ बाँकेमल' के लेखक अमृतलाल नागर ने इस काल में अनेक प्रभावपूर्ण कहानियाँ लिखी हैं। उनकी कहानियों में हास्य और व्यंग्य का तीखापन अधिक गहरा रहता है। पहाड़ी और उपेन्द्रनाथ अश्क की कहानियों में सामाजिक विषमता के प्रति तीव्र आक्रोश छिपा रहता है। भगवतशरण उपाध्याय ने राहुलजी के प्रसिद्ध कहानी-संग्रह 'वोल्गा से गंगा' की शैली की कहानियाँ लिखकर इतिहास की बिखरी कड़ियों को जोड़ने का प्रयत्न किया है। उनके इस संग्रह का प्रकाशन 'सबेरा' के नाम से हुआ है।

कहानीकारों की नई पीढ़ी

इधर पिछले २५-३० वर्षों में कहानीकारों की एक नई पीढ़ी का उदय हुआ था, जिसमें कई कहानीकार काफी प्रतिभाशाली हैं। रांगेय राघव आजादी से पूर्व ही कहानियाँ लिख रहे थे; परन्तु कुछ वर्ष पूर्व प्रकाशित उनकी कहानी 'गदल' इस नवीन युग की हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानी घोषित की गई है। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, विष्णु प्रभाकर, गंगाप्रसाद मिश्र, देवेन्द्र सत्यार्थी बलवन्तसिंह, अमृतराय, चौधरी तेजबहादुरसिंह, कर्त्तारसिंह दुग्गल, प्रभाकर माचवे आदि भी रांगेय राघव की पीढ़ी के उल्लेखनीय कलाकारों में से हैं।

नई पीढ़ी के उल्लेखनीय अन्य कहानीकार

इनके अतिरिक्त कहानीकारों की छठे दशक में सामने आई नवीन पीढ़ी में राजेन्द्र यादव (खेल खिलौने, जहाँ लक्ष्मी कैद है तथा अन्य अनेक नवीन कहानी-संग्रह), धर्मवीर भारती (चाँद और टूटे हुए लोग), ओंकार शरद

(झपकियाँ), विष्णुप्रभाकर (संघर्ष के बाद), मन्मथनाथ गुप्त (बलि का बकरा), शिवप्रसादसिंह (आर-पार की माला), मार्कण्डेय (पान फूल, महुए का पेड़ और हंसा जाई अकेला), द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण', मोहन राकेश, मन्नू भण्डारी, रजनी पनिकर, भगवतीसिंह, शमशेरसिंह नरूला, हर्षनाथ, आनन्दप्रकाश जैन, शैलेश मटियानी, श्रीकांत वर्मा, लक्ष्मीनारायण लाल, रॉबिन शा पुष्प, सुरेन्द्र-नाथ मल्होत्रा, शिवानी, शानी, मनहर चौहान, पानू खोलिया, रवीन्द्र कालिया, रामकुमार, सोमेश्वर, मृणाल पांडे, गिर्राज किशोर, मेहरुन्निसा परवेज, बदरुद्दीन, सूर्यबाला, दीप्ति खण्डेलवाल, दिनेश पालीवाल, कामतानाथ आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। परन्तु आज से दो दशक पूर्व की हिन्दी-कहानी दलबन्दी का भयंकर शिकार बनी हुई थी। कुछ लोग 'नई कहानी' के विधाता बन उसकी अप्रत्याशित उपलब्धियों के ढोल पीट रहे थे और पूर्वजों के दाय को नकार रहे थे। कमलेश्वर, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव आदि ने यही किया था। इनके विरोध में नवयुवकों का एक नया दल 'सचेतन कहानीकार' का बिल्ला लगाकर कहानी में उक्त तथाकथित तानाशाहों—नये कहानीकारों का विरोध करने के लिए उठ खड़ा हुआ। इन दोनों गुटों का सारा ध्यान और शक्ति विरोधियों को गालियाँ देने तथा अपना ढोल पीटने में ही लगा रहा। यह स्थिति चिन्तनीय थी। परन्तु अब यह विवाद शांत हो गया है और नए कहानीकार दलबन्दी की गंदगी और नवीन कला-प्रयोगों के मोह से मुक्त हो अत्यन्त सुन्दर ऐसी कहानियाँ लिख रहे हैं, जिनमें हमारा बहु-आयामीय जीवन अपने यथार्थ परिवेश के साथ मुखरित हो रहा है। मगर पिछले कुछ वर्ष से उन्हीं पुराने कहानीकारों ने 'समान्तर कहानी नामक एक नया आन्दोलन खड़ा कर पुनः दबी हुई गुटबन्दी को उभार दिया था अब यह तथाकथित नव-प्रगतिशील आन्दोलन भी अन्तिम साँसें ले रहा है। 'प्रगतिशीलता' का बिल्ला लगाकर कुछ लोग हिन्दी कहानी का अहित ही करते रहे हैं।

हिन्दी की नई कहानी पर पाश्चात्य कहानी के शिल्प-विधान का पर्याप्त प्रभाव रहा है। उपन्यासों के क्षेत्र में प्रेमचन्द के उपरान्त जिस नवीनता और विस्तार का प्रसार मिलता है, उसी परिणाम में कहानी के क्षेत्र में नहीं मिलता। फिर भी इधर पिछले कुछ वर्षों में हमारे कहानी-साहित्य की अभूतपूर्व प्रगति हुई है। इस काल में उपन्यासों की तुलना में कहानियाँ अधिक लिखी गई हैं। नई कहानी जीवन के विविध ज्ञात-अज्ञात क्षेत्रों का स्पर्श करती हुई आगे बढ़

रही है। उसने उपन्यासों को दबा-सा दिया है। बीच में कुछ लोगों ने 'अकहानी' जैसे नए आन्दोलनों का नारा उठाया था, परन्तु अब ऐसे लोगों की ओर कोई ध्यान तक नहीं देता। अब हिन्दी-कहानी पूर्ण स्वस्थ और सशक्त रूप धारण कर मन्थर गति से आगे बढ़ती चली जा रही है।

प्रश्न ५—स्वतंत्रता-प्राप्ति के उपरान्त रचे गए हिन्दी नाटक साहित्य की उपलब्धियों का परिचय दीजिए।

उत्तर—हिन्दी-नाटक : अपेक्षाकृत कम विकास

गत पृष्ठों में उपन्यास, आलोचना और कहानी-साहित्य का विवेचन करते हुए हम बता आये हैं कि पिछले तीन दशकों में हिन्दी में आलोचना, कहानी तथा उपन्यास के क्षेत्र में जितना अधिक कार्य हुआ, उसकी तुलना में हिन्दी-साहित्य की अन्य विधाएँ निर्धन ही रहीं; परन्तु उसका यह अभिप्राय नहीं कि अन्य विधाओं में कार्य ही नहीं हुआ। कार्य हुआ अवश्य; परन्तु परिमाण और समृद्धि की दृष्टि से बहुत कम हुआ। विशेष रूप से नाटक-साहित्य के क्षेत्र में तो बहुत ही कम काम हुआ। समष्टि रूप से भी हिन्दी-नाट्य-साहित्य विशेष समृद्ध कभी भी नहीं रहा। इसका कारण कदाचित् यह भी हो सकता है कि हिन्दी में हमेशा से उन्नत रगमंच का अभाव रहता चला आया है। प्रसाद आदि के अधिकांश नाटक अभिनेय न होकर पाठ्य ही अधिक माने गए। पिछले दो-ढाई दशकों में तो कोई भी नया नाटककार उभर कर सामने नहीं आया। थोड़े-से नवीन एकाङ्कीकारों को छोड़कर इस युग में बड़े नाटक लिखने वाले प्रायः पुराने नाटककार ही दिखाई पड़ते हैं।

विभिन्न विचारधाराओं का प्रभाव

इस युग से पूर्व हिन्दी में पौराणिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक, प्रेममूलक, समस्यामूलक आदि विभिन्न प्रकार के नाटक लिखे गये थे। इस युग की बदलती हुई परिस्थितियों के मध्य भी हिन्दी नाटककार इन्हीं पुरानी प्रवृत्तियों से ही प्रायः चिपके रहे। आज नाटक के क्षेत्र में गांधीवादी, समाजवादी तथा मनोविश्लेषणवादी विचारधाराओं का ही प्राबल्य दिखाई देता है। लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्यामूलक तथा प्रसाद के उच्चकोटि के ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा का तो इस युग में अधिक विकास नहीं हो पाया; फिर भी विभिन्न सामाजिक समस्याओं पर आधारित नाटकों का सृजन यथेष्ट परिमाण में हुआ है। सभी विचारधाराओं के नाटककारों में देश के नव-निर्माण

की व्यापक भावना है। सभी समाजवादी समाज के निर्माण के लिए प्रयत्नशील प्रतीत होते हैं; परन्तु कुछ नाटककार ऐसे भी हैं जो देश की सामाजिक समस्याओं से तटस्थ रह, सामाजिक परिस्थितियों से तनिक भी प्रभावित न हो, ऐतिहासिक, पौराणिक तथा प्रेम-मूलक नाटकों की रचना कर रहे हैं। इतिहास को वर्तमान की अनुरूपता में नाटकों द्वारा प्रस्तुत करने की प्रसाद की उस भव्य-परम्परा की कला-कुशलता और भव्यता का इन नाटककारों में अभाव-सा मिलता है।

रंगमंच की उन्नति के प्रयत्न

नाटक सम्बन्धी यह स्थिति इस विधा के विकास की दृष्टि से अत्यन्त चिन्तनीय हो उठी है। एक समृद्ध, समुन्नत और साधन-सम्पन्न रंगमंच का अभाव होने से हिन्दी नाटकों के लेखन और प्रकाशन को प्रोत्साहन नहीं मिलता। इसलिए स्वभावतः नाटककारों का उत्साह ठण्डा पड़ जाता है। इधर इस कमी को दूर करने का भी प्रयत्न किया जा रहा है। शिक्षा-संस्थाओं में नाटकों को अभिनीत करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिल रहा है। जन-नाट्य संघ तथा पृथ्वी थियेटर्स जैसी संस्थाओं ने नाटकों के अभिनय को लोकप्रिय बनाने में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करने के लिए सरकार ने 'नाटक अकादमी' की स्थापना कर इस विधा को समुन्नत करने का प्रयत्न किया है; परन्तु अन्य सरकारी संस्थाओं के समान ही यह संस्था भी गुटबंदी, कुनवापरस्ती और नौकरशाही की शिकार बनी हुई है। इधर कुछ समय से नाटकों को मंचित करने की प्रवृत्ति बड़ी तेजी से बढ़ी है। नगरों-कस्बों में अनेक नाट्य-संस्थाओं की स्थापना ने हिन्दी-रंगमंच को लोकप्रिय बनाने का सराहनीय प्रयत्न किया है।

नाटक : भारतीय संस्कृति के चितेरे

पिछले तीन दशकों के नाटक-साहित्य की प्रगति का प्रतिनिधित्व केवल वे ही नाटक कर सकते हैं, जो सामाजिक दायित्वों के प्रति सजग चेतना से अनुप्रेरित होकर लिखे गये हैं। इनमें विश्व एवं भारत की वर्तमान समस्याओं का चित्रण किया गया है। विश्व-शान्ति, सह-अस्तित्व, पंचशील जैसी विश्व-व्यापी-समस्याओं तथा भूदान, अछूतोद्धार, जमींदारी-उन्मूलन, भ्रष्टाचार, बेकारी, भाषा-विवाद, विभाजन जैसे विषय इन नाटकों की समस्यायें रही हैं।

उपर्युक्त सभी समस्याओं को लेकर दो प्रकार की विचारधाराएँ सामने आई हैं—गाधीवादी और समाजवादी। इसके अतिरिक्त कुछ नाटक ऐसे भी लिखे गये हैं, जिनका दृष्टिकोण शुद्ध सांस्कृतिक है। इनमें सांस्कृतिक नव-निर्माण एवं अभ्युदय के प्रति ही अधिक अनुराग और संकेत मिलता है; परन्तु ऐसे नाटक कम हैं। वैसे तो सभी नाटकों में वर्तमान वैज्ञानिक विकास की पृष्ठ-भूमि पर भारतीय संस्कृति की स्थापना का प्रयत्न किया गया है। देश के सांस्कृतिक एवं सामाजिक अभ्युत्थान की भावना का स्वर इस काल के नाटकों में साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा काफी प्रबल रहा है।

पुरानी पीढ़ी के नाटककार

पुराने खेमे के नाटककारों में से इस काल में राजा राधिकारमणप्रसादसिंह, लक्ष्मीनारायण मिश्र, रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी, सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ अश्क; भुवनेश्वर, जगदीशचन्द्र माथुर आदि सक्रिय रहे थे; और सच कहा जाय तो इन्हीं लोगों ने उल्लेखनीय नाटक लिखे थे। नवीन प्रतिभाओं में से अभी—कुछ एकांकीकारों को छोड़कर—कोई विशेष प्रसिद्धि नहीं प्राप्त कर सका है।

राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह ने 'धर्म की धुरी', तथा 'अपना पराया' नामक दो नवीन नाटक लिखे। 'धर्म की धुरी' में विभाजन से उत्पन्न विषम-परिस्थितियों का तथा 'अपना पराया' में मनुष्य के जीवन पर सामाजिक संस्कारों का कैसा प्रभाव पड़ता है, इन बातों को दिखाया गया है। उनका दृष्टिकोण गांधीवादी है। इसी कारण नाटकों में विश्व-बन्धुत्व और मानवता-वाद का स्वर प्रबल रहा है।

लक्ष्मीनारायण मिश्र

लक्ष्मीनारायण मिश्र ने इधर कई नाटक लिखे हैं—वितस्ता की लहरें, चक्रव्यूह, दशाश्वमेघ, वत्सराज, अशोक वन, जगदगुरु आदि। 'वितस्ता की लहरें' में दो भिन्न संस्कृतियों के संघर्ष को दिखाकर सह-अस्तित्व की सम्भावना का चित्रण किया गया है। मिश्रजी भारतीय संस्कृति के उपासक, आदर्शवादी नाटककार हैं। उनमे जीवन के प्रति आस्था तथा परिस्थितियों से समझौता करने की प्रवृत्ति लक्षित होती है, यद्यपि आधुनिक बुद्धिवाद का भी उन पर प्रभाव पड़ा है। 'चक्रव्यूह' उनका पौराणिक नाटक है। मिश्रजी के समस्या-नाटक हिन्दी मे बहुत चर्चित रह चुके हैं।

दो उल्लेखनीय नाटककार

हरिकृष्ण प्रेमी के 'कीर्तिस्तम्भ, उद्धार, शपथ, बादलों के पार, प्रथम जौहर तथा शतरंज के खिलाड़ी' आदि पूर्ण अनेकांकी नाटक इसी काल की रचनाएँ हैं। 'कीर्तिस्तम्भ' मेवाड़ के राजवंश से सम्बन्धित ऐतिहासिक नाटक है। प्रेमीजी इतिहास के मार्मिक प्रसङ्गों को चुनकर उनमें वर्तमान के स्वर को ध्वनित करने में सिद्धहस्त हैं। **उदयशंकर भट्ट** ने 'एकला चलो रे, समस्या का अन्त, आदिम युग, शक विजय, अम्बा, सगर विजय, धूमशिखा, कालिदास, मेघदूत, अन्धकार और प्रकाश, क्रान्तिकारी' आदि अनेक पौराणिक एवं सामाजिक नाटकों की रचना की है। 'नया समाज' उनका नवीनतम उल्लेखनीय नाटक माना जा सकता है। इसमें जमींदारी-उन्मूलन से उत्पन्न समस्याओं पर प्रकाश डालते हुए नये समाज के नये निर्माण के लिए नवीन चेतना प्रदान की गई है। इसके अतिरिक्त जीवन से सम्बन्धित अन्य अनेक समस्याओं का भी इसमें अंकन हुआ है। उनके समस्त नाटकों में राष्ट्रीय अभ्युत्थान की चेतना किसी-न-किसी रूप में मिल जाती है। उनका 'नया समाज' समस्या-प्रधान नाटक माना जा सकता है।

सेठ गोविन्ददास

सेठ गोविन्ददास ने १०० से ऊपर नाटक लिखे थे, उनके नवीन नाटकों में पाकिस्तान, भूदान, स्पर्द्धा तथा सात अन्य एकांकी, शाप और वर तथा अन्य एक पात्रीय नाटक आदि उल्लेखनीय हैं। सेठजी गांधीवादी थे, अतः उन्होंने मानव-जीवन की समस्याओं को गांधीवादी दृष्टिकोण से ही देखा है। **उपेन्द्रनाथ अश्क** के अलग-अलग रास्ते, कैद और उड़ान, अंजो देवी, अंधी गली आदि नाटक उल्लेखनीय हैं। इन सभी नाटकों में आधुनिक नारी के सभी पक्षों तथा जीवन की बहुमुखी समस्याओं से उत्पन्न निम्न-वर्गीय जीवन की विषमता, संघर्ष आदि का सुन्दर चित्रण हुआ है। 'अंधी गली' शिल्प-विधान की दृष्टि से अश्क जी का सर्वथा नूतन प्रयोग है। इसके सभी अंक सम्बद्ध होते हुए भी अपने में पूर्ण हैं। उनका अलग-अलग एकांकियों के समान अभिनय किया जा सकता है। 'अंधी गली' नाटककार अश्क के विकास का एक नया मोड़ है।

एकांकी नाटक

डा० रामकुमार वर्मा के इस काल में अनेक एकांकी-संग्रह प्रकाशित हुए

हैं—सप्त किरण, विभूति, कौमुदी महोत्सव, रम्यरास, ऋतुराज, ध्रुवतारिका, रजत-रश्मि आदि। इनमें सर्वत्र भारतीय आदर्श और संस्कृति की प्रतिष्ठा का प्रयत्न मिलता है। **विष्णु प्रभाकर** ने इस काल में नाटकों के क्षेत्र में बहुत काम किया है। उनके नाटक—ऐतिहासिक, सामाजिक और राजनीतिक—तीनों प्रकार के हैं। ऐतिहासिक नाटक 'नव-प्रभात' में उन्होंने अशोक-कालीन कथा द्वारा वर्तमान शांति-आन्दोलन, सह-अस्तित्त्व और पंचशील जैसी विचारधाराओं का प्रतिपादन किया है। उनके नाटकों में 'बन्धन मुक्त' अछूतोद्धार पर; 'साहस', गरीबी तथा वेश्यावृत्ति की समस्या पर; 'रक्त चन्दन' कश्मीर-युद्ध पर; 'माँ', 'भाई', 'बँटवारा' पारिवारिक समस्याओं पर; 'कांग्रेस मैन बनो' कांग्रेस में घुस आये अवसरवादियों पर; तथा 'लिपस्टिक की मुस्कान' आधुनिक फैशनपरस्त नारी पर लिखे गये हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने अन्य नाटकों में समाज और व्यक्ति की अन्य प्रकार की समस्याओं का अंकन किया है। हिन्दी के प्रमुख नाटककारों में 'कोणार्क' और 'भोर का तारा' के लेखक **जगदीशचन्द्र माथुर** तथा 'कारवाँ' के लेखक भुवनेश्वर मिश्र के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

अन्य प्रसिद्ध एकांकीकार

उपर्युक्त नाटककारों के अतिरिक्त भारत भूषण अग्रवाल, धर्मवीर भारती, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, शम्भूनाथ सक्सेना, विमला लूथरा, नरेश मेहता, प्रेम-नारायण टण्डन, मोहन राकेश आदि ने भी अनेक बड़े एवं एकांकी नाटक लिखकर इस विधा को समुन्नत करने में पर्याप्त सहयोग दिया है। धर्मवीर भारती का 'नीली झील' और मोहन राकेश के 'आषाढ़ का प्रथम दिवस', 'लहरों के राजहंस' और 'आधे अधूरे' (एकांकी) इधर काफी लोकप्रिय रहे हैं। बालोपयोगी शिक्षाप्रद नाटक हिन्दी में आरम्भ से अब तक बहुत कम लिखे गये हैं। यह कमी खटकने वाली है। बालोपयोगी कहानियाँ हिन्दी में बहुत लिखी गई हैं; परन्तु अभी तक हमारे नाटककारों का ध्यान इस तथ्य की ओर नहीं गया है कि छोटे-छोटे नाटकों के माध्यम से बच्चों की शिक्षा-अभिवृद्धि में कितना महत्त्वपूर्ण कार्य किया जा सकता है। इस दिशा में कृष्णमूर्ति महरोत्रा ने 'सप्त एकाङ्की' और 'पंचप्रसून', राजेन्द्रसिंह गौड़ ने 'नाट्य किरण' तथा लल्लनजी ने 'एक दूसरे के लिए' नामक बालोपयोगी नाटक लिखकर सराहनीय कार्य किया है।

जन-नाट्य-संघ का योगदान

इधर रंगमंच की उन्नति के प्रति भी जनता, लेखकों एवं कलाकारों में पर्याप्त जागृति हुई है। जन नाट्य-संघ एक अखिल भारतीय नाट्य-संस्था है। इस संस्था के लगभग सभी सदस्य ऐसे कलाकार हैं जो अपनी जीविका अर्जित करते हुए भी अवकाश निकालकर अभिनय किया करते हैं। इस संस्था की विभिन्न शाखाओं ने देश की जनता में लोक-साहित्य एवं प्रगतिशील लेखकों की विचारधाराओं का नाटकीकरण एवं उनका अभिनय कर उन्हें काफी लोकप्रिय बनाया है। साथ ही, इसके सदस्यों ने रंगमंच-सम्बन्धी नवीन एवं प्राचीन प्राविधियों के अनेक प्रयोग किये हैं। १९५७ में दिल्ली में हुई जन-नाट्य-संघ की अखिल भारतीय प्रदर्शनी को देखकर यह प्रमाणित हो गया था कि रंगमंच के क्षेत्र में हिन्दी के कलाकार किसी से कम नहीं है। रंगमंच एवं अभिनय-कला की इसी प्रगति को देखकर भारत-सरकार ने 'नाटक अकादमी' की स्थापना कर अत्यन्त सराहनीय कार्य किया है। यह अकादमी विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं में आदान-प्रदान आदि का कार्य करती है और साथ ही रंगमंच एवं अभिनय को ऊँचा उठाने के लिए सुझाव देती रहती है।

नए रंगमंचीय प्रयोग

इधर नाटक की प्राविधि (तकनीक) के अनेक प्रयोग हुए हैं। कुछ ऐसे नवीन नाटक लिखे गए हैं, जिनमें तीन अंकों के स्थान पर एक ही अंक होता है; फिर भी उन्हें एकाङ्की नहीं माना जा सकता। ऐसे नाटक चित्रण की व्यापकता और सर्वाङ्गीणता की दृष्टि से पूर्ण नाटक होते हैं। अश्क का 'कैद', 'आदिमार्ग' आदि में इसी नवीन तकनीक का प्रयोग हुआ मिलता है। छाया-नाटक भी एक नवीन प्रयोग है। कुछ नाटकों में अनेक वर्षों की फैली हुई कथावस्तु को समेटकर छायाचित्र—मूक नृत्य, सूत्रधार आदि की सहायता से संक्षेप में प्रस्तुत किया जाता है। डा० रामगोपालसिंह चौहान के 'बढ़े चलो' नाटक में इसी तकनीक की सहायता से सन् १९४७ तक के सम्पूर्ण राष्ट्रीय आन्दोलन का चित्र उतार दिया गया है।

एकांकियों के विभिन्न नए रूप

इसके अतिरिक्त मूक-नृत्य-नाटिकाएँ भी सामने आई हैं, जिनमें अभिनेता-अभिनेत्रियाँ मूक-चित्रपटों के पात्रों के समान मूक-अभिनय, नृत्य आदि द्वारा अपने भावों एवं कार्यों को प्रकट करते हैं और इनके साथ-साथ पद्य या गद्य में

सूत्रधार अथवा दिग्दर्शक उनकी व्याख्या करता चलता है। इस तकनीक का अभी अधिक प्रचार नहीं हो पाया है। रेडियो नाटक इस काल में काफी लोकप्रिय हुए हैं। चिरंजीत, अमृतलाल नागर, शरद नागर आदि ने इस क्षेत्र में अच्छा काम किया है। प्राचीन यूनानी नाटकों तथा भारतीय नौटङ्की, रास, जात्रा आदि के अनुकरण पर आजकल कुछ ऐसे नाटकों का निर्माण हो रहा है, जिनका अभिनय खुले रंगमंच पर किया जाता है। इसके लिए प्रेक्षागृहों की जरूरत नहीं होती। अंग्रेजी ओपेरा के अनुकरण पर हिन्दी में भी एकाध ओपेरा नाटक लिखे गये हैं। सम्भवतः नरेन्द्र शर्मा रचित प्रथम ओपेरा नाटक बुद्ध जयन्ती के अवसर पर दिल्ली आकाशवाणी ने प्रसारित किया था। हिन्दी में कुछ भावरूपक भी लिखे गये थे; जैसे—पन्त का 'ज्योत्स्ना' तथा उदयशंकर भट्ट का 'विश्वामित्र' और 'राधा', परन्तु ये भावरूपक लोकप्रिय नहीं हो सके। इसलिए इनका विकास नहीं हुआ।

इधर संस्कृत नाट्य-शास्त्र के, नाटकों में प्रयुक्त किए जाने वाले, 'भरत वाक्य' के अनुकरण पर विष्णु प्रभाकर ने अपने नाटक 'नव प्रगति' में एक नवीन तकनीक का प्रयोग किया है। इसे दूसरे शब्दों में 'उपसंहार' भी कहते हैं। दुर्गाप्रसाद ने संस्कृत-नाट्य-शास्त्र की 'प्रस्तावना' का अपने नाटक 'शान्ति-दूत' में एक नवीन प्रयोग किया है। अब कुछ नाटकों में सूत्रधार का भी प्रयोग होने लगा है।

पिछले तीस वर्ष के नाट्य-साहित्य के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि इस क्षत्र में काफी कार्य और प्रगति हुई है। रंगमंच का पुनरुत्थान किया गया है। नई-नई तकनीकों का प्रयोग हुआ है। इस दृष्टि से इस प्रगति को सन्तोषजनक तो माना जा सकता है; परन्तु कथा-साहित्य की तुलना में यह अभी काफी पीछे है।

प्रश्न ६—पिछले तीन दशकों की हिन्दी-कविता का विवेचन करते हुए बताइए कि क्या इस काल में कविता का ह्रास हुआ है ?

उत्तर—कविता का असमर्थ रूप

पिछले तीन दशकों की हिन्दी-कविता की उपलब्धियों का मूल्यांकन करते समय मन क्षोभ से भर उठता है। इस काल के कथा-साहित्य, आलोचना, नाटक आदि के क्षेत्र में पर्याप्त विस्तार और गहराई आई है, जबकि हिन्दी-साहित्य के इतिहास में साहित्य की इन विधाओं का जीवन कविता की तुलना में सर्वथा

नवीन और अल्पकालीन रहा है। हिन्दी-कविता की परम्परा काफी समृद्ध और प्राचीन है। सन्तों, भक्तों, शृंगारकालीन कवियों एवं आधुनिक काल की विभिन्न काव्यधाराओं की समृद्ध पृष्ठभूमि को सामने रखते हुए जब हम इस काल की कविता पर नजर डालते हैं तो हल्की-सी निराशा होती है। हिन्दी-कविता सदैव से युग की चेतना को अभिव्यक्ति प्रदान करती रही है। कभी वह जन-जीवन के साथ चलती रही है तथा कभी उससे विमुख भी हो उठी है; परन्तु विमुख होते हुए भी कला की दृष्टि से उसका अपना एक पृथक् और विशिष्ट मूल्य रहा है। लेकिन इसकाल की कविता अधिकांशतः अपने इन दोनों कर्त्तव्यों को निबाहने में असफल एवं असमर्थ सिद्ध हुई है।

कविता युग का साथ न दे सकी

हिन्दी-कविता युग की भावनाओं को प्रतिध्वनित करती रही है, इतिहास इसका साक्षी है। उसने जान-बूझकर कभी भी अपने पाठकों अथवा श्रोताओं को धोखा नहीं दिया है। परन्तु जब हम अपनी इस काल की कविता का मूल्यांङ्कन करने बैठते हैं, तो पाते हैं कि इतनी समृद्ध परम्परा के उत्तराधिकारी होते हुए भी इस काल के अनेक तथाकथित प्रबुद्ध कवि अपने लक्ष्य से भ्रष्ट होकर भ्रान्तियों एवं षड्यन्त्रों की अन्धकारपूर्ण भूलभुलैयों में भटकते रहे हैं आजादी के बाद इस काल के कवियों का उत्तरदायित्त्व और भी अधिक बढ़ गया था। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद भारत के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक वातावरण में अनेक परिवर्तन हुए, जिनका हिन्दी के कलाकारों पर परोक्ष या अपरोक्ष रूप से प्रभाव पड़ा। इस प्रभाव के दर्शन अन्य विधाओं में तो हुए; परन्तु कविता इन प्रभावों से बहुलांश में अछूती-सी रही। वह युग की प्रगति का साथ न देकर, प्रयोगों के कंटकाकीर्ण पथों पर भटकती रही। अपने सम्मुख राजपथ जैसी प्रशस्त परम्परा की राहें रहते हुए भी हमारे अधिकांश कवि नवीन राहों का अन्वेषण करने में व्यस्त रहे। हम गत पृष्ठों में प्रयोगवाद का विवेचन करते हुए इसके कारणों पर पर्याप्त प्रकाश डाल आये हैं। संक्षेप में, यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त है कि हिन्दी के प्रयोगवादी कवि इस काल की कविता के बहुत समय तक होने वाले पतन एवं विकृति के लिए पूर्णरूपेण उत्तरदायी हैं। उनके इस कलुषतापूर्ण दम्भ, पाखण्ड आदि से प्रेरित अपराध के लिये हिन्दी का पाठक उन्हें कभी भी क्षमा नहीं कर सकेगा। हिन्दी के इन तथाकथित प्रबुद्ध चेताओं को साहित्य के इतिहास में सदैव उपेक्षा के

साथ स्मरण किया जाता रहेगा। साहित्य के जनवादी-लोकपथ पर चलने में इनकी कविता सर्वथा असमर्थ रही है। इस दशा को देखते हुए कविता के क्षेत्र में गतिरोध की स्थिति को स्वीकारा जा सकता है। कुछ लोग कविता के इस युग को ह्रासकालीन युग कहते हैं, परन्तु हमारे मित्र प्रो० देवेन्द्र शर्मा इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका स्पष्ट कथन है, ''पिछले दशक (यहाँ छठवें दशक से अभिप्राय है) को निस्संकोच रूप से 'स्टैग्नेन्ट' (गतिरोध) का युग कहा जा सकता है। मुझे कतिपय आलोचकों के 'डिकेडेन्ट' (ह्रासोन्मुख) शब्द पर आपत्ति है।''

प्रयोगवाद का कुत्सित रूप

देवेन्द्रजी के उक्त कथन में सार है। 'स्टैग्नेन्ट' (गतिहीनता) शब्द का प्रयोग करते समय कदाचित् हिन्दी-कविता की समृद्ध परम्परा को सामने रख-कर वे नई उपलब्धियों की आशा कर रहे थे, जो उन्हें नहीं मिलीं—उसी परिमाण में, जिस परिमाण की सभी समझदार व्यक्ति अपेक्षा रखते थे। इसलिए उनका क्षुब्ध होना संगत है। परन्तु देवेन्द्रजी का यह अभिप्राय नहीं कि इस काल की कविता पूर्णतः स्टैग्नेन्ट (गतिहीन) ही रही है उनका विरोध एवं क्षोभ प्रयोगवादी कविता की उपलब्धियों के प्रति है, जो प्रभाव और परिमाण की दृष्टि से नगण्य है। प्रयोगवाद से भिन्न जो कविता लिखी गई है, उसमें आशा एवं विश्वास का स्वर है। इस कविता में छायावादी, स्वच्छन्दतावादी, प्रगतिवादी शैली में नवीन समस्याएँ ध्वनित हुई हैं। नई धाराओं, नई शैलियों और नई वर्ण्य-वस्तुओं का उद्भव हुआ है। सुन्दर गीतिकाव्य लिखे गए हैं। दो-एक उच्चकोटि के महाकाव्य भी प्रकाशित हुए हैं; परन्तु ऐसे प्रयास असंग-ठित और छुटपुट ही रहे हैं। संगठित प्रयास प्रयोगवादी कविताओं का ही रहा है। प्रयोगवादी कविता से भिन्न प्रकार के काव्य-संग्रहों के प्रकाशन के समय आर्थिक अभाव सामने आ खड़ा होता है। प्रकाशक यह कहकर ऐसे संग्रहों को प्रकाशित करने से इन्कार कर देते हैं कि ''साहब, छाप कर क्या करें, कविता-संग्रह बिकते ही नहीं।''

कविता : जन-विरोधी षड्यन्त्र की शिकार

परन्तु प्रयोगवादी कवियों के व्यक्तिगत एवं सामूहिक काव्य-संग्रहों का प्रकाशन अबाध गति से होता रहा है और अब भी हो रहा है। इन प्रकाशनों की बाह्य साज-सज्जा, कागज, छपाई आदि को देखकर ऐसा लगता है कि

इनके सम्मुख आर्थिक अभाव की कोई समस्या ही नहीं है। समझ में नहीं आता कि इन्हें आर्थिक अभाव क्यों नहीं सताता ? इनके पास पैसा कहाँ से आता है ? इनके जन-विरोधी प्रयत्नों को कौन बढ़ावा देता है ? यद्यपि इस समस्या का साहित्य की आलोचना से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता, फिर भी जब हम देखते हैं कि इस जन-विरोधी काव्यधारा को, जो हिन्दी के उगते हुए सितारों को गुमराह कर रही थी, जनता का विरोध होते हुए भी इतना बढ़ावा मिलता रहा, तो मन में शंका और संदेह के बादल घुमड़ने लगते हैं। इसमें जनता और साथ ही देश विरोधी षड्यन्त्र की गंध आने लगती है। क्या आलोचक का यह कर्त्तव्य है कि वह इस खतरे की ओर से आँखें बन्द कर ले ? इसका पर्दाफाश करना उसका पहला कर्त्तव्य है। सैद्धान्तिक आधार पर प्रयोगवाद के जनविरोधी रूप का पर्दाफाश करना आवश्यक है; परन्तु साथ ही यह दिखाना भी आवश्यक है कि प्रयोगवादी इस जनविरोधी, घोर वैयक्तिक चिन्तनधारा का प्रचार शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से कर रहे हैं या उसके मूल में उनका कोई निहित स्वार्थ भी है ?

हम यहाँ इस विषय पर अधिक कुछ न कहकर, समर्थ आलोचकों से उपर्युक्त आर्थिक समस्या के समाधान के प्रकारों की ही खोजबीन करने का आग्रह करना चाहते हैं। अस्तु,

आशावादी स्वरूप रूप भी

इस काल की कविता पूर्णतः दीन और हीन नहीं है। छायावादी, स्वच्छन्दतावादी तथा प्रगतिवादी शैली के अनेक छोटे-बड़े संग्रह इस काल में प्रकाशित हुए हैं। छायावादी, प्रगतिवादी तथा स्वच्छन्दतावादी शैली में कविता लिखने वाले इस काल के कवियों एवं उनके संग्रहों में निम्नलिखित कवि एवं उनके कविता-संग्रह उल्लेखनीय हैं—

कवि	कविता संग्रह
निराला	अर्चना, आराधना, गीत निकुंज
पन्त	'उत्तरा' से 'अतिमा' तक
डा० रामविलास शर्मा	रूप तरंग
बच्चन	मिलन-यामिनी, प्रणय-पत्रिका, धार के इधर-उधर, त्रिभंगिमा
अंचल	वर्षान्त के बादल, विराम-चिह्न

कवि	कविता संग्रह
नीरज	विभावरी, प्रयाणगीत, मृत्युगीत, दो गीत आदि
कमलेश	दूब के आँसू, धरती पर उतरो, तू युवक है
वीरेन्द्र मिश्र	गीतम
नवीन	क्वासि
बलवीर सिंह 'रंग'	संग्राम
घनश्याम अस्थाना	भोर के सपने

प्रगतिवादी काव्यधारा

इन कवियों के अतिरिक्त भी इस काल में अन्य अनेक ऐसे कवि सामने आए जिनके काव्य में आशावादी स्वर मुखरित हुए हैं, कविता के नए रूप-रंग उभरे हैं। उनके अनेक काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं और आए-दिन नए-नए काव्य-संग्रह प्रकाशित होते रहते हैं। उपर्युक्त कवियों के उक्त संग्रहों में स्वच्छन्दतावादी शैली का ही प्राधान्य हैं, यद्यपि इन संग्रहों में कुछ प्रगतिवादी तत्त्व भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते है। नीरज एवं वीरेन्द्र मिश्र की कविता में पर्याप्त ओज एवं विद्रोह के स्वर हैं। प्रगतिवादी शैली एवं विचार धारा के कवियों ने इधर काफी उल्लेखनीय कार्य किया है; जैसे—निराला के बेला, नये पत्ते; कवि नरेन्द्र शर्मा के रक्तचन्दन, अग्निशस्य, कदलीवन; सुमन का विश्वास बढ़ता ही गया पर आँखें न भरीं; कमलेश के तू युवक है, धरती पर उतरो; त्रिलोचन शास्त्री का 'धरती'; केदारनाथ अग्रवाल का 'युग की गंगा; डा० रामविलास शर्मा का 'रूप तरंग'; घनश्याम अस्थाना का 'भोर के सपने' आदि। इस प्रगतिवादी काव्य में कला का सुन्दर निखार एवं अभिव्यक्ति की प्रौढ़ता आई है। प्रगतिवादी आलोचक के रूप में प्रसिद्ध डा० रामविलास शर्मा के एकमात्र कविता-संग्रह 'रूप-तरंग' ने उन्हें कवि के रूप में पर्याप्त ख्याति प्रदान की है।

प्रयोगवादी काव्य

परन्तु उपर्युक्त दोनों धाराओं के कवि सम्मिलित रूप में इतने कविता-संग्रह प्रकाशित नहीं कर पाये हैं, जितने कि अकेले प्रयोगवादी कवियों के हुए हैं। इनके संग्रह दो प्रकार के हैं—व्यक्तिगत और सामूहिक। व्यक्तिगत कविता संग्रहों में अज्ञेय के 'हरी घास पर क्षण भर, बावरा अहेरी, इन्द्रधनुष रौंदे गये; धर्मवीर भारती के 'ठण्डा लोहा', जगदीश गुप्त का 'नाव के पाँव;

भवानीशंकर मिश्र का 'गीत फरोश'; गिरिजाकुमार माथुर का 'धूप के धान' तथा दुष्यन्त कुमार का 'सूर्य का स्वागत' आदि उल्लेखनीय हैं। इन संग्रहों को देखकर एक बात से आशा बँधती है कि इन कवियों में सभी गुमराह नहीं हैं। गिरिजा कुमार माथुर, भवानीशंकर मिश्र और दुष्यन्त कुमार में प्रगति के काफी तत्त्व और लक्षण मिलते हैं। इनके कुछ गीत तो बहुत ही सुन्दर बन पड़े हैं। यदि ये रूप विधान के क्षेत्र में तथाकथित नवीन प्रयोगों के मोह से अपने को मुक्त कर लें तो इनसे निस्संदेह हिन्दी-कविता के गौरव की वृद्धि हो सकती है।

मिश्रित काव्य-संग्रह

प्रयोगवादी कवियों ने 'तारसप्तक' (भाग—१) के सामूहिक संग्रहों की परम्परा को काफी आगे बढ़ाया है, जिसमें 'तारसप्तक' (भाग—२) (भाग—३), 'नई कविता' के नाम से प्रकाशित तीन भाग आदि उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त अन्य प्रकार के काव्य-संग्रहों में निकष, संकेत और हंस नामक विशाल संग्रह, जिनमें गद्य और पद्य—दोनों का संग्रह हुआ है, सन् ५४ की कविताएँ सन् ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, कवि भारती तथा राजधानी के कवि, ताज की छाया में आदि उल्लेखनीय हैं। इन संग्रहों में सभी प्रयोगवादियों के काव्य-संग्रह नहीं हैं। संकेत, हंस, कवि भारती, राजधानी के कवि, ताज की छाया में नामक संग्रहों में अन्य धाराओं के कवियों की प्रधानता है। इस विषय में यह बात ध्यान देने योग्य है कि इधर कुछ वर्षों में प्रयोगवाद के विरुद्ध उठते हुए विरोध को देखकर प्रयोगवादियों ने 'प्रयोगवाद' नाम छोड़कर अपनी कविताओं को 'नई कविता' के नाम से सम्बोधित करना प्रारम्भ कर दिया है। इसलिए कुछ समय तक 'नई कविता' प्रयोगवाद का भी अर्थ देती रही थी। इधर इस नाम का भी विरोध होने लगा है। नाम की यह केंचुली बदलने का छल जनता से छिपा नहीं रह सका है।

उपर्युक्त विभिन्न संग्रहों के अतिरिक्त अनेक मासिक, साप्ताहिक आदि पत्र-पत्रिकाओं में नये और पुराने एवं सभी शैली तथा विचारधाराओं के कवियों की कविताएँ प्रकाशित होती रहती हैं। इन पत्रिकाओं एवं पत्रों में प्रतीक, अजन्ता, ज्ञानोदय, कल्पना, अवन्तिका, युग-चेतना, साहित्यकार, पाटल, हिमालय, प्रतिभा, वसुधा, नई धारा तथा साप्ताहिकों में साप्ताहिक हिन्दुस्तान एवं धर्मयुग उल्लेखनीय हैं।

आधुनिक प्रबन्ध-काव्य

हिन्दी के प्राचीन एवं आधुनिक महाकाव्यों की परम्परा का भी इस काल में विकास हुआ। खण्ड-काव्य और प्रबन्ध-काव्य—दोनों ही लिखे गये हैं। प्रसाद की 'कामायनी' के उपरान्त डा० रामानन्द तिवारी का 'पार्वती' जैसा महाकाव्य प्रकाशित हुआ है। दिनकर के 'कुरुक्षेत्र' और उनके अन्तिम महाकाव्य 'उर्वशी' ने महाकाव्यों की परम्परा में एक पग और आगे बढ़ाया है। इसके अतिरिक्त रश्मि-रथी, देवार्चन, जय भारत, कुटी क्रंदन, पथ पर तथा मानस मूर्च्छना आदि अन्य प्रबन्ध-काव्य भी उल्लेखनीय हैं। पंत का नवीन प्रबन्ध-काव्य 'लोकायतन' काफी विवाद और चर्चा का विषय बना हुआ है। इसे कुछ लोग इस युग का एक श्रेष्ठ महाकाव्य मानते हैं।

एकांगी आलोचना का परिणाम

इस काल की हिन्दी-कविता की प्रगति के उपर्युक्त विहंगावलोकन को देखते हुए हमें भविष्य के प्रति निराश नहीं होना चाहिए। इस काल में गद्य की प्रधानता रही है और अब भी है, परन्तु काव्य के क्षेत्र में भी रचनाएं हो रही हैं। परिमाण, गहराई एवं विस्तार की दृष्टि से जब हम उन्हें देखते हैं तो सन्तोष नहीं होता; क्योंकि हम छायावादी कविता के समृद्ध युग के दर्शन कर चुके हैं। उसकी तुलना में वर्तमान प्रगति हलकी-सी प्रतीत होती है। इस दृष्टि से हम इस काल की कविता को 'स्टैग्नेन्ट' तो नहीं मान सकते, 'डिकेडेंट' भले ही मान लें, फिर भी आज की कविता में आस्था और आनन्द के स्वर गूँज रहे हैं जो भविष्य में और भी मुखरित होंगे। इस निराशा के वातावरण को उत्पन्न करने में हमारे आलोचकों का भी हाथ है। वे लोग नई कविता' को प्रयोगवादी मात्र मानकर उसी का विरोध करने में दत्तचित्त रहे, और ऐसा करते समय इस काल की स्वस्थ कविता की उपलब्धियों का न्यायपूर्ण मूल्यांकन न हो सका।

मूल्यांकन की सही दिशा

हर्ष का विषय है कि अब आलोचकों का ध्यान स्वस्थ कविता के मूल्यांकन की ओर जा रहा है। प्रयोगवाद की कविता समाज की प्रगति के लिए बाधक है। इसलिए हमें उसकी अधिक चर्चा से अलग रहकर उसकी उपेक्षा करनी चाहिए, तभी 'हिन्दी-कविता' उसके भ्रम-जाल से मुक्ति पा सकेगी। इधर

डा० रामविलास शर्मा ने हिन्दी की नई कविता का विवेचन-विश्लेषण करते हुए एक लेख-माला लिखी थी, जिसमें उन्होंने नई कविता के शुभाशुभ—दोनों रूपों और पक्षों का अपनी तीखी और गहरी अन्तर्दृष्टि वाली शैली में मूल्यांकन किया था।

गीतिकाव्य की बढ़ती लोकप्रियता

इधर हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में गीतों की लोकप्रियता बढ़ती जा रही है। अनेक नवोदित कवि सुन्दर गीतों का सृजन कर रहे हैं। कवि-सम्मेलनों ने इन गीतों को जनता में बहुत लोकप्रिय बना रखा है। नवीन गीतकारों में रामकुमार चतुर्वेदी 'चंचल', जगत प्रकाश चतुर्वेदी, नीरज, वीरेन्द्र मिश्र, शिवबहादुरसिंह भदौरिया, सोम ठाकुर, भारतभूषण, घनश्याम अस्थाना, शचीन भटनागर निखिल संन्यासी आदि विशेप रूप से उल्लेखनीय हैं। भाव, भाषा, छंद आदि में नवीनता दिखाई पड़ती है। ये गीत व्यक्तिगत आकुल भावनाओं के मधुर प्र ाशन के साथ-साथ जन-जीवन को भी छूते हुए चलते हैं। इन गीतों में देश की मिट्टी का स्वर प्रमुखता प्राप्त करता जा रहा है। नई कहानी, नई कविता के ही समान इधर नव-गीत का एक नया आंदोलन उठा है। इस आंदोलन के मूल में पुरानों से स्वयं को नितांत भिन्न और नवीन सिद्ध करने की ही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। इसी प्रकार अकविता, ठोस कविता आदि के भी नारे उठे थे। इन नवीन काव्य-कृतियों में नये प्रयोगों द्वारा एक विचित्रता उत्पन्न कर अपने प्रति पाठकों का ध्यान आकर्षित करने की प्रवृत्ति ही प्रधान रूप से लक्षित होती है। परन्तु कुल मिलाकर हिन्दी-कविता आगे बढ़ रही है। नये प्रयोग अब क्षणजीवी रहकर ही समाप्त हो जाते हैं। अब नए प्रयोगों का युग समाप्त-सा हुआ समझना चाहिए। नए कवियों में आस्था और सामाजिक दायित्व के स्वर मुखरित हो रहे हैं।

नई कविता

अन्त में एक बात और।

इधर 'नई कविता' शब्द बड़ा भ्रम उत्पन्न करने वाला बन गया है। इस शब्द से किस काव्य-रूप का अर्थ लिया जाय, यह समझ लेना बहुत जरूरी है। जब प्रयोगवादी-काव्य काफी बदनाम हो उठा तो उसके विधाताओं ने अपनी कविताओं को 'नई कविता' कहना आरम्भ कर दिया जो प्रयोगवादी-कविता का ही दूसरा नया नाम था। वस्तुतः नई कविता उस सम्पूर्ण मिश्रित काव्य-

धारा को माना जा सकता है जो स्वतन्त्रता के बाद विभिन्न रूपों में प्रवाहित होती चली आ रही है। उसमें छायावादी, प्रगतिवादी, प्रयोगवादी, वैयक्तिकता प्रधान, समाजवादी, अच्छी-बुरी सभी प्रकार की काव्य-रचनाएँ आ जाती हैं, जो अपनी नई भाव-भूमि, नवीन शिल्प-विधान, नई भाषा और नए विचारों के कारण अपनी पूर्ववर्ती काव्य-धाराओं से भिन्न प्रतीत होती हैं। इसी कारण उसे 'नई कविता' कहा गया है।

प्रश्न ७—'नई कविता' से आपका क्या अभिप्राय है? इसे स्पष्ट करते हुए हिन्दी की 'नई कविता' की सोदाहरण व्याख्या कीजिए।

उत्तर—'नई कविता' से हिन्दी-जगत में दो प्रकार के अर्थ ग्रहण किए जाते हैं। एक अर्थ प्रयोगवादियों द्वारा दिया हुआ है, तथा दूसरा हिन्दी के सुधी आलोचकों द्वारा। सन् १६५० के लगभग, विदेशी प्रचार-तंत्र से प्रभावित हो हिन्दी के कुछ नए कहानीकारों ने अपनी कहानियों को 'नई कहानी' नाम देकर अपना प्रचार जोर-शोर के साथ करना आरम्भ कर दिया था। इससे उनकी चर्चा होने लगी थी, ओर यही वे चाहते भी थे। हमारे प्रयोगवादी-कलाकार उससे पहले से ही अपने साहित्य का, विशेष रूप से अपनी कविताओं का, ऐसा ही प्रचार करते आ रहे थे और खूब चर्चित होते रहते थे। इन दोनों ने ही अपने पूर्ववर्ती साहित्य की परम्परा और उसकी देन को नकारते हुए सर्वथा नए प्रकार का साहित्य रचने का दावा किया था और उसकी लम्बी-लम्बी व्याख्याएँ की थीं। परन्तु जब हिन्दी के सुधी आलोचकों ने प्रयोगवाद की बखिया उधेड़नी शुरू कीं और प्रयोगवाद काफी बदनाम हो उठा, तो प्रयोगवादी परेशान हो गए। उसी समय उन्होंने देखा कि कुछ कहानीकार अपनी कहानियों के साथ 'नई' का विशेषण जोड़ कर अपना धुँआधार प्रचार कर रहे हैं और खूब चर्चित हो रहे हैं। यह देख हमारे प्रयोगवादियों ने भी नाम की केंचुली बदलने का निश्चय कर अपनी कविताओं को 'नई कविता' कहना आरम्भ कर दिया। 'नई कविता' शीर्षक से उनके कई संकलन भी प्रकाशित हुए। परन्तु उनका यह नाम बदलने का छद्म अधिक समय तक छिपा नहीं रह सका। सुधी आलोचकों ने उनके इस छद्म की भी कलई खोलकर रख दी।

इस प्रकार 'नई कविता' का एक अर्थ हुआ—वह प्रयोगवादी कविता, जो पहले 'प्रयोगवादी' कहलाती थी, फिर बाद में 'नई कविता' कहलाने लगी।

'नई कविता' का दूसरा अर्थ उस कविता से है, जो देश की आजादी के

आस-पास लिखी जानी आरम्भ हुई थी, तथा जिसमें हिन्दी-साहित्य की नई-पुरानी सारी काव्यधाराएँ अपनी अभिव्यक्ति पाती रही हैं। अर्थात् आजादी के बाद से आज तक की सम्पूर्ण हिन्दी-कविता को 'नई कविता' कहा जा सकता है और कहा भी जाता है। इसे 'नई कविता' इसलिए कहना अधिक उचित है कि यह अपनी पूर्ववर्ती काव्य-धाराओं के समान किसी एक वाद तक ही सीमित न रह, अब तक के सम्पूर्ण वादों और विचारधाराओं को अपने भीतर समेट कर, अनेकमुखी होकर आगे बढ़ती चली जा रही है। इसमें प्रयोगवादी, प्रगतिवादी, क्षयी रोमान्सपरक हालावादी, परम्परावादी, प्रतीकवादी आदि विभिन्न काव्यधाराओं से प्रभावित एक मिले-जुले से काव्य का सृजन हो रहा है। इसी कारण इस कविता पर किसी वाद-विशेष का बिल्ला नहीं लगाया जा सकता। यद्यपि इसका मूल स्वर यथार्थवादी रहा है, फिर भी इसे विशुद्ध 'प्रगतिवादी' कहना मुश्किल है।

नई कविता की उपेक्षा और उसके कारण

हिन्दी की यह 'नई कविता' आजादी के उल्लास और क्षोभ से प्रभावित नए युग को वाणी दे रही थी। परन्तु हिन्दी-साहित्य में, इस युग में कविता की अपेक्षा गद्य की रचनाएँ अधिक मात्रा में लिखी जाने लगी थीं। इसलिए गद्य-साहित्य की ही अधिक चर्चा होती रही। इस युग में जो कवि बिना किसी विशिष्ट विचारधारा से प्रभावित हुए स्वतंत्र रूप से काव्य रचना करते रहे, उन्हें गुटों में विभाजित आलोचकों से उपेक्षा ही मिलती रही। इसी कारण न तो उनके काव्य का प्रचार ही हुआ और न उन्हें प्रसिद्धि ही मिल सकी। प्रगतिवादी कवियों को प्रचार के माध्यम सुलभ नहीं थे, इसलिए उनकी अधिक चर्चा नहीं होती थी। इस युग के अधिकांश आलोचक प्रयोगवाद, छायावाद आदि की शव-परीक्षा करने और परस्पर उठा-पटक करने में ही लगे रहते थे। इस युग में सबसे ज्यादा चर्चा प्रयोगवादी-कविता की ही होती रही और वह ध्वंसात्मक ही अधिक। यह आलोचना प्रगतिवादी और आदर्शवादी आलोचक ही अधिक करते थे। बदले में प्रयोगवादी प्रगतिवादी-काव्य की आलोचना करने में लगे रहते थे। इस स्थिति में हिन्दी के नए कवियों तथा उनकी अच्छी और स्वस्थ रचनाओं की ओर ध्यान नहीं दिया जाता था। अतः उन्हें प्रोत्साहन नहीं मिलता था। इसी कारण हिन्दी की यह वाद-मुक्त नई कविता बहुत समय तक उपेक्षित बनी रही।

आजादी की दो प्रकार की प्रक्रिया

इस युग की नई कविता को अच्छी तरह समझने के लिए हमें उन परि-स्थितियों को पहले समझ लेना चाहिए, जिन्होंने इस नई कविता को जन्म दिया था। भारत की जनता ने आजादी से बड़ी-बड़ी उज्ज्वल आशाएँ लगा रखी थीं। परन्तु इस आजादी के साथ देश का जो विभाजन हुआ था, करोड़ों लोगों को अपने जान-माल का जो भयंकर नुकसान उठाना पड़ा था, उसने आजादी के उल्लास पर पानी-सा फेर दिया था। फिर भी जनता को यह आशा थी कि बर्बादी के इस तूफान के गुजर जाने के बाद जन-जीवन सामान्य और सुखी हो उठेगा, देश के कर्णधार उसके दुःख-दर्द और अभावों को दूर करने का प्रयत्न करेंगे। परन्तु शीघ्र ही जनता यह महसूस करने लगी कि उसके दुख-दर्द की कोई भी सुनवाई नहीं करता। देश का नया शासक—काला साहब, पुराने गोरे से भी अधिक अत्याचारी और शोषकों का हिमायती है—यह देख-कर असन्तोष की आग भड़कनी आरम्भ हो गई। सामान्य-जन क्षोभ और क्रोध से व्याकुल होने लगा।

साहित्य में इस विषम स्थिति की दो परस्पर-भिन्न प्रतिक्रियाएँ उभरती दिखाई दीं। आजादी के बाद भी अपने भविष्य को अनिश्चित अन्धकारमय-सा देख हमारे नवयुवक निराश हो विद्रोह की भावना से भर उठे। उन्होंने परम्परा और समाज-व्यवस्था के विरुद्ध उच्छृंखल और लक्ष्यहीन विद्रोह करना आरम्भ कर दिया। विद्रोह की इस भावना ने इन नव-युवकों में लक्ष्यहीनता, अनास्था, हीनता, अनैतिकता, अनुशासनहीनता, क्षोभ, वैयक्तिकता आदि पतनकारी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न कर दीं और वे अपनी कविताओं में उन्हीं को अभिव्यक्त करने लगे। यह नवयुवा-विद्रोह का कुण्ठावादी रूप था जिसे प्रयोगवादियों द्वारा और अधिक बढ़ावा मिलता रहा। यह निराश व्यक्तियों का विद्रोह था।

इसके विपरीत नवयुवा-साहित्यकारों का एक दूसरा वर्ग ऐसा सामने आया जो अपनी तथा जन-सामान्य की संगठित शक्ति में अटूट आस्था रखता था। वह जराजीर्ण पुरातन और असमानता के प्रचारक वर्तमान का समूल नाश कर एक ऐसे समाज की स्थापना करने का स्वप्न देखता था जिसमें सभी सुखी और सन्तुष्ट हों। इस वर्ग द्वारा रचे गए साहित्य में नव-निर्माण की अदम्य आस्था से भरे नए ओजस्वी और स्वस्थ स्वर गूंज रहे थे। ये नए स्वर नए जीवन-मूल्यों, व्यावहारिक आदर्शों, नए युग-बोध, नई संस्कृति और शोषणहीन नए समाज

की स्थापना की आशा और उत्साह से भरे हुए थे। यह नया स्वर पुराने प्रगतिवादी स्वर का ही अधिक यथार्थ, अधिक सशक्त और अधिक कलात्मक तथा प्रभावशाली रूप था। यह समाज में एक नई सामूहिक चेतना उत्पन्न कर रहा था। इसने नई चेतना के साथ भाषा, शैली, छन्द आदि के नए-नए स्वस्थ और सुबोध प्रयोग करने आरम्भ कर दिए थे। यह नई कविता का एक नया स्वस्थ पक्ष था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस युग में, कविता के क्षेत्र में प्रगतिवादी और प्रयोगवादी, दोनों धारायें साथ-साथ रही थीं। उधर पुराने छायावादी-कवि भी छायावादी-शैली की कवितायें करने में व्यस्त थे। दूसरी ओर नव-निर्माण के आकांक्षी पुराने परम्परावादी कवि, जो मूलतः आदर्शवादी थे, बड़ी सुन्दर और स्वस्थ काव्य-रचना कर रहे थे। सन् १९६० तक विभिन्न वादों के आधार पर रचनाएँ और उनकी मीठी-कड़वी आलोचनाएँ होती रहीं। फिर इनका यह रूप और जोर कम होता चला गया। अतः कविगण भी मिले-जुले प्रकार की कवितायें लिखते रहे। यही कारण है कि हमें इस युग में रचित सभी प्रकार के स्वस्थ-सशक्त तथा प्रतिक्रियावादी-अस्वस्थ, दोनों ही रूप मिलते हैं। आगे हम विभिन्न काव्यधाराओं के इन्हीं दोनों रूपों का विश्लेषण करने का प्रयत्न करेंगे।

प्रयोगवादी काव्यधारा का स्वस्थ-सशक्त रूप

यह काव्यधारा साहित्य को समाज-निरपेक्ष मानती है तथा व्यक्तिवाद की समर्थक है। इस युग में इसने 'व्यक्ति-स्वातंत्र्य' के साथ ही 'अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य' का नारा लगाना आरम्भ कर दिया था। इन दोनों नारों का दुष्परिणाम परवर्ती 'अकविता', 'क्रुद्ध युवा', 'बीटनीक' आदि काव्य-रूपों के रूप में सामने आया जिसमें स्वतंत्रता के नाम पर उच्छृंखलता का प्रदर्शन ही अधिक दिखाई दिया। यह प्रयोगवादी-कविता का अस्वस्थ पक्ष था। परन्तु अब प्रयोगवादी-काव्य बदलते युग के साथ-साथ, अपनी पुरानी मान्यताओं, सिद्धान्तों में संशोधन कर नई करवट ले रहा था। अब कुछ प्रयोगवादी-कवि अनास्था और निराशा की भावनाओं को त्याग आस्था और समाज-सापेक्षिता के स्वर गुँजाने लगे थे। जैसे—

'पर न हिम्मत हार;
प्रज्ज्वलित है प्राण में अब भी व्यथा का दीप
ढाल उसमें शक्ति अपनी, लौ उठा।' —भारतभूषण अग्रवाल

उसमें मानव-कल्याण-भावना के स्वर भी मुखरित होने लगे थे; जैसे—

जिससे भर जाए दूध-सा पृथ्वी का आँचल;
जिससे हर दिन उसके पुत्रों के लिए हों मंगल।'

—रघुवीर सहाय

अज्ञेय अब आस्था को मानव की सबसे बड़ी शक्ति घोषित करते कह उठे थे—

'आस्था न काँपे
मानव फिर मिट्टी का भी
देवता हो जाता है।'

कुछ कवियों ने प्रेम, सौन्दर्य और प्रणय के बड़े पावन, आकर्षक और मादक चित्र अंकित किए जिनमें अनास्थावादी भोगमूलक वासना के स्थान पर एक पावन शुचिता थी। धर्मवीर भारती ने लिखा था—

'जिस दिन तुमने फूल बिखेरे माथे पर,
अपने तुलसी दल जैसे पावन होठों से,
मैं सहज तुम्हारे गर्म वक्ष में शीश छुपा,
चिड़िया के सहमे बच्चे-सा,
हो गया मूक,
लेकिन उस दिन मेरी अलबेली वाणी में,
थे बोल उठे,
गीता के मंजुल श्लोक, ऋचाएँ वेदों की।'

अनुभूति की गहनता ने उपर्युक्त पंक्तियों में एक मार्मिकता उत्पन्न कर दी है। बनावट और अहंकार सच्चाई के दुश्मन होते हैं। परन्तु गहन अनुभूति के क्षण व्यक्ति के आन्तरिक व्यक्तित्व को, जो उसका असली रूप होता है, सामने ले ही आते हैं। इन कवियों के साथ भी ऐसा ही हुआ है।

प्रयोगवादी कविता का अस्वस्थ पक्ष

परन्तु ये ही प्रयोगवादी कवि अपने अहंकार में डूब जब अपनी वैयक्तिक कुण्ठाओं को व्यक्त करने बैठते थे, तो अपने अस्तित्व को खतरे में समझ, कल्पना-जीवी बन, कल्पना में ही सब-कुछ पाने का प्रयत्न करने लगते थे। परन्तु इन कवियों की सबसे बड़ी बेईमानी यह थी कि इनकी कुण्ठाएँ सच्ची न होकर कल्पित अथवा पाश्चात्य कवियों से उधार ली हुई थीं। इसी कारण

प्रयोगवादियों द्वारा रचित अस्तित्ववादी कविताएँ विदेशी अस्तित्ववादी कवियों की यथार्थ अनुभूति की भौंड़ी नकल-मात्र बनकर रह गई थीं। प्रत्येक प्रयोगवादी कवि स्वयं को अधिक-से-अधिक कुण्ठित और पीड़ित सिद्ध करने का प्रयत्न करता रहता था। धर्मवीर भारती जैसे सुलझे हुए कवियों को भी यह भय सताता रहता था कि—

'कूड़े सा तज कर हमको तट के पास,
मन्थर गति से बढ़ जायेगा इतिहास।'

डा० जगदीश गुप्त को अपना सारा अस्तित्त्व किसी झूठ पर टिका प्रतीत होता था—

'लगता है सारा अस्तित्व किसी झूँठ पर
टिका हुआ जाता है, आप ही आप बिखर।'

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ऐसी ही आशंकाओं से त्रस्त हो अपनी सोचने-समझने की सारी शक्ति खो बैठे हैं। उनकी पराजय-भावना उनके भीतर छिपकली सी रेंगती रहती है—

'इस थके मस्तिष्क में मेरी पराजय
छिपकली सी पग दबाए चल रही है।'

प्रयोगवादियों की जीवन और उसके मूल्यों के प्रति यह अनास्था ही उनके दृष्टिकोण को विगर्हणीय बना देती है। कुँवर नारायण के शब्दों में यह दृष्टिकोण द्रष्टव्य है—

'आमाशय,
यौनाशय,
गर्भाशय
जिन्दगी का सही आशय
यही इतना भोग्य
कितना सुखी है वह
भाग्य उसका ईर्ष्या के योग्य।'

यह प्रयोगवाद का वह घोर कुण्ठाग्रस्त रूप था, जिसने जीवन की उदात्त भावनाओं और उच्चाशयों की उपेक्षा कर अपनी व्यक्तिगत कुण्ठाओं को ही अभिव्यक्ति प्रदान की थी। इस युग का अधिकांश प्रयोगवादी-काव्य इसी प्रकार के संत्रास, वेदना, घुटन, निराशा, मृत्युवादी दर्शन, अनास्था, पलायनशीलता

आदि की पतनकारी प्रवृत्तियों का रूप रहा है, जो जीवन में निराशा और कुण्ठा का ही सृजन करता है, आस्था और संघर्ष का नहीं ।

आस्थावादी प्रखर स्वर

परन्तु उस युग में कुछ नवयुवा कवि व्यक्तिवादी होते हुए भी समाज के नव-सृजन के आकांक्षी थे। ऐसे ही कवि सुयोगी ने उपर्युक्त दृष्टिकोण वाले कवियों को फटकारते हुए कहा था—

'तुम्हारी बौनी कुण्ठित, अनुभूति हीन विकारों के
ये रूपायित शब्द
ठहर सकेंगे क्या
आत्मा की उस ज्वाला में
जिसका तल है प्राणों में
जिजीविषा में ।'

ऐसे कवियों ने एक ओर तो परम्परा के स्वस्थ रूपों को अपनाकर उनका भरपूर उपयोग किया है और दूसरी ओर परम्परा, धर्म, कला आदि के अनुपयोगी जीर्ण-पुरातन रूपों की भर्त्सना करते हुए उन पर गहरे व्यंग्य कसे हैं। आत्मा की अमरता के सिद्धान्त और विश्वास की खिल्ली उड़ाते हुए सिद्धनाथ कुमार लिखते हैं—

'मैं तो यहाँ देखता हूँ
दो बार लम्बी साँस खींचकर
आत्मा प्राण त्याग देती है
लौह अस्त्र-शस्त्रों की बात क्या
चाँदी के ठीकरों की चोट से
आत्मा क्षत-विक्षत हो जाती है ।'

यह आधुनिक नई कविता का स्वस्थ रूप है। व्यक्तिवादी-अनास्थावादी और आस्थावादी कवियों में ये दोनों प्रकार की—स्वस्थ और अस्वस्थ—भावनाएँ मिले-जुले रूप में मिलती हैं। कुछ कवियों ने युग की समस्याओं को झकझोरा है, तो कुछ कवि अपने अहं और व्यक्तित्व की संकुचित परिधि में सिमटे-सिकुड़े बन्द रहे हैं। दुष्यन्तकुमार, रमानाथ अवस्थी, वीरेन्द्र मिश्र, नीरज, परमानन्द श्रीवास्तव, रामावतार त्यागी, भवानीप्रसाद मिश्र, कीर्ति चौधरी आदि इस युग के ऐसे कवियों में उल्लेखनीय माने जा सकते हैं। इन कवियों

और इनकी कविताओं को वर्गों में विभाजित न कर उनका एक साथ अध्ययन करने से ही नई कविता का उज्ज्वल रूप सामने आता है। इन्हें खण्ड-खण्ड कर अध्ययन करना इनके साथ अन्याय करना है।

एक बात इन सभी कवियों में समान मिलती है कि इन्होंने रूढ़िवादी परम्पराओं—सभी प्रकार की रूढ़ और अगतिशील परम्पराओं से मुक्ति पा ली है। इसीलिऐ इनकी कथन-भंगिमा ने 'नई कविता' को एक सर्वथा नया रूप प्रदान करने में सफलता पाई है। कुछ समय पहले जिस प्रकार हिन्दी-कविता विभिन्न वादों के खेमों में विभाजित थी, आज उसकी वे विभाजक रेखाएँ टूट चुकी हैं। कटु-मधुर अनुभवों ने, कवियों को, इन विभाजक रेखाओं की व्यर्थता अनुभव करा दी है। इसी कारण आज की कविता राजनीति के प्रभावों से बहुत-कुछ मुक्त हो, समय की मांग को पहचानती हुई आगे बढ़ रही है। आज उसमें परम्परा, प्रगति और प्रयोग का मिला-जुला स्वस्थ, उपयोगी रूप उभरता चला आ रहा है। अब पुराने स्वयंभू साहित्यिक नेताओं का नेतृत्व समाप्त हो चुका है। यह हिन्दी कविता के भावी उज्ज्वल विकास का शुभ लक्षण है। कवियों को वादों के चक्रव्यूह में फँसाकर कवियों और आलोचकों ने हिन्दी-कविता का कितना अहित किया है, हिन्दी-साहित्य का इतिहास इसका प्रमाण है। इस वर्ग-विभाजन से कुण्ठाओं की सृष्टि ही अधिक होती रही है। अस्तु।

समाजवादी काव्यधारा

हमारे व्यक्तिवादी कवि समाज और उसके सामूहिक दुःख-दर्द को अभिव्यक्ति नहीं प्रदान कर पाए थे। आस्थावादी कवि भी समाज को उचित महत्त्व और स्थान देने में संकोच-सा करते रहे। इसके विपरीत हिन्दी के अनेक नए-पुराने कवि समाज के सुख-दुख के साथ अपना स्वर मिलाते हुए समाज को अभिव्यक्ति प्रदान करते रहे। देश की आजादी ने इनमें एक अभूत-पूर्व उमंग भर दी थी, और दिनकर समाजवादी-व्यवस्था का भावी स्वप्न देखते हुए, देश के नए शासकों को, जो जनता की उमंग पूरी करने में असफल रहे थे, ललकारते हुए कह उठे थे—

'दो राह सभ्यता के रथ का घर्घर नाद सुनो।
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है॥'

देश के विभाजन के उपरान्त राष्ट्रपिता गांधी को गोली मार दी गई। नई सरकार बापू के 'दरिद्रनारायण' अर्थात् समाज के दीन-हीन, शोषित-पीड़ित वर्ग

की दशा सुधारने और उसकी रक्षा करने में असमर्थ रही। उसके परिश्रम पर धनी-वर्ग और अधिक फूलता-फलता चला गया और वह स्वयं मिट्टी का माधो बना टुकुर-टुकुर देखता ही रह गया कि यह कैसी आजादी मिली ? यह देख दिनकर का कवि आक्रोश में भर शोषकों को चेतावनी देता गरज उठा कि—

'अपने को ही नहीं देख, टुक ध्यान इधर भी देना,
भूमिहीन कृषकों की कितनी बड़ी खड़ी है सेना।
बाँध तोड़ जिस रोज फौज खुलकर हल्ला बोलेगी,
तुम दोगे क्या चीज ? वही चाहेगी सो ले लेगी।
कृष्ण दूत बनकर आया है, सन्धि करो सम्राट् !
मच जायेगा प्रलय, कहीं वामन हो पड़ा विराट्॥'

नीरज को अब नए युग का नया इन्सान अपनी काहिल तन्द्रा त्याग, अँगड़ाई लेकर जागता दिखाई दे रहा था। अब उसके सामने धर्म, कला आदि के आडम्बरों की दाल नहीं गल सकेगी। इसीलिए नीरज ताज-तख्त वालों को ललकारते हुए कह उठे थे कि—

'हैं काँप रहीं मन्दिर-मस्जिद की दीवारें
गीता-कुरान के अर्थ बदलते जाते हैं;
ढहते जाते हैं दुर्ग-द्वार, मकबरे-महल
तख्तों पर इस्पाती बादल मँडराते हैं,
अँगड़ाई लेकर जाग रहा इन्सान नया
जिन्दगी कब्र पर बैठी बीन बजाती है।
हो सावधान ! सँभलो ओ ताज तख्त वालो !
भूखी धरती अब भूख मिटाने आती है।'

उस समय कुछ नेताओं ने 'भूदान', 'सर्वोदय' आदि आन्दोलन चलाने आरम्भ कर दिए थे—शोषित-पीड़ित जनता का उद्धार करने के लिए। परन्तु नागार्जुन जैसे जागरूक कवि इन आन्दोलनों के खोखलेपन और निस्सारता को जानते थे। इसलिए उन्होंने इन आन्दोलनों के जन्मदाता सन्त विनोबा भावे को सम्बोधित करते हुए कहा था—

'सर्वोदय' के सन्त, तुम्हारे मीठे-मीठे बोल—
सत्य-अहिंसा जमींदार के दिल में देंगे घोल !
लो, वे कोसी के कछार करते हैं तुमको दान !

यहीं रहो तुम, मिल-जुल हम उपजावैं खेढ़ी-धान ।
कांग्रेसी जब नहीं बुनेंगे बेदखली का जाल,
सबका उदय तभी होगा, तब सब होंगे खुशहाल;
आठों पहर यहाँ बेदखली, कुर्की साँझ-परात !
हम क्या जानैं सन्त, तुम्हारे भूमिदान की बात ।'

(नागार्जुन ने यह कविता जमींदारी-उन्मूलन से पहले लिखी थी, सन् १९५० के आस-पास ।)

द्वितीय विश्व-युद्ध की समाप्ति के बाद विजेता और विजित, दोनों ही अपने युद्ध के घावों को कुछ समय तक चाटते और सहलाते रहे थे । फिर कुछ स्वस्थ होकर पुनः तीसरे भावी विश्वयुद्ध की तैयारी करने में जुट गए थे और आज तक जुटे हुए हैं । इसी स्थिति से त्रस्त हो हमारे कवि यह सोचने लगे कि यदि तीसरा विश्वयुद्ध हुआ, तो इस संसार का क्या होगा ? क्या उसकी सारी प्रगति नष्ट हो जायेगी ? क्या उसकी नई सन्तति अकाल-मृत्यु को प्राप्त होगी ? रामकुमार चतुर्वेदी 'चंचल' ने इसी आशंका से आतंकित हो लिखा था—

'बारूद जिन्दगी की बगिया को घेरे है—
अब अपनी-अपनी ढपली, अपना राग नहीं ।
मालियो ! अगर मुँह एक दूसरे का तका—
तो दो क्षण में ये फूल नहीं, ये बाग नहीं ॥
सबके सपनों के फूल खिलें, इसलिए तुम्हें,
अपने सपनों में आग लगा देनी होगी ।
सबके सपनों के दीप जलें, इसलिए तुम्हें,
अपने जीवन की ज्योति बुझा देनी होगी ॥'

क्योंकि नीरज को यह भय सता रहा है कि—

"मैं सोच रहा हूँ, अगर तीसरा युद्ध छिड़ा
इस नई सुबह की नई फसल का क्या होगा ?'

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान और उसके बाद भी हिन्दी के अनेक कवियों ने साम्यवाद और रूस की प्रशंसा के गीत गाए थे । जब सन् १९४८ में, हमारी आजादी के एक वर्ष बाद, चीन में साम्यवादी-शासन की स्थापना हुई थी, तो हमारे प्रगतिशील कवियों ने मुक्त भाव से उसका स्वागत किया था और भारत में 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' का नारा गूँज उठा था । आगे चलकर चीन ने

भारत के साथ मिलकर 'पंचशील' जैसे महान् अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त को जन्म दिया था। भारत उसे अपना सच्चा मित्र समझ अपनी उत्तरी-सीमा की ओर से निश्चिन्त था। भारत और चीन की यह मित्रता काफी समय तक चलती रही। परन्तु जब सन् १९६२ में, चीन ने हमारे साथ विश्वासघात कर भारत पर आक्रमण कर दिया, तो सारा देश क्रोध में भर उसके विरुद्ध उठ खड़ा हुआ। उस समय हिन्दी के कवियों ने अपनी देशभक्ति का अटूट परिचय देते हुए, सारे देश को इस मित्र-द्रोह और विश्वासघात के विरुद्ध एकजुट हो चीन का सामना करने के लिए ललकारा था। रामकुमार चतुर्वेदी 'चंचल' ने लिखा था—

'खून के धब्बे हिमालय पर लगे हैं,
बर्फ पर भी आग के अंकुर उगे हैं।
नरक से ही इस धरित्री को बचा लो,
स्वर्ग लाने का अभी मौसम नहीं है।'

सन् १९६५ में, जब पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण किया था, उस समय भी हिन्दी का कवि अपनी वाणी की फूत्कार छोड़ता हुआ रणक्षेत्र में उतर आया था। ललित प्रणय के मुग्ध गायक घनश्याम अस्थाना जैसे कोमल प्राण कवियों की वाणी भी आग बरसाने लगी थी। उन्होंने सीमा पर संघर्षरत अपने सैनिक-भाइयों को आश्वासन देते हुए कहा था—

'हे हिमालय सी अजय दुर्धर्ष आस्था की सजग प्रतिमूर्ति,
फूत्कारमय उद्धत जलधि की राशि राशि पुकार,
मेरे देश के चालीस कोटि निवासियों की भावना,
आकांक्षाओं, कामनाओं की सुदृढ़,
संजीवनी भाषा, तुम्हारी वन्दना हो!
हे अनादि अनन्त यौवन, अथक पौरुष की सुलगती
ज्वाला के उद्दाम, पुंजीभूत रूप विराट!
युग इतिहास के पथ पर चरण रख
....कांगो, कश्मीर, गाजा, सिनाई के मरुस्थल में

तुम जहाँ भी
शान्ति-रक्षा-कीर्ति अन्वेशी बने अभियान करते चल रहे हो,
मैं तुम्हारी मचलती रफ्तार का उन्मेष बन कर,
साथ पग से पग मिलाकर चल रहा हूँ।'

इस प्रकार हमने देखा कि हमारे हिन्दी के कवि अपने युग को सशक्त अभिव्यक्ति प्रदान करते हुए युग के साथ-साथ चलते रहे हैं। उन्होंने अपनी व्यक्तिगत आशा-आकांक्षाओं और कुण्ठाओं को भी अभिव्यक्त किया है, साथ ही युग और समाज को भी अपने काव्य का विषय बनाया है। यह वाद-मुक्त हिन्दी-कविता का नया रूप था। इसमें जन-जीवन की सम्पूर्ण समस्याएँ, कामनाएँ और विचार—सब कुछ अपनी अभिव्यक्ति पाते रहे हैं। यह कविता छायावादी कल्पना-लोक से नीचे धरती पर उतर जन-मानस के साथ पूरी तरह से घुल-मिलकर चलती रही है। इस युग में इस कविता के विभिन्न अग समृद्धि पाते रहे हैं। मुक्तक, प्रबन्ध, गीत आदि सभी-कुछ विकास के मार्ग पर आगे बढ़ते रहे हैं। आगे हम संक्षेप में इन सबका विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे।

आधुनिक गीत

गीत को आधुनिक हिन्दी-काव्य का एक विशिष्ट अंग माना जा सकता है। अनेक कवियों ने प्रचुर संख्या में नए-नए गीत रचे हैं। इनमें व्यक्तिपरक और समाजपरक, दोनों ही प्रकार के गीत मिलते हैं। गीत कविता का एक स्वाभाविक और अनिवार्य-सा रूप है। इसलिए आरम्भ से ही, हिन्दी के लगभग सभी कवि सुन्दर-सरस गीतों का सृजन करते चले आ रहे हैं। परन्तु इधर प्रचार के मोह में ग्रस्त हमारे कुछ गीतकारों को भी प्रयोगवादियों और 'नई कहानी' वालों की तरह 'नयेपन' की छूत लग गई है, और उन्होंने 'नवगीत' का नारा उठा दिया है। त्रिलोचन शास्त्री, गिरिजाकुमार माथुर, वीरेन्द्र मिश्र, शम्भुनाथसिंह, रवीन्द्र भ्रमर जैसे हिन्दी के जाने-माने प्रतिष्ठित कवियों ने 'नवगीत' का यह नया नारा उठाया है। ये लोग भी लगभग वही बातें कह रहे हैं, जो प्रयोगवादियों और 'नई कहानी' वालों ने कही थीं। इनका कहना है कि इनके गीत कथ्य, शैली, भाषा, छन्द आदि सभी बातों में हिन्दी के परम्परागत गीतों से भिन्न और नितान्त नवीन हैं। इनका यह भी कहना है कि इन लोगों ने प्रतीक, अप्रस्तुत-विधान, बिम्ब आदि के नए रूपों को अपनाया है। परन्तु ये लोग इस बात को भूल जाते हैं कि इनसे बहुत पहले निराला हिन्दी-गीत में यह क्रान्ति कर चुके थे। इसी तथ्य के प्रति संकेत करते हुए डाक्टर कुन्दनलाल उप्रेती ने लिखा है—

"यदि परम्परागत भाषा, छन्द और भावों के प्रति विद्रोह तथा सहज भाषा में सांकेतिक तथा प्रतीकात्मक पद्धति से सूक्ष्मतम मानवीय अनुभूतियों

की अभिव्यक्ति ही 'नवगीत' है, तो नवगीत का आरम्भ निराला से ही मानना चाहिए। 'गीतिका' के गीत सहज भाषा और संक्षिप्तता की दृष्टि से 'नवगीत' के सुन्दर उदाहरण हैं।"

प्रश्न यह है कि गीत में भाव प्रधान है अथवा शैली? भावात्मकता, अनुभूति की सहजता, लयात्मकता तथा प्रेषणीयता वे गुण माने गए हैं जो किसी कविता को 'गीत' बना देते हैं। हमारे इन तथाकथित नवगीतकारों में ये गुण भरपूर मात्रा में मिलते हैं और इनसे पहले हुए गीतकारों के गीतों में भी पाए जाते हैं। फिर परम्परा का विरोध या उल्लंघन किस रूप में हुआ? इनके गीतों की भाषा में लोकभाषा की सहज भंगिमा और लोकगीतों की लयात्मकता मिलती है। इस प्रकार ये नवगीत भी परम्परा से रचे जाते रहे गीतों का ही आधुनिक विकसित रूप हैं। इनकी एक ही विशिष्टता रही है कि इन्होंने अपने गीतों में, प्रयोगवादियों के समान बौद्धिकता को प्रश्रय न देकर स्वयं को युग की मानसिकता के साथ पूरी तरह सम्पृक्त बनाए रखा है। इसी कारण इनमें भावों की गहराई और हार्दिकता मिलती है। हिन्दी के आधुनिक गीतकारों में अज्ञेय, नरेश मेहता, वीरेन्द्र मिश्र, बालस्वरूप राही, विजय नारायण साही, नीरज, ठाकुरप्रसाद सिंह, जगदीश गुप्त, कैलाश बाजपेयी, मलयज, मुद्राराक्षस, श्रीकान्त वर्मा, घनश्याम अस्थाना, सोम ठाकुर, शिवप्रसाद सिंह भदौरिया, रामावतार त्यागी, रामनाथ अवस्थी, जगतप्रसाद चतुर्वेदी, शलभ, ओम प्रभाकर, राजेन्द्र किशोर, भारत भूषण, सूर्यभान गुप्त, देवेन्द्र कुमार आदि नए-पुराने गीतकार अपने मधुर-ललित गीतों द्वारा जनमानस को शक्ति और आनन्द प्रदान करते रहते हैं।

आधुनिक युगीन प्रबन्धकाव्य

सभी युगों में प्रबन्ध की अपेक्षा मुक्तक ही अधिक मात्रा में लिखे जाते रहे हैं। उसी परम्परानुसार नई कविता के इस युग में भी मुक्तक-काव्य की ही बहुलता रही है, फिर भी अनेक उच्चकोटि के प्रबन्ध-काव्य भी लिखे गए हैं। मैथिलीशरण गुप्त ने अपने 'पृथ्वीपुत्र' और 'विष्णुप्रिया' जैसे सुन्दर खण्ड-काव्य इसी युग में लिखे थे। केदारनाथ मिश्र की 'प्रभात', 'कैकेयी' और 'ऋतम्बरा' इसी काल की रचनाएं हैं। द्वारिकाप्रसाद मिश्र का 'कृष्णायन', सुमित्रानन्दन पन्त का 'लोकायतन' और दिनकर के 'कुरुक्षेत्र' और 'उर्वशी' जैसे सफल-सुन्दर प्रबन्ध-काव्य इसी युग की देन हैं, जिन्हें महाकाव्य-कोटि की

रचनाएँ माना गया है। इनके अतिरिक्त वियोगी का 'आर्यावर्त', गिरीश का 'तारक-वध', रामानन्द शास्त्री का 'पार्वती', रामदयाल पाण्डेय का 'अशोक', रामगोपाल शर्मा 'रुद्र' का 'द्रोण' आदि इस काल में रचे गए ऐसे प्रबन्ध-काव्य हैं जो हिन्दी-साहित्य की निधि बने रहेंगे। आज स्थिति यह है कि हिन्दी में प्रबन्ध-काव्यों की चर्चा कभी भूले-भटके ही होती है। आलोचकों और कवियों का सारा ध्यान मुक्तक काव्य का ही उल्लेख और विवेचन करने में लगा रहता है।

नई कविता का शिल्प : छन्द

युग-परिवर्तन और उसकी गति के साथ साहित्य अपना रूप बदलता चलता है। रूप-परिवर्तन की यह गति कभी तीव्र होती है, कभी मन्द। आधुनिक हिन्दी कविता के शिल्प-विधान में परिवर्तन की यह गति तीव्र रही है। निराला बहुत पहले इसका श्रीगणेश कर चुके थे। प्रयोगवादियों ने निराला की उसी परम्परा को अपनाते, साथ ही निराला की इस देन और उसके महत्व को नकारते हुए, भाषा, छन्द, प्रतीक, बिम्ब आदि के नए-नए प्रयोग करने आरम्भ कर दिए थे। छन्द-विधान में निराला से मुक्त-छन्द को ही विकास मिला। नए कवियों ने मुक्त-छन्द को अपना तो अवश्य लिया, परन्तु अधिकांश कवि यह समझ ही नहीं पाए कि मुक्त-छन्द एक छन्द ही है, गद्य नहीं है। मुक्त-छन्द में लय का निर्वाह होना पहली शर्त है। परन्तु अनेक नए कवि इस रहस्य को न समझ गद्य जैसी कविताएँ लिखते रहे। वे यह समझ ही नहीं पाए कि मुक्त-छन्द में लय ही एक मनोरम झंकार, प्रभविष्णुता और सम्प्रेषण की शक्ति उत्पन्न कर देती है।

हिन्दी के विभिन्न छन्दों के साथ ही कुछ कवियों ने उर्दू के गजल, शेर, रुबाई आदि छन्दों का भी प्रयोग किया है। इन छन्दों के साथ उर्दू के अनेक सुन्दर शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। कुछ कवियों ने लोकगीतों के कई सुमधुर छन्दों में बड़े सरस और सुन्दर गीत लिखे हैं। इसके विपरीत कुछ लोगों ने सभी प्रकार के छन्द-विधान का विरोध करते हुए 'अकविता', 'ठोस कविता' जैसे नए-नए प्रयोग कर गद्यात्मक-पद्य को ही कविता मान लिया था। परन्तु ये सारे नए प्रयोग पानी के बुलबुलों के समान क्षण भर के लिए उभर कर समाप्त हो गए। कुछ कवियों ने संगीत और लय का अपूर्व निर्वाह करते हुए मुक्त-छन्द में कुछ बहुत ही सुन्दर कविताएँ लिखीं।

नया बिम्ब-विधान

इस युग के कवियों ने अपने काव्य-सृजन में बिम्ब-विधान को बहुत महत्त्व दिया है। इसमें उन्होंने अनेक नए उपमानों का प्रयोग कर एक नवीनता उत्पन्न कर दी है। बिम्बों की सहायता से अनुभूतियों और अरूप रागात्मक सम्वेगों को अधिक प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। नई कविता में प्रयुक्त बिम्बों की यह विशेषता रही है कि ये नए बिम्ब सम-सामयिक परिवेश से ही प्रायः ग्रहण किए गए हैं। जैसे—'इंजन की हैट-लाइट सा सूरज' 'बल्ब-से तारे', 'एक रेकार्ड सी बजती हुई जिन्दगी' (नीरस जिन्दगी का बिम्ब), 'साँझ सी वीरान', 'बासी ककड़ी-सी अलसाई' (गत-यौवना नारी का बिम्ब), 'मकई से लाल गेंहुए तलुए', 'सड़ा-नारियल-सा खाली-खाली मस्तक', आदि। ये विभिन्न प्रकार के बिम्ब नए कवि की नई कल्पना को विभिन्न प्रकार की उपमा-उत्प्रेक्षाओं के साथ प्रस्तुत करते हैं। समष्टि रूप से, नई कविता के बिम्ब-विधान को समृद्ध और सशक्त माना जा सकता है।

प्रतीक-योजना

आरम्भ में प्रयोगवादियों ने ऐसे-ऐसे नए और विचित्र प्रतीकों का प्रयोग किया था जो सर्वथा अपरिचित थे, इसलिए सहज सम्वेद्य नहीं बन पाते थे। प्रतीकों की सार्थकता इसी में मानी जाती है कि वे अप्रस्तुत को सर्व-सहज-सम्वेद्य बना देने में सफल हों। नई कविता के कवियों ने प्रतीकों की इस उपयोगिता को महत्त्व देते हुए अटपटे और अपरिचित प्रतीकों का प्रयोग न कर ऐसे प्रतीक अपनाए हैं जो अभीप्सित भाव को पाठक तक प्रेषित करने में समर्थ रहे हैं। कुछ कवियों ने तो अपनी लम्बी कविताएँ तथा खण्डकाव्य पूरे-के-पूरे प्रतीक-रूप में ही लिखे हैं। गिरिजाकुमार माथुर का खण्डकाव्य 'कल्पान्तर' ऐसा ही प्रतीक-प्रधान काव्य है। इसके अतिरिक्त अज्ञेय का 'यह दीप अकेला' तथा धर्मवीर भारती के 'अन्धा युग' और 'कनुप्रिया' भी ऐसे ही प्रतीकात्मक खण्डकाव्य हैं।

नई कविता की भाषा

जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है, नई कविता की भाषा छायावाद और प्रयोगवाद के क्लिष्ट और दुरूह रूप को त्याग जन-भाषा के काफी नजदीक आ गई है; साथ ही बोलचाल की सामान्य भाषा से थोड़ा-सा भिन्न अपना

विशिष्ट रूप भी रखती है। उसमें लोकभाषा की सहज लचक और सम्प्रेषण की अथाह शक्ति भी आ गई है और शिष्ट भाषा की गरिमा भी है। वस्तुतः काव्य की सफलता और श्रेष्ठता भाषा के दो अंगों—वाक् और अर्थ के संयमित-सन्तुलित प्रयोग पर निर्भर करती है। केवल वाक् का प्राधान्य बिहारी के प्रधानतः चमत्कारपूर्ण काव्य का सृजन करता है, और केवल अर्थ का प्राधान्य कबीर-काव्य का। परन्तु सूर और तुलसी जैसे उदात्त, श्रेष्ठ काव्य का सृजन करने के लिए वाक् और अर्थ की सम्पृक्त साधना की जरूरत होती है। हिन्दी की नई कविता में वाक् और अर्थ का यह समन्वय होने में अभी काफी समय लगेगा। अभी तो इसमें बिहारी और कबीर की ही अधिकता मिलती है। कवियों का ध्यान प्रायः इस बात की ओर ही अधिक रहता है कि वे ऐसे शब्दों का प्रयोग करें, जिन्हें पढ़ या सुनकर पाठक या श्रोता फड़क उठें। परन्तु इससे कविता की हानि ही होती है।

भाषा के प्रयोग दो प्रकार के होते हैं—बौद्धिक और भावात्मक। बौद्धिक भाषा के प्रयोग के क्षेत्र विज्ञान, दर्शन, इतिहास आदि हैं और भावात्मक प्रयोग का क्षेत्र काव्य है। कवि भावात्मक रूप में सामान्य बोलचाल या गद्य में प्रयुक्त होने वाले शब्दों का ही प्रयोग करता है, परन्तु यह प्रयोग विशिष्ट और सांकेतिक होता है। अर्थात् काव्य में शब्दों का प्रयोग अभिधेय रूप में न होकर लाक्षणिक रूप में होता है। इस दृष्टि से नई कविता को अभी पूर्ण परिपक्व तो नहीं माना जा सकता, परन्तु उसने इस दिशा में काफी प्रगति की है। नए कवियों ने भाषा और उसके शब्दों का संस्कार कर, उसे नई अनुभूतियों को सफलता पूर्वक व्यक्त करने में समर्थ बनाया है। उसे नए प्रतीक, नए बिम्ब और नया सौन्दर्य-बोध प्रदान किया है, भाषा को अधिक सशक्त, प्रांजल और सरल बनाया है। उसकी इस सरलता में अद्भुत शक्ति झलकती रहती है।

उपसंहार

अन्त में हम नई कविता को इस विकसित स्थिति तक ले आने वाले अपने कवियों से एक बात और कहना चाहते हैं। नई कविता के अधिकांश कवि अपने काव्य-संग्रहों की लम्बी-चौड़ी भूमिकाएँ लिखकर पाठक को यह समझाने का प्रयत्न करते हैं कि उन्होंने अमुक नई बात कही है। इसका अर्थ तो यह हुआ कि उन्हें विश्वास ही नहीं रहता कि पाठक उनकी कविता को अच्छी तरह समझ भी पाएँगे या नहीं। नए कवियों की इसी प्रवृत्ति की भर्त्सना करते हुए नई

कविता के एक प्रमुख कवि गिरिजाकुमार माथुर ने लिखा था कि—"आज इसकी अत्यधिक आवश्यकता है कि नया कवि कुछ ठोस रचना और साहित्यिक निर्माण की ओर ध्यान दे; अपने मत और मान्यताओं का स्पष्टीकरण और पुनः स्पष्टीकरण ज़रा कम करे।" काव्य में भाषा और भाव की समान साधना अपेक्षित है। भाव के अभाव में केवल भाषा का चमत्कार दिखाना वाणी का व्यभिचार है, काव्य-साधना नहीं।

नई कविता का यह संक्षिप्त विश्लेषण उसके स्वरूप की एक सामान्य झलक दिखाने में समर्थ होगा, ऐसा हमारा विश्वास है। आधुनिक प्रसिद्ध कवि त्रिलोचन शास्त्री ने नई कविता की व्याख्या-सी करते हुए लिखा है—

'हिन्दी की कविता उनकी कविता है, जिनकी
साँसों को आराम नहीं था और जिन्होंने
सारा जीवन लगा दिया कल्मष को धोने
में समाज के, नहीं काम करने में घिन की
कभी किसी दिन।'

अब निराशा और पलायन का युग बीत चुका है। हिन्दी की नई पीढ़ी का कवि अपने वर्तमान से संघर्ष करता हुआ भविष्य के प्रति पूर्ण आस्थावान है। इस कवि को अपनी शक्ति और साधना पर पूरा विश्वास है कि वह मार्ग की सारी बाधाओं को एक ओर ठेलता हुआ निरन्तर आगे बढ़ता चला जायेगा। डा० शिवमंगल सिंह 'सुमन' की नीचे उद्धृत पंक्तियों में नए कवि का यही विश्वास ध्वनित हो रहा है—

'पथ की सरलता देख कर
दो-चार डग जब बढ़ गया
मेरी नज़र के सामने
आकर हिमालय अड़ गया
पग के अथक अभ्यास पर
विश्वास बढ़ता ही गया।'

भारत की राष्ट्रभाषा : हिन्दी

प्रश्न १—"भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी ही होनी चाहिए।"—इस सम्बन्ध में सतर्क विवेचन कीजिए।

उत्तर—हिन्दी : भारत को घोषित राष्ट्रभाषा

भारतीय गणराज्य के संविधान में हिन्दी को भारत-राष्ट्र की राष्ट्रभाषा स्वीकार किया गया है। जब भारतीय संविधान बना था, तब यह निर्णय किया गया था कि सन् १९६५ तक अंग्रेजी केन्द्रीय सरकार की राज-काज की भाषा बनी रहेगी, इसके साथ-साथ हिन्दी का सम्वर्द्धन करते हुए धीरे-धीरे उसका सरकारी कार्यों में प्रयोग होता रहेगा; और सन् १९६५ के उपरांत अंग्रेजी को पूरी तरह हटा कर एकमात्र हिन्दी को राष्ट्र की राष्ट्रभाषा मान, केन्द्रीय सरकार का सम्पूर्ण राजकाज हिन्दी के ही माध्यम से होने लगेगा। अर्थात् सन् १९६५ तक भारत की दो राष्ट्रभाषाएँ रहेंगी—अँग्रेजी और हिन्दी। इसके उपरांत केवल एक ही राष्ट्रभाषा रह जायेगी—हिन्दी। संविधान में राष्ट्रभाषा-सम्बन्धी विकास की यही कार्य-पद्धति अपनायी गयी थी।

हिन्दी की उपेक्षा

संविधान में उपर्युक्त प्रावधान कर केन्द्रीय सरकार ने हिन्दी के सम्वर्द्धन और विकास के लिए एक 'हिन्दी निदेशालय' नामक विभाग की स्थापना की। इसकी देखरेख में विभिन्न विषयों से सम्बन्धित अनेक पारिभाषिक शब्द-कोशों का निर्माण किया गया। जनता में इन कोशों का पर्याप्त प्रचार भी किया गया। ऊपर से देखने पर यही प्रतीत होता था कि केन्द्रीय सरकार सच्चे मन से हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का प्रयत्न कर रही है; परन्तु वस्तु-स्थिति इशके नितांत विपरीत थी। केन्द्रीय सरकार का संचालन अंग्रेजी-भक्त नेताओं और पुराने अंग्रेजी-भक्त सरकारी अफसरों द्वारा किया जा रहा था। ये लोग अंग्रेजी को एक सर्वगुण-सम्पन्न अन्तरराष्ट्रीय भाषा मानते थे और हिन्वी को एक अविकसित, शासन और शिक्षा के माध्यम के लिए पूर्णतः अक्षम और असमृद्ध माया मानते थे। इसलिए वे लोग उसकी निरन्तर उपेक्षा करते रहे। और सबसे यजे की बात यह थी कि वे नेतागण और उनके सहकारी सरकारी

उच्च पदस्थ अफसर हिन्दी-भाषा और उसकी अभिव्यक्ति-क्षमता से एकदम अनभिज्ञ थे । क्योंकि वे हिन्दी जानते ही नहीं थे, और यदि जानते भी थे तो मामूली बोलचाल की थोड़ी-सी हिन्दी जानते थे । इसलिए हिन्दी के समृद्ध और व्यापक शब्दकोश तथा उसकी अभिव्यक्ति-क्षमता का उन्हें रंचमात्र भी ज्ञान नहीं था । अतः वे उसकी उपेक्षा करते रहे । उनकी इस उपेक्षा-नीति का परिणाम यह निकला कि आजादी मिलने के उपरान्त इन पिछले ३०-३१ वर्षों में हिन्दी केन्द्रीय सरकार की राज-काज की भाषा न बन सकी और अंग्रेजी का प्रयोग और प्रभुत्व अंग्रेजों के जमाने से भी कई गुना अधिक बढ़ता चला गया । जब हमारे नेताओं और सरकारी अफसरों को यह महसूस हुआ कि सन् १९६५ के बाद तो हिन्दी को एकमात्र राष्ट्रभाषा बनाना ही पड़ेगा, क्योंकि संविधान में ऐसी ही व्यवस्था है, तो उन्होंने संविधान में संशोधन कर, अंग्रेजी और हिन्दी को अनिश्चित काल तक भारत की राष्ट्र-भाषाएँ घोषित कर दिया और आज स्थिति यह है कि केन्द्रीय सरकार का सारा राजकाज अधिकांशतः अंग्रेजी में ही हो रहा है । हिन्दी के विकास और सरकारी राजकाज में हिन्दी के प्रयोग की दिशा कोई भी ठोस प्रयत्न नहीं किया जा रहा है । हिन्दी के समर्थकों द्वारा जब सरकार पर जोर डाला जाता है, तो दिखाने को, सरकार के विभिन्न विभागाध्यक्ष हिन्दी का भी प्रयोग करने के लिए आदेश निकाल देते हैं । परन्तु उन आदेशों पर अमल आज तक कभी भी नहीं हुआ । पुराने सरकारी अफसर घोर 'यथास्थितिवादी' बने हुए हैं । वे अंग्रेजी को सरकारी क्षेत्र से हटाना नहीं चाहते । परन्तु हाल में नई जनता सरकार बनने के बाद केन्द्रीय सरकार के कुछ मंत्रालयों में हिन्दी का अधिक प्रयोग होने लगा था, और हिन्दी-भाषी राज्यों में भी हिन्दी में ही सारा काम-काज करने की प्रवृत्ति बढ़ी है । यह शुभ लक्षण है । परन्तु इसके साथ ही तमिलनाडु, बंगाल जैसे अहिन्दी-भाषी राज्यों ने नए जोश के साथ हिन्दी का विरोध करना आरम्भ कर दिया ।

हिन्दी के विरोध में सरकारी दलीलें

आखिर हमारे शासक हिन्दी को सरकारी राजकाज की भाषा क्यों नहीं बनने दे रहे थे ?—यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है और स्पष्टीकरण चाहता है । हमारे अंग्रेजी-भक्त नेता और सरकारी-अधिकारी हिन्दी को राजकाज की भाषा

बनाने के विरोध में दो दलीलें देते रहे, जिनमें एक पुरानी, अर्थात् अंग्रेज शासकों द्वारा बहु प्रचारित दलील थी; और दूसरी का आविष्कार हमारे नेताओं और सरकारी अफसरों ने किया था। पुरानी दलील यह थी कि हिन्दी अनुन्नत और दरिद्र भाषा है, उसमें वैज्ञानिक शब्दावली का अभाव है, इसलिए उसे सरकारी कामकाज और उच्च शिक्षा का माध्यम नहीं बनाया जा सकता। अंग्रेज भी यही बात कहते थे और उनके उत्तराधिकारी भारतीय शासक भी यही बात कहते रहे, जबकि असलियत यह है कि न तो विदेशी अंग्रेज हिन्दी-भाषा के साहित्य और उसकी अभिव्यंजना-शक्ति से परिचित थे; और न ये देशी शासक और नेतागण ही हिन्दी के सम्बन्ध में कुछ जानते हैं। वेश-भूषा, रहन-सहन और मानसिक रूप से अंग्रेजी के गुलाम हमारे इन अंग्रेजनुमा काले देशी नेताओं और शासकों की नव आविष्कृत दूसरी दलील यह थी कि यदि हिन्दी को देश की राष्ट्रभाषा, अर्थात् सरकारी कामकाज की एकमात्र भाषा बना दिया गया तो हिन्दी भारत की अन्य राज-भाषाओं पर छा जायेगी और उनका विकास रुक जायेगा। परिणाम यह होगा कि सम्पूर्ण 'देश में हिन्दी का साम्राज्य स्थापित हो जायेगा और ऐसा हो जाने पर केन्द्रीय सरकार की सत्ता हिन्दी-भाषियों के हाथों में ही रहेगी और अन्य भाषा-भाषी राज्य तथा उनके निवासी उन्नति न कर सकेंगे।

राजनीतिक दृष्टि से आज भारत की राष्ट्रभाषा की समस्या इसी स्थिति में है। यह समस्या का ऊपरी और आरोपित रूप है, वास्तविक नहीं। परन्तु अब इस स्थिति में थोड़ा-सा परिवर्तन होना आरम्भ हो गया है। अब सरकार की ओर से तो ऐसा दूषित प्रचार नहीं किया जा रहा परन्तु कुछ अहिन्दी-भाषी राज्य इस बात का जोरशोर के साथ प्रचार कर रहे हैं। अस्तु,

समस्या का वास्तविक रूप

हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की समस्या का वास्तविक रूप यह था कि आजादी के बाद स्वार्थी राजनीतिज्ञों, क्षेत्रीय स्वार्थों, भाषा-दम्भ तथा सरकारी पदाधिकारियों द्वारा अपनी और अपने बच्चों की भावी रोजी-रोटी को सुरक्षित रखने के स्वार्थमय प्रयत्नों ने राष्ट्रभाषा की समस्या को उलझा रखा था। राजगोपालाचार्य जैसे पुराने हिन्दी के कट्टर समर्थक, परन्तु बाद में पदच्युत राजनीतिज्ञ होने के कारण मृत्युपर्यन्त मद्रास में हिन्दी का विरोध करते रहे। बँगला-भाषी बंगालियों को अपनी भाषा की श्रेष्ठता का दम्भ है, इसलिए वे

हिन्दी को हीन-भाषा समझ अंग्रेजी को ही गले लगाए रहने में गौरव का अनुभव करते हैं। अंग्रेजी पढ़े-लिखे और अंग्रेजी के माध्यम से उच्च पदों पर पहुँचने वाले हमारे पुराने सरकारी पदाधिकारियों को यह चिन्ता है कि यदि हिन्दी सरकारी राजकाज की भाषा बन गई तो उनकी रोजी-रोटी मारी जायेगी, क्योंकि वे हिन्दी नहीं जानते। उनके बच्चे भी विदेशी या देशी अंग्रेजी स्कूलों में अंग्रेजी के माध्यम से ही शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं और हिन्दी नहीं जानते, इसलिए उनको भी भविष्य में ऊँची सरकारी नौकरियाँ नहीं मिल सकेंगी। यह भय ही इन लोगों को खाए जा रहा है।

रोजी-रोटी की समस्या ही वास्तविक समस्या है

इस प्रकार आज राष्ट्रभाषा की समस्या प्रमुख रूप से रोजी-रोटी की समस्या बन गई है और इसी कारण विभिन्न क्षेत्रों में हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाये जाने का विरोध होता रहा है। आजकल उच्च सरकारी नौकरियाँ अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त लोगों को ही मिलती हैं, इसलिए अंग्रेजी-भक्त लोग अंग्रेजी हटाए जाने का विरोध कर रहे हैं; या हिन्दी के प्रति उपेक्षा नीति से काम ले रहे हैं। अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों को ही ऊँची सरकारी नौकरियाँ क्यों मिलती हैं? इसका कारण यह है कि केन्द्रीय सरकार की नौकरियों के लिए लोगों का चयन करने वाली सरकारी संस्था 'लोक सेवा आयोग' की सम्पूर्ण परीक्षाओं का माध्यम अंग्रेजी ही रही है। अंग्रेजी क्यों माध्यम रही है? इसका कारण यह है कि इसके सम्पूर्ण पदाधिकारी अंग्रेजी के विशेषज्ञ और देशी भाषाओं के मामले में पूर्णतः अनाड़ी होते हैं, क्योंकि उनकी नियुक्ति अंग्रेज-भक्त मन्त्रियों तथा सरकारी पदाधिकारियों द्वारा की जाती है। इसलिए उनके द्वारा अंग्रेजी का समर्थन और हिन्दी आदि भारतीय भाषाओं का विरोध किया जाना नितांत स्वाभाविक है। समष्टि रूप से हमारी, अंग्रेजी रहन-सहन में दीक्षित और केवल अंग्रेजी ही पढ़ी हुई नौकरशाही, अपनी अस्तित्त्व-रक्षा के लिए हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं का विरोध कर रही है। यह न हिन्दी को केन्द्रीय सम्पर्क भाषा बनने देती है और न अन्य राज्य-भाषाओं को अपने-अपने राज्य में शिक्षा और सरकारी कामकाज की ही भाषा बनने देती है। अब केन्द्रीय 'लोक-सेवा-आयोग' की परीक्षाओं में, आंशिक रूप से ही सही, कुछ प्रश्न-पत्रों का उत्तर देने का माध्यम हिन्दी तथा अन्य राज्य-भाषाओं को स्वीकार कर

लिया गया है और अनेक परीक्षार्थी इस सुविधा का भरपूर उपयोग करने लगे हैं। परन्तु यह रियायत दाल में नमक के बराबर भी नहीं है।

स्वार्थ-सिद्धि के लिए षड्यन्त्र

ये अंग्रेजी-भक्त अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए समय-समय पर षड्यन्त्र रचते रहे हैं। कुछ वर्ष पहले इनका एक नया षड्यन्त्र 'कोठारी आयोग' के रूप में सामने आया था। इस शिक्षा आयोग की नियुक्ति इसलिए की गई थी कि यह भारत की शिक्षा-समस्या की जाँच-पड़ताल कर उसके सुधार और उन्नति, परिवर्द्धन के लिए अपने सुझाव दे। इस आयोग के सभी सदस्य अंग्रेजी के अच्छे जानकार थे। इसमें हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के विद्वान या मर्मज्ञों को कोई स्थान नहीं दिया गया था। इसके आधे से अधिक सदस्य विदेशी थे, जिनमें इंगलैंड के लोगों की संख्या सबसे अधिक थी। सदस्यों के इस अनुपात के अनुसार ही इसके सुझाव भी रहे। चूँकि यहाँ हमारी समस्या केवल राष्ट्रभाषा से ही सम्बन्धित है, इसलिए हम इस आयोग के भाषा-सम्बन्धी सुझावों का ही उल्लेख करेंगे। इस आयोग ने सुझाव दिया कि भारतीय उच्च-शिक्षा, शासन-कार्य तथा पारस्परिक-सम्पर्क के लिए भारत में अंग्रेजी का रहना अनिवार्य है, इसलिए भारतीय बच्चों को बचपन से ही अंग्रेजी की अच्छी शिक्षा दी जानी चाहिए। साथ ही इस आयोग ने भारत में अंग्रेजी के निरन्तर गिरते हुए स्तर के प्रति अपनी चिन्ता प्रकट करते हुए अंग्रेजी के सम्वर्द्धन और स्तर को ऊँचा उठाने के लिए अनेक सुझाव दिए तथा अन्य भारतीय भाषाओं के सम्बन्ध में यह आयोग पूरा मौन साधे रहा। इसका सबसे महत्त्वपूर्ण सुझाव यह था कि केन्द्रीय लोक-सेवा-आयोग की परीक्षाओं का माध्यम केवल अंग्रेजी ही रहे और साथ ही विश्वविद्यालयीय शिक्षा का माध्यम भी अंग्रेजी को ही बनाया जाय, न कि भारतीय भाषाओं को।

इस षड्यन्त्र के सम्भावित दूरगामी परिणाम

कोठारी आयोग के उपर्युक्त सुझावों को यथावत् स्वीकार कर लेने का परिणाम यह होगा कि भारतीय विद्यार्थियों में हिन्दी अथवा अपनी मातृभाषाओं के प्रति कोई आकर्षण नहीं उत्पन्न हो सकेगा। चूँकि आधुनिक शिक्षा का एकमात्र उपयोग और उपादेयता उच्च-शिक्षा प्राप्त कर सरकारी नौकरियाँ प्राप्त करना है; और यह नौकरी केवल अंग्रेजी के माध्यम से ही प्राप्त हो सकेगी, इसलिए सभी विद्यार्थी केवल अंग्रेजी पढ़ना ही पसन्द करेंगे

और उसे ही अपने लिए लाभप्रद समझेंगे। ऐसी दशा में सारे देश में अंग्रेजी का ही साम्राज्य छाया रहेगा और भारतीय भाषाएँ अपना उचित स्थान प्राप्त करने में असमर्थ रहेंगी। और अंग्रेजी का साम्राज्य दृढ़ रहने से हमारे पुराने अनुभवी सरकारी पदाधिकारियों और उनके अंग्रेजी पढ़ने वाले बच्चों की रोजी-रोटी और भविष्य सुरक्षित बना रहेगा। शेष जनता भले ही जहन्नुम में जाय, इसकी उन्हें कोई चिन्ता नहीं। शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी रहने से ही हमारी शिक्षा-व्यवस्था का एकमात्र लक्ष्य नौकरी जुटाना और पाना रहा है। ज्ञान-सम्वर्द्धन उसका लक्ष्य नहीं है। ज्ञान अपनी भाषा द्वारा ही मिलता है। और उससे व्यक्तित्व का निर्माण और विकास होता है। यह अंग्रेजी द्वारा सम्भव नहीं। यदि सामान्य-जन का विकास हो गया तो स्वयं को सामान्य से भिन्न और विशिष्ट समझने वाले हमारे नौकरशाहों का महत्त्व समाप्त हो जायेगा। और यही वे चाहते नहीं। इसलिए अंग्रेजी से चिपके हुए हैं।

आज देश के एक प्रतिशत से भी कम अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों ने अपने स्वार्थ के लिए देश के निन्यानवे प्रतिशत लोगों की सुख-सुविधा की उपेक्षा करते हुए अंग्रेजी को भारतीय जनता पर थोप रखा है। प्रजातन्त्र का इससे बड़ा मजाक और क्या हो सकता है! भारतीय प्रजातंत्र में प्रचण्ड बहुमत उपेक्षित है और नगण्य अल्पमत शासन की बागडोर थामे मनमानी कर रहा है।

यह बात हमें इसलिए कहनी पड़ी है कि भारत में अंग्रेजी जानने वालों की संख्या मुश्किल से एक प्रतिशत के लगभग है; अर्थात् सौ में एक आदमी भी मुश्किल से अंग्रेजी जानता है। अंग्रेजी माध्यम के रहने से इस एक आदमी को तो नौकरी मिल जायेगी; परन्तु शेष निन्यानवे लोगों का क्या होगा? वे बचे हुए शेष निन्यानवे लोग अपना काम अपनी मातृ-भाषाओं द्वारा ही चलाते हैं। यहाँ यह तथ्य दृष्टव्य है कि अंग्रेजी का उपयोग केवल नौकरी प्राप्त करने तक ही सीमित है। जीवन के अन्य क्षेत्रों में या तो हिन्दी से काम चलाया जाता है या अपनी-अपनी मातृभाषाओं द्वारा। इसलिए इस बात को घोर अन्याय और अविवेकपूर्ण माना जायेगा कि केवल एक व्यक्ति के लाभ के लिए निन्यानवे व्यक्तियों की उपेक्षा की जाय। मगर हमारी सरकार आज ऐसा ही अविवेकपूर्ण अन्यायी कार्य कर रही है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्रचण्ड

बहुमत की उपेक्षा करने वाली सरकार अधिक समय तक टिकी नहीं रह सकती। हमारे कर्णधारों को यह सत्य नहीं भुला देना चाहिए।

अंग्रेजी के महत्त्व को दूर करने का एक उपाय

एक स्वाधीन राष्ट्र में छह हजार मील दूर की एक ऐसी भाषा राज्य करे जिसका उस देश की संस्कृति, जन-जीवन, इतिहास, परम्परा तथा बोलचाल से कोई सम्बन्ध न हो, यह स्थिति उस राष्ट्र के आत्म-सम्मान और उसके अन्तर-राष्ट्रीय महत्त्व के लिए नितांत अशोभनीय और लज्जास्पद है। यही कारण है कि लगभग ३५ करोड़ की जनसंख्या वाली भाषा हिन्दी राष्ट्रसंघ की एक स्वीकृत भाषा नहीं बन सकी है, जबकि दस-दस करोड़ की जनसंख्याओं वाली भाषाएँ राष्ट्रसंघ की भाषा बन गई हैं। चूँकि आज भारतीय शिक्षा-पद्धति की एकमात्र उपयोगिता इस में है कि हम पढ़-लिख कर नौकरी कर अथवा अर्थोपार्जन के अन्य साधनों का ज्ञान प्राप्त कर अपनी जीविका-उपार्जन कर सकें, इसलिए हमें, विदेशी भाषा (अंग्रेजी) को हटाकर हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं को अपनी शिक्षा का माध्यम बनाना पड़ेगा। यदि लोक-सेवा-आयोग की परीक्षा और उसके अध्ययन का माध्यम पूरी तरह से भारतीय भाषाओं को बना दिया जाय तो अंग्रेजी का महत्त्व अपने आप समाप्त हो जायेगा और ऐसा हो जाने पर भारत की विभिन्न समृद्ध भाषाएँ और भी अधिक उन्नति कर सकेंगी। यह कहना अपनी अनभिज्ञता और विदेशी विचारधारा की गुलामी का प्रतीक है कि भारतीय भाषाएँ इतनी समृद्ध नहीं हैं कि उन्हें उच्च शिक्षा और सरकारी काम-काज की भाषा बनाया जा सके। अनेक भारतीय भाषाएँ इतनी सक्षम और समृद्ध हैं कि संसार की अनेक समृद्ध भाषाओं के साथ गर्व से मस्तक ऊँचा कर खड़ी हो सकती हैं।

राष्ट्रभाषा की समस्या क्यों है ?

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि समृद्ध भारतीय भाषाएँ अपने-अपने क्षेत्र में शिक्षा और शासन का माध्यम बन जायेंगी तो फिर एक राष्ट्र-भाषा, अर्थात् सम्पर्क-भाषा चुनने की आवश्यकता ही क्या रह जाती है ? यह प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और भारत की राष्ट्रीय एकता से सम्बन्धित है। इसलिए तर्कपूर्ण संगत उत्तर चाहता है। भारत एक गणतंत्र राज्य है। यह छोटे-बड़े अनेक राज्यों में विभाजित है। प्रत्येक राज्य की अपनी-अपनी भाषा और विधान-सभा है, जो उस राज्य का शासन चलाती है और इन सम्पूर्ण राज्यों

को राष्ट्र की लोक-सभा-परम्परा एक सूत्र में बाँधे रहती है। राज्यों की विधान-सभाएँ अपने आंतरिक शासन में स्वतन्त्र हैं; परन्तु विदेश-नीति, सेना अर्थात् रक्षा-व्यवस्था; संचार अर्थात् डाक, तार, रेल, जहाजरानी तथा मुद्रा आदि सब देश की लोक-सभा; अर्थात् केन्द्र सरकार द्वारा संचालित होते हैं। राष्ट्र की सर्वोच्च सत्ता राष्ट्रपति ओर लोकसभा में निहित है। इसलिए देश के प्रत्येक राज्य को केन्द्र से सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न राज्य परस्पर एक दूसरे से सम्पर्क स्थापित करते रहते हैं। ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण देश में एक ऐसे माध्यम की अर्थात् भाषा की आवश्यकता है, जिसके द्वारा विभिन्न राज्य अन्य राज्यों से तथा केन्द्र से सम्पर्क और सम्वाद स्थापित कर सकें। अभी तक संविधान के अनुसार यह सम्पर्क अंग्रेजी और हिन्दी—दो राष्ट्र-भाषाओं और सम्पर्क-भाषाओं द्वारा स्थापित करने की व्यवस्था है। परन्तु व्यावहारिक रूप में यह सम्पर्क केवल अंग्रेजी के माध्यम से ही चलाया जा रहा है और हिन्दी की उपेक्षा की जा रही है। इधर हिन्दी-भाषी राज्यों ने परस्पर हिन्दी के माध्यम से ही सम्पर्क स्थापित करने की नीति की घोषणा की है और उस पर अमल करना भी आरम्भ कर दिया है। कहने को तो केन्द्र के साथ भी यही नीति अपनाने की बात कही जा रही है। परन्तु अभी व्यवहार में नहीं आ पाई है। हिन्दी-भाषी राज्यों में भी अभी तक काफी काम अंग्रेजी के माध्यम से ही हो रहा है। यह हमारे लिए, हिन्दी-भाषियों के लिए लज्जा की बात है। अस्तु,

राष्ट्रभाषा और राज्यभाषा

राष्ट्रभाषा उसे कहते हैं जो सम्पूर्ण देश में सम्पर्क-भाषा के रूप में व्यवहृत होती है; और राज्यभाषा उसे कहते हैं जो किसी एक राज्य की सर्वाधिक प्रचलित और सम्पन्न भाषा होती है और संविधान के अनुसार उसी भाषा में उस राज्य के शासन, पत्र-व्यवहार तथा शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। अर्थात् प्रत्येक राज्य में वहाँ की प्रमुख भाषा, जिसे राज्य-भाषा स्वीकार कर लिया गया हो, सम्पूर्ण कार्यों का माध्यम बने और राज्य अन्य राज्यों तथा केन्द्र के साथ राष्ट्रभाषा द्वारा सम्पर्क स्थापित करें। परन्तु आज स्थिति यह है कि प्रत्येक राज्य तथा केन्द्र में—सर्वत्र अंग्रेजी का साम्राज्य छाया हुआ है और सारा काम-काज, शिक्षा आदि का माध्यम अंग्रेजी ही बनी हुई है। इसलिए न

तो राज्य-भाषाओं का विकास हो पा रहा है और न संविधान द्वारा घोषित देश की राष्ट्रभाषा 'हिन्दी' का ही।

राष्ट्रभाषा और सम्पर्क-भाषा

यहाँ हमें राष्ट्रभाषा और सम्पर्क-भाषा का अन्तर समझ लेना चाहिए। वस्तुतः राष्ट्रभाषा वह कहलाती है जो सम्पूर्ण देश में भावात्मक और सांस्कृतिक एकता स्थापित करने का प्रधान साधन होती है। जैसे कि प्राचीन काल में संस्कृत ने सम्पूर्ण भारत में यह स्थान प्राप्त किया था। केन्द्रीय सरकार की राजभाषा चाहे कोई भी भाषा क्यों न हो; परन्तु सम्पूर्ण राष्ट्र में सांस्कृतिक आन्दोलन और उसके प्रसार की जो भाषा माध्यम होती है, वही सच्चे अर्थों में उस राष्ट्र की राष्ट्रभाषा कहलाती है। प्राचीन युग में 'संस्कृत' भारत की राष्ट्रभाषा थी। हिमालय से लेकर कन्याकुमारी और असम से लेकर सौराष्ट्र तक सम्पूर्ण सांस्कृतिक और धार्मिक विचार-विमर्श संस्कृत द्वारा ही होता था। व्यापारिक विनिमय का भी प्रधान साधन संस्कृत ही थी। सुदूर केरल के निवासी आद्य जगदगुरु शंकराचार्य ने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन इसी भाषा के माध्यम से किया था। देश के विभिन्न प्रान्त या राज्य उसी के माध्यम से पारस्परिक-सम्पर्क स्थापित करते थे। मुसलमानी युग में संस्कृत का महत्त्व क्षीण हुआ और मुसलमान शासकों, फौजों, दरवेशों, व्यापारियों तथा धर्म-प्रचारकों की भाषा हिन्दी बनी। समस्त उत्तर भारत में उस समय हिन्दी ही बोलचाल की प्रधान भाषा थी। इसलिए हिन्दी ही उस युग में सच्चे अर्थों में उत्तर भारत की ही नहीं, अपितु सुदूर दक्षिण स्थित मुस्लिम राज्यों की भी प्रधान भाषा थी। इसलिए उस युग की राष्ट्रभाषा हिन्दी को ही माना जा सकता है। मुस्लिम शासनकाल में सरकारी भाषा फारसी और सामान्य जन-सम्पर्क की भाषा हिन्दी थी।

सम्पर्क-भाषा उस भाषा को कहते हैं, जिसके द्वारा किसी राष्ट्र के विभिन्न भाषा-भाषी राज्य परस्पर सम्पर्क स्थापित करते हैं। यह स्थान उस भाषा को प्राप्त होता है, जो राष्ट्र के सबसे अधिक भागों में तथा सबसे अधिक लोगों द्वारा बोली और समझी जाती है। इसके दो उदाहरण दृष्टव्य हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में ४९ राज्य हैं। वहाँ सम्पूर्ण राज्यों की बोलचाल की भाषा अंग्रेजी है। इसलिए वहाँ सारा काम अंग्रेजी में ही होता है। इसके विपरीत, सोवियत गणतन्त्र (रूस) में अनेक विभिन्न भाषा-भाषी राज्य हैं; परन्तु सोवियत गणतन्त्र

की सम्पूर्ण जनसंख्या में से आधे लोगों की मातृभाषा रूसी है। इसलिए वहाँ रूसी भाषा को सम्पर्क-भाषा का पद प्रदान किया गया है। रूसी-गणतन्त्र के विभिन्न राज्य केन्द्र तथा अन्य राज्यों से रूसी-भाषा द्वारा ही सम्पर्क स्थापित करते हैं। भिन्न-भिन्न राज्यों में वहाँ का सारा कार्य, शिक्षा आदि राज्यों की प्रमुख भाषाओं द्वारा ही सम्पन्न किया जाता है। वहाँ प्रत्येक राज्य में मातृ-भाषा के साथ ही रूसी का अध्ययन करना अनिवार्य है। अतः रूसी, सोवियत गणतन्त्र की सम्पर्क भाषा है।

हिन्दी ही क्यों राष्ट्रभाषा बने ?

भारत में विभिन्न भाषा-भाषी अनेक राज्य हैं। भारत में अब भाषावार-राज्यों का पुनर्गठन पूरा हो चुका है। आरम्भ में भारतीय सविधान में भारत के प्रमुख राज्यों की भाषा के आधार पर चौदह राज्य-भाषाएँ स्वीकार की गई थीं। इन चौदह राज्य-भाषाओं में से अनेक भाषाएँ साहित्यिक समृद्धि की दृष्टि से काफी उन्नत और समृद्ध हैं। हिन्दी भी उनमें से एक है। फिर हिन्दी को ही भारत-राष्ट्र की सम्पर्क-भाषा (जिसे जन-साधारण राष्ट्रभाषा कहते हैं) क्यों स्वीकार किया गया ? यह प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हम पीछे कह आए हैं कि किसी राष्ट्र की सम्पर्क-भाषा उसी भाषा को बनाया जाता है जिसे बोलने और समझने वालों की संख्या सबसे अधिक होती है और जो राष्ट्र के विभिन्न भागों में थोड़ी-बहुत बोली और समझी जाती है। हिन्दी आज भारत के छह राज्यों की राज्य-भाषा है—उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान, हरियाणा और हिमाचल राज्य। आज विशुद्ध रूप से हिन्दी बोलने तथा उसे अपने सम्पूर्ण कार्यों में व्यवहृत करने वालों की संख्या लगभग ३० करोड़ है। इसके अतिरिक्त देश के बड़े-बड़े शहरों—कलकत्ता, बम्बई आदि में हिन्दी बोलने वाले लाखों की तादाद में रहते हैं। साथ ही, विभिन्न अहिन्दी-भाषी राज्यों के लाखों विद्यार्थी प्रतिवर्ष हिन्दी पढ़ते और उसकी परीक्षाएँ देते हैं और यह क्रम विगत ४० वर्ष से निरन्तर चला आ रहा है। यदि इन सब को मिला दिया जाय तो भारत में हिन्दी बोलने, समझने और लिखने-पढ़ने वालों की संख्या लगभग ३५ करोड़ बैठती है, अर्थात् ६८ करोड़ की जनसंख्या वाले भारत में आधे से अधिक लोग हिन्दी जानते और समझते हैं और किसी भी राष्ट्र की सम्पर्क-भाषा उसी भाषा को बनाया जाता है, जिसके बोलने और समझने वालों की संख्या उस राष्ट्र में सबसे अधिक होती है। इसी सिद्धान्त

के अनुसार हिन्दी को भारत की सम्पर्क-भाषा बनाया गया है। भारत की अन्य भाषाओं में से कोई भी अन्य भाषा ऐसी नहीं है, जिसके बोलने और समझने वालों की संख्या पाँच-छह करोड़ से अधिक हो। भारत में अंग्रेजी बोलने, समझने और लिखने-पढ़ने वालों की संख्या कुल मिलाकर मुश्किल से एक करोड़ के लगभग भी नहीं होगी। इसलिए अंग्रेजी को तो किसी भी दशा में भारत की सम्पर्क-भाषा बनाया ही नहीं जाना चाहिए।

सम्पर्क-भाषा का कार्य-क्षेत्र

सम्पर्क-भाषा का कार्य-क्षेत्र केवल इतना ही है कि उनके द्वारा केन्द्रीय सरकार का सम्पूर्ण राज-काज चलाया जाय। केन्द्र इसी भाषा के माध्यम से अपने विभिन्न राज्यों से पत्र-व्यवहार करे तथा विभिन्न भाषा-भाषी राज्य परस्पर और केन्द्र से इसी माध्यम से पत्र-व्यवहार करें। इसी कारण यह आवश्यक हो जाता है कि सम्पूर्ण राष्ट्र में सम्पर्क-भाषा की पढ़ाई अनिवार्य रूप से हो। अब प्रश्न यह उठता है कि इस पढ़ाई का रूप कैसा रहे? हम अपने दैनिक व्यवहार में यह देखते हैं कि लोग हाईस्कूल (मैट्रिक) या इण्टरमीडिएट तक अंग्रेजी को एक विषय के रूप में पढ़कर सरकारी नौकरियाँ पा जाते हैं और फिर धड़ल्ले के साथ अंग्रेजी भाषा के माध्यम से दफ्तर का सारा काम-काज चलाते हैं। उनका अंग्रेजी भाषा का ज्ञान कितना सीमित होता है, इसे सब लोग भली-भाँति जानते हैं। इन लोगों को अंग्रेजी भाषा का मर्मज्ञ नहीं माना जा सकता है। अतः इससे यह निष्कर्ष निकला कि राज-काज चलाने के लिए सम्पर्क-भाषा या राज-काज की भाषा का सामान्य ज्ञान यथेष्ट होता है। हिन्दी भारत की सम्पर्क-भाषा मानी गई है, इसलिए अहिन्दी-भाषियों के लिए हिन्दी का सामान्य ज्ञान ही अपेक्षित है। यह जरूरी नहीं कि वे हिन्दी-भाषा और साहित्य के विद्वान बन जायँ। बस, सम्पर्क-भाषा की सीमाएँ यहीं तक सीमित रहनी चाहिए, इससे आगे नहीं। राज्य-सरकारों की नौकरियाँ वहीं की भाषा के माध्यम से मिलनी चाहिए, न कि सम्पर्क-भाषा द्वारा। यदि इस बात को स्पष्ट कर जनता को समझा दिया जाय तो भारत के कुछ राज्यों में होने वाला हिन्दी-विरोध तुरन्त शान्त हो जायेगा। परन्तु हमारे स्वार्थी अंग्रेजी-भक्त अधिकारी और नेता जनता को यह बात समझाकर अपने पैरों में कुल्हाड़ी मारना नहीं चाहते; क्योंकि ऐसा हो जाने पर उनका और उनके बच्चों का

महत्त्व और विशेषाधिकार समाप्त हो जायगा। यह विशेष सुविधा-भोगी वर्ग भारत, भारतीय जनता और भारतीय भाषाओं का सबसे बड़ा दुश्मन है।

हिन्दी साम्राज्यवाद का भय निराधार है

अंग्रेजी-भक्तों ने अहिन्दी-भाषियों में हिन्दी साम्राज्यवाद का जो भय फैला रखा है, वह पूर्णतः निराधार है और उनकी कलुषित स्वार्थी नीच वृत्ति का परिचायक है। अभी केन्द्रीय सरकार के शिक्षा-मंत्रालय के राज्यमंत्री डॉ॰ सैयद महमूद ने अपने भाषण में हिन्दी-साम्राज्यवाद के बहु-प्रचारित आतंक का विरोध करते हुए इस प्रचार का खोखलापन स्पष्ट कर दिया था। हमारा यह मत है कि प्रत्येक राज्य का सारा राज-काज, शिक्षा-प्रसार आदि का कार्य उस राज्य की भाषा में ही होना चाहिए। हिन्दी का केवल कामचलाऊ ज्ञान ही अपेक्षित है। सरकारी भाषा क्षेत्रीय या प्रान्तीय भाषाओं को दबाने में सदैव असमर्थ रही है, इतिहास इसका साक्षी है। मुस्लिम युग में शासन की भाषा फारसी रही थी, फिर भी हिन्दी आदि भारतीय भाषाओं की प्रगति में कोई अन्तर नहीं पड़ा। अंग्रेजों के शासन-काल में शासन की और उच्च शिक्षा की भाषा अंग्रेजी रही, मगर फिर भी खड़ी बोली हिन्दी का तथा अन्य भारतीय भाषाओं का वास्तविक विकास इसी काल में हुआ था। अन्य भारतीय भाषाएँ इसी युग में प्रगति के पथ पर आगे बढ़ीं, उनका बहुमुखी विकास हुआ। इसका कारण यह था कि फारसी और अंग्रेजी यहाँ की जनता की भाषाएँ न होकर, विदेशी और जनता पर बलात् लादी हुई भाषाएँ थीं। इसलिए सरकारी नौकरी और सम्मान के लालची वर्ग के अतिरिक्त इन विदेशी भाषाओं को साधारण जनता ने नहीं अपनाया। साधारण जन अपनी मातृभाषाओं में ही अपना काम करते रहे। यही कारण है कि भारत में इन विदेशी भाषाओं को जानने वाले संख्या में बहुत कम हैं। मुस्लिम युग में राजा टोडरमल ने हिन्दुओं को सलाह दी थी कि वे सरकारी नौकरियाँ प्राप्त करने के लिए फारसी पढ़ें और आज अंग्रेजी के मानस-पुत्र, हमारे वर्तमान नौकरशाह, सरकारी नौकरियाँ प्राप्त करने के लिए अंग्रेजी के ज्ञान को अनिवार्य घोषित कर रहे हैं। इतिहास का यह सत्य हमारे सामने इस बात को स्पष्ट कर देता है कि सरकारी भाषा कभी भी अन्य भाषाओं को पद-दलित नहीं कर सकती। किसी भी भाषा की शक्ति और समृद्धि का मूल्यांकन उसके साहित्य द्वारा किया जाता है और अधिकांश सरकारी नौकर साहित्यकार नहीं होते। साहित्य का सृजन जनता

के मर्म को, उसकी पीड़ा, उल्लास और समस्याओं को भली-भाँति समझने और अनुभव करने वाले उदारचेता प्रबुद्ध मनीषी करते हैं। इसीलिए किसी भी देशी-भाषा के राजभाषा बन जाने से अन्य भाषाओं का अहित होना असम्भव है। अतः अहिन्दी-भाषियों का यह भय निराधार है कि हिन्दी के राजभाषा बन जाने से अन्य भारतीय भाषाओं का विकास रुक जायेगा। हिन्दी केवल सरकारी काम-काज की दफ्तरी भाषा बनेगी, न कि सम्पूर्ण भारत के साहित्य-सृजन और अभिव्यक्ति की भाषा।

हिन्दी की व्यापकता और अखिल भारतीय महत्त्व

यहाँ हमें एक बात जान लेनी चाहिए कि हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा बनाने की माँग न तो देश की स्वतन्त्रता के बाद उठी है और न हिन्दी-भाषियों द्वारा उठाई गई है। हिन्दी को देश की राष्ट्रभाषा बनाने की माँग अहिन्दी-भाषी नेताओं द्वारा पिछले लगभग ८०-९० वर्षों से उठाई जाती रही है। सबसे पहले यह माँग बंगाल के नेताओं द्वारा उठाई गई थी। उसके बाद गुजरात और महाराष्ट्र के नेताओं द्वारा उठाई गई। आज से लगभग एक शताब्दी पूर्व बंगाल के केशवचन्द्र सेन ने गुजरात के स्वामी दयानन्द सरस्वती को यह सलाह दी थी कि यदि वह सम्पूर्ण देश में अपने मत का प्रचार करना चाहते हैं तो अपनी बात हिन्दी द्वारा कहें और लिखें। फलस्वरूप उनका 'सत्यार्थप्रकाश' हिन्दी में ही लिखा गया और प्रकाशित हुआ। आगे चलकर गुजराती-भाषी महात्मा गाँधी ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की आवाज उठाई और इसके लिए उन्होंने देश के अहिन्दी-भाषी प्रान्तों में राष्ट्र-भाषा-प्रचार-समितियों का जाल बिछा दिया। मराठी-भाषी बिनोवा भावे और काका कालेलकर जैसे युग द्रष्टाओं ने हिन्दी के समर्थन में अपना स्वर बुलन्द किया। यहाँ यह जिज्ञासा उठती है कि आखिर इन अहिन्दी-भाषी जन-नेताओं ने भारत की अन्य समृद्ध भाषाओं की अपेक्षा हिन्दी को ही क्यों राष्ट्रभाषा बनाने का आग्रह किया?

इस सम्बन्ध में हमें इस बात को जान लेना चाहिए कि इन अहिन्दी-भाषी जन-नेताओं ने हिन्दी-साहित्य की समृद्धि और विस्तार से प्रभावित होकर हिन्दी को देश की राष्ट्रभाषा बनाने का आग्रह नहीं किया था ये लोग हिन्दी साहित्य से अनभिज्ञ थे। इन्हें अपने राजनीतिक प्रचार के लिए सम्पूर्ण देश में घूमना पड़ता था और देशव्यापी इन्हीं दौरों ने उन्हें यह अनुभव करा दिया

था कि सम्पूर्ण देश में हिन्दी ही एकमात्र ऐसी भाषा है, जो अपने विशाल हिन्दी-क्षेत्र के बाहर भी पर्याप्त मात्रा में बोली और समझी जाती है। ये सभी जन-नेता अँग्रेजी जानते थे; परन्तु उन्होंने यह अनुभव किया कि अँग्रेजी के माध्यम से ये सच्चे अर्थों में जन सम्पर्क नहीं स्थापित कर पाते; क्योंकि इन्हें अपनी बात जनता के उस वर्ग को भी समझानी थी जो अँग्रेजी नहीं जानता था और यह वर्ग—देश का सबसे बड़ा और विशाल वर्ग था। देश की भावी स्वतन्त्रता इसी विशाल वर्ग के सहयोग पर निर्भर थी। इसलिए इन लोगों को एक ऐसी भाषा की तलाश थी, जिसके माध्यम से ये जनता के इस विशाल वर्ग को अपनी बात समझा सकें और इसके लिए हिन्दी ही उन्हें एकमात्र ऐसी भाषा प्रतीत हुई थी। इसी कारण इन लोगों द्वारा हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा या सम्पर्क-भाषा बनाने का मूल कारण राजनीतिक था, न कि साहित्यिक। इसलिए हमें राष्ट्रभाषा या सम्पर्क भाषा पर विचार करते समय इतिहास के इस सत्य को नहीं भुला देना चाहिए—आज भी हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनाने का प्रश्न राजनीतिक ही है, साहित्यिक नहीं।

हिन्दी के समर्थकों की कतिपय भ्रान्तियाँ

हिन्दी के कुछ कट्टर समर्थक अपने उत्साह से आक्रान्त कुछ ऐसी गलतियाँ करते रहे हैं जिनके कारण अहिन्दी-भाषी राज्यों में हिन्दी का विरोध होने लगा है। इन लोगों की माँग यह है कि अँग्रेजी को अपदस्थ कर हिन्दी को उसके स्थान पर स्थापित कर दिया जाय। अर्थात् हिन्दी सम्पूर्ण भारत में उसी प्रकार शासन और उच्च शिक्षा का माध्यम बना दी जाय, जिस प्रकार कि आजकल अँग्रेजी है। इन दिग्भ्रान्त हिन्दी-समर्थकों की यह माँग असंगत तौर दिग्भ्रमित मस्तिष्क का प्रलाप मात्र है। भारत के सम्पूर्ण राज्यों में हिन्दी का केवल सामान्य ज्ञान ही अपेक्षित है। प्रशासनिक पत्र-व्यवहार का सारा कार्य इसी सामान्य ज्ञान द्वारा सम्पन्न हो जायेगा, जैसे कि आजकल अँग्रेजी के सामान्य ज्ञान द्वारा हो रहा है। अतः हिन्दी को अहिन्दी-भाषी राज्यों में सरकारी काम-काज और विश्वविद्यालयी-शिक्षा का माध्यम नहीं बनाना चाहिये; क्योंकि यदि हिन्दी को उच्च शिक्षा का माध्यम बना दिया गया तो अन्य राजभाषाएँ अपना अपेक्षित विकास नहीं कर सकेंगी और तब देश में हिन्दी का साम्राज्य छा जायेगा। देश की भावात्मक एकता की दृष्टि से यह स्थिति देश के लिए घातक

हो उठेगी। अतः होना यह चाहिए कि सम्पूर्ण राज्य-सभाएँ अपने अपने राज्यों में शासन और उच्च शिक्षा का माध्यम बनें और माध्यमिक स्तर तक हिन्दी को अनिवार्य न बना ऐच्छिक विषय के रूप में शामिल कर लिया जाय। जो विद्यार्थी अपने राज्य से बाहर नौकरी या व्यवसाय करना चाहेंगे, वे स्वतः ही हिन्दी पढ़ना चाहेंगे। हिन्दी की अनिवार्यता अहिन्दी-भाषी राज्यों में नहीं होनी चाहिए। ऐसा हो जाने पर राज्य भाषाओं का द्रुत गति से विकास होगा और हिन्दी के प्रति देश में विद्वेष भी नहीं उत्पन्न हो पायेगा। परन्तु आज अँग्रेजी भक्तों ने अहिन्दी-भाषी राज्यों में हिन्दी के प्रति इतनी घृणा और शंका उत्पन्न कर रखी है कि वे हिन्दी का विरोध करने के लिए अँग्रेजी को ही अपनाए रखना चाहते हैं, अपनी मातृ-भाषाओं तक को अँग्रेजी का स्थान नहीं ग्रहण करने देना चाहते। उन्हें भय है कि अँग्रेजी के हटते ही हिन्दी उसका स्थान ले लेगी। और फिर उन भाषाओं को उसी प्रकार दबाती रहेगी जैसे कि अँग्रेजी दबाती रही है। साथ ही उनका स्व-भाषा-दम्भ भी आड़े आ जाता है। उनकी भाषा न बन कर हिन्दी ही सम्पर्क-भाषा क्यों बने, यह भावना भी उन्हें हिन्दी का विरोधी बना देती है। इसी कारण वे अँग्रेजी को ही बनाए रखना चाहते हैं। परन्तु यह दृष्टिकोण सामान्य जनता का न होकर वहाँ के राजनीतिज्ञों, नौकरशाहों और कुछ बुद्धिजीवियों का ही है। हिन्दी के कट्टर विरोधी नगर मद्रास में कन्या के विवाह के समय यह पूछा जाता है कि कन्या हिन्दी जानती है या नहीं। हिन्दी जानने वाली लड़कियों को वहाँ प्राथमिकता दी जाती है।

हिन्दी और अँग्रेजी की तुलना

अँग्रेजी और हिन्दी की तुलना करने से हमारा अभिप्राय—इन दोनों भाषाओं की साहित्यिक या भाषा-विषयक समृद्धि की तुलना करने से नहीं है। यहाँ हमें केवल यह दिखाना है कि भारतीयों के लिए इन दोनों भाषाओं में से किसका अध्ययन अधिक सरल और सुविधापूर्ण रहेगा। सबसे पहली बात तो यह है कि अँग्रेजी एक सुदूरवर्ती विदेशी भाषा है, जिसके शब्द-भण्डार, व्याकरण, प्रकृति, परम्परा, संस्कार आदि का किसी भी दृष्टि से भारत की किसी भी भाषा से कोई साम्य नहीं है। इसलिए इसका अध्ययन करते समय हमारे विद्यार्थियों की बहुत अधिक शक्ति और समय लगता है, और फिर भी इस विदेशी भाषा का सामान्य ज्ञान प्राप्त करने में भी वे पूर्णतया समर्थ नहीं

हो पाते। बी० ए० तक १४ वर्ष निरन्तर अध्ययन करते रहने पर भी वे इस विदेशी भाषा पर अधिकार नहीं कर पाते। आगरा विश्वविद्यालय में तथा देश के अनेक विश्वविद्यालयों में भी सामान्य अँग्रेजी (जनरल इंगलिश) अनिवार्य विषय के रूप में कुछ वर्ष पूर्व तक पढ़ाई जाती थी और हमने देखा था कि हमारे विद्यार्थियों की एक बहुत बड़ी संख्या इस सामान्य अँग्रेजी से बहुत घबराती थी। प्रतिवर्ष सामान्य अँग्रेजी में अनुत्तीर्ण रहने वाले विद्यार्थियों की संख्या सबसे अधिक रहती थी। यह ज्वलन्त सत्य है कि यदि अँग्रेजी को अनिवार्य विषय के पद से हटा दिया जाता तो हमारे अधिकांश विद्यार्थी संतोष की साँस लेते और बहुत खुश होते। ऐसी स्थिति में वे अपना जो समय और शक्ति अँग्रेजी के अध्ययन में लगाते उसे अन्य विषयों में लगाने से उनका स्तर उन्नत होता। हर्ष का विषय है कि अब अनेक विश्वविद्यालयों ने अँग्रेजी की इस अनिवार्यता को समाप्त कर दिया है।

यहाँ अँग्रेजी समर्थकों द्वारा यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि यदि अँग्रेजी को अनिवार्य विषय नहीं रहने दिया जायेगा तो हमारे विद्यार्थी विदेशों में अध्ययन करने नहीं जा सकेंगे, क्योंकि विदेशों अर्थात् इंगलैण्ड और अमरीका में अँग्रेजी ही शिक्षा का माध्यम है। परन्तु इन तर्कशास्त्रियों से यह पूछा जाय कि प्रतिवर्ष कितने भारतीय विद्यार्थी विदेशों में अध्ययन करने जाते हैं? सम्भवत: उनकी संख्या दस हजार में से एक की भी नहीं होगी। तो फिर कुछ सैकड़ा गिने-चुने विद्यार्थियों की सुविधा के लिए सम्पूर्ण विद्यार्थियों को अँग्रेजी की कड़वी घुटी पीने के लिए क्यों बाध्य किया जाय? अँग्रेजी को एक वैकल्पिक विषय के रूप में रखना चाहिए। जिन्हें भविष्य में विदेश जाना होगा, वे स्वेच्छापूर्वक अँग्रेजी का अध्ययन करते रहेंगे। इस अध्ययन से उन्हें कोई भी नहीं रोकेगा। परन्तु केवल अँग्रेजी ही क्यों पढ़ाई जाय? फ्रांसीसी, जर्मन, रूसी, इतालवी आदि भाषाएँ भी पढ़ाई जानी चाहिए। क्योंकि भारतीय विद्यार्थी इन अन्य देशों में भी शिक्षा प्राप्त करने जाते हैं।

जहाँ तक हिन्दी का सम्बन्ध है, हिन्दी—भारतीय भाषा है और देश की लगभग आधी जनसंख्या इसे बोलती और समझती है। भारतीय भाषाएँ परस्पर भिन्न होते हुए भी कई बातों में समान हैं। सबसे पहली समानता तो यह है कि भारत की समस्त भाषाओं ने मुक्त-हृदय से संस्कृत के शब्दों को अपनाया है। इसलिए सबसे बड़ी समानता तो यह है कि इन भाषाओं में

प्रयुक्त शब्द-भण्डार का बहुत बड़ा अंश सभी भारतीय भाषाओं में एक-सा है। इसके अतिरिक्त काव्य-रूढ़ियाँ, कवि-समय, दृष्टान्त, इतिहास, दर्शन, धार्मिक मान्यताएँ आदि भी भारतीय भाषाओं में लगभग एक समान ही प्रयुक्त होती हैं। काव्य-शास्त्रीय लगभग सम्पूर्ण मान्यताएँ, संस्कृत काव्य-शास्त्र से प्रभावित और अनुप्रेरित रहने के कारण सभी भारतीय भाषाओं में समान रूप से गृहीत हैं। व्याकरण की दृष्टि से भी हिन्दी, अपने विषम लिंग-भेद और उससे सम्बन्धित क्रियाओं को छोड़कर, अन्य बातों में कम-से-कम उत्तर भारतीय भाषाओं से तो काफी समानता रखती है। इन समानताओं के कारण ही अहिन्दी-भाषी भारतीयों को हिन्दी का अध्ययन करना अँग्रेजी की अपेक्षा अधिक सरल और सुविधाजनक रहेगा। हमारा विश्वास है कि कोई भी अहिन्दी-भाषी भारतीय अधिक-से-अधिक दो वर्ष में हिन्दी का कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इसलिए हिन्दी को सम्पूर्ण भारत में ऐच्छिक विषय बनाने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। हिन्दी को किसी पर थोपना नहीं होगा। । जो हिन्दी पढ़ना चाहेंगे उनके लिए हिन्दी पढ़ने की व्यवस्था कर देना ही यथेष्ट माना जायेगा।

हिन्दी का देश-व्यापी अध्ययन

उपर्युक्त तथ्य को अधिकांश भारतीय जानते और मानते हैं; और वे यह भी जानते हैं कि अँग्रेजी भारत से जा रही है और हिन्दी उसका स्थान लेने वाली है। अँग्रेजी के अध्ययन के प्रति विद्यार्थियों में व्याप्त स्वाभाविक अरुचि और उसका निरन्तर गिरता हुआ स्तर इसका प्रमाण है कि अब अँग्रेजी भारत में अधिक समय तक नहीं टिक सकेगी। वह हमारे शासन और शिक्षा का माध्यम नहीं रहेगी। इसी कारण आज सम्पूर्ण देश में हिन्दी का अध्ययन करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। प्रत्येक राज्य में हिन्दी का प्रचार करने वाली विभिन्न संस्थाएँ पूर्ण मनोयोग के साथ कार्य कर रही हैं और उनके द्वारा चलाई जाने वाली हिन्दी-कक्षाओं में लाखों विद्यार्थी हिन्दी पढ़ रहे हैं। इन हिन्दी-कक्षाओं में उन नेताओं के बच्चे भी हिन्दी पढ़ने आते हैं जो राजनीतिक मंच पर खड़े होकर हिन्दी का घोर विरोध करते हैं। अभी तक भारत के केवल दो राज्यों में राजनीतिक नेता हिन्दी का घोर विरोध कर रहे थे—तमिलनाडु और बंगाल; परन्तु इन राज्यों में भी हिन्दी-कक्षाएँ अनवरत रूप से चल रही हैं। भारत के अन्य समस्त राज्यों ने हिन्दी का समर्थन किया है। ऐसी स्थिति में हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा या सम्पर्क-भाषा बनने से कौन रोक सकता

है ? अँग्रेजी के इन बचे-खुचे भक्तों में अब इतनी शक्ति नहीं रही कि वे हिन्दी को तथा अन्य राज्य-भाषाओं को आगे बढ़ने से रोक सकें। अंग्रेजी केवल हिन्दी के मार्ग का ही रोड़ा नहीं, अपितु यह भारत की सम्पूर्ण भाषाओं के मार्ग का सबसे बड़ा रोड़ा है। इसलिए उसे हटाना ही होगा।

हिन्दी-भाषी राज्यों में हिन्दी की स्थिति

उपर्युक्त विवेचन इन तथ्य पर प्रकाश डालता है कि हिन्दी सच्चे अर्थों में भारतीय गणतंत्र की सम्पर्क-भाषा बनकर ही रहेगी। ऐसी स्थिति में हिन्दी भाषियों का दायित्व और अधिक बढ़ जाता है। परन्तु जब हम यह देखते हैं कि हिन्दी-भाषी राज्यों में और विशेष रूप से हिन्दी के जन्मदाता राज्य उत्तर-प्रदेश में हिन्दी की स्थिति कितनी उपेक्षित और दयनीय है, तो मन क्षोभ और ग्लानि से भर उठता है। जब हम हिन्दी-भाषी स्वयं हिन्दी को प्रोत्साहन नहीं देते, उसका अपने दैनिक व्यवहार में उपयोग नहीं करते, तो हमें क्या अधिकार है कि—हम अहिन्दी-भाषियों से कहें कि वे हिन्दी पढ़ें ? आज उत्तर प्रदेश में यह हाल है कि सरकार का अधिकांश काम अँग्रेजी में होता है, उच्च शिक्षा का माध्यम अँग्रेजी बनी हुई है, मंच पर से और लेखनी द्वारा हिन्दी का समर्थन और प्रचार करने वाले नेताओं तथा हिन्दी के साहित्यकारों के बच्चे 'कॉन्वेन्टों' या 'पब्लिक स्कूलों' में पढ़ रहे हैं, जहाँ आरम्भ से ही शिक्षा का माध्यम अँग्रेजी हैं; यहाँ तक कि उत्तर प्रदेश के प्राइमरी स्कूलों तक में अँग्रेजी अनिवार्य रूप में पढ़नी पड़ती है। सारे कर्मचारी मामूली-से-मामूली काम अँग्रेजी में करते हैं और हिन्दी को गँवारू और अविकसित भाषा समझते हैं जबकि वे अच्छी तरह से न अंग्रेजी जानते है और न हिन्दी। यह तो सरकारी क्षेत्र की स्थिति है। इसके अतिरिक्त हमारे विश्वविद्यालयों तथा बड़े-बड़े कॉलेजों में भी लगभग सारा दफ्तरी काम-काज अँग्रेजी में ही होता है। हिन्दी भाषी क्षेत्रों के कई विश्वविद्यालयों ने हिन्दी में प्रस्तुत किए गए शोध-कार्य को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था। आम जनता में भी शिक्षित और सम्माननीय वही व्यक्ति समझा जाता है, जो अँग्रेजी का ज्ञाता होता है। अधिकांश परिवारों में पत्र-व्यवहार अँग्रेजी में होता है; यहाँ तक कि निमन्त्रण-पत्र तक अँग्रेजी में छपवाये जाते हैं। परन्तु यह स्थिति समाज के केवल दो वर्गों तक सीमित है—एक अँग्रेजी के माध्यम से उच्च शिक्षित सरकारी वर्ग और दूसरा, अर्द्ध-शिक्षित परन्तु नव-धनिक मध्यम वर्ग। यही लोग यह दिखाने का अधिक प्रयत्न करते

हैं कि हम अंग्रेजी जानते हैं। यही लोग हिन्दी के नाम पर अभी तक नाक-भौं सिकोड़ते पाये जाते हैं। आप उत्तर-प्रदेश के बड़े ही नहीं, छोटे कस्बों तक के बाजारों में निकल जाइये—वहाँ दूकानों, कार्यालयों, संस्थाओं आदि के सूचना पट्ट आपको अधिकतर अँग्रेजी में ही मिलेंगे, यहाँ तक कि अँग्रेजी का एक अक्षर तक न जानने वाले दर्जी, नाई, धोबी आदि की दुकानों पर लगे सूचना-पट्ट भी आपको अँग्रेजी में ही मिलेंगे।

क्या इस स्थिति को दयनीय और लज्जास्पद नहीं माना जा सकता ? हमें आडम्बर और विदेशी भाषा की गुलामी के इस मोह को दूर करना होगा। जब हम अपना सारा काम केवल हिन्दी में ही करने लगेंगे, तब इस योग्य बन सकेंगे कि अहिन्दी-भाषियों से यह कह सकें कि तुम हिन्दी पढ़ो।

भावात्मक एकता का प्रधान साधन

पिछले कुछ वर्षों से भारत में विघटन की प्रवृत्ति बल पकड़ती जा रही है। इस घातक प्रवृत्ति का शमन करने के लिए आज देश में भावात्मक एकता के प्रसार और उसे सुदृढ़ बनाने की सबसे अधिक आवश्यकता है, और भाषा तथा संस्कृति का समन्वय भावात्मक एकता को सुदृढ़ बनाने का प्रधान साधन होता है। यह तभी सम्भव है, जब भारत के विभिन्न भाषा-भाषी परस्पर निकट आएँ, और यह कार्य साहित्य द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है। होना यह चाहिए कि विभिन्न भारतीय भाषाओं में रचित साहित्य का प्रचार हो, भारत के रहने वाले इस साहित्य के माध्यम से परस्पर एक-दूसरे से परिचय प्राप्त करें और तब उन्हें ज्ञात होगा कि सम्पूर्ण देश की संस्कृति के मूलाधार तत्त्व समान रहे हैं। हमारे पूर्वजों ने संस्कृति के विभिन्न तत्त्वों का समन्वय कर समस्त देश को एक विशाल सांस्कृतिक शृंखला में आबद्ध कर दिया था। आज हमें उसी संस्कृति का पुनः प्रसार करना है और यह केवल साहित्यिक आदान-प्रदान द्वारा ही सम्भव हो सकेगा। साहित्य हमारी विचाराधारा, जीवन-दृष्टि, रहन-सहन आदि का प्रतिबिम्ब होता है। इसलिए भारतवासी विभिन्न भारतीय भाषाओं में रचित साहित्य का अध्ययन करके ही एक-दूसरे को भली-भाँति समझ सकेंगे। इसके लिए होना यह चाहिए कि भारतीय भाषाओं में रचित श्रेष्ठ साहित्य का सभी भारतीय भाषाओं में अनुवाद हो। हिन्दी में तो उसका अनुवाद होना नितान्त आवश्यक है। सम्भव है, हिन्दी में अनूदित इस साहित्य के माध्यम से अन्य भाषा-भाषी भारत के विभिन्न राज्यों में विभक्त जन-जीवन से निकट का

परिचय प्राप्त कर सकें। इस प्रकार हिन्दी इस भावात्मक एकता को सुदृढ़ बनाने वाली एक महत्त्वपूर्ण कड़ी बन जायेगी।

इस कार्य को करने के लिए दूसरों को हिन्दी पढ़ने का उपदेश देने वाले हिन्दी-भाषियों को अन्य भारतीय भाषाओं का अध्ययन करना पड़ेगा। होना यह चाहिए कि हिन्दी-क्षेत्र के विद्यार्थियों के लिए अन्य भारतीय भाषा का अध्ययन अनिवार्य बना दिया जाय।

सुधरी हुई स्थिति

कुछ समय पहले तक हमारी केन्द्रीय सरकार एवं हिन्दी-भाषी राज्यों की सरकारें हिन्दी के प्रति उपेक्षापूर्ण नीति को अपनाये हुए अँग्रेजी के दामन से चिपकी रही थीं; परन्तु देश के सन् १९६७ में हुए आम चुनावों ने स्थिति को बदल दिया था। अँग्रेजी की भक्त और देश की कर्णधार होने का दम्भ करने वाली कांग्रेस इन आम चुनावों में धूल चाट गई थी। देश में उन शक्तियों को बल मिला था जो अँग्रेजी की गुलामी दूर कर, भारतीय भाषाओं में अपना सारा कार्य करने की समर्थक और अभिलाषी हैं। इस परिवर्तन से यह आशा बँधने लगी थी कि अब अँग्रेजी का बहिष्कार किया जायेगा तथा भारतीय भाषाओं को उनका उचित स्थान और महत्त्व प्राप्त होगा। समस्त हिन्दी-भाषी राज्यों ने परस्पर हिन्दी में ही पत्र-व्यवहार करने का निश्चय किया था और इस निश्चय को कार्यरूप में परिणत भी किया जाने लगा था। भारत के भूतपूर्व शिक्षा-मन्त्री डा० त्रिगुण सेन ने घोषणा की थी कि उच्च शिक्षा का माध्यम मातृभाषाएँ ही होनी चाहिए। उन्होंने कोठारी आयोग की सिफारिशों का भी विरोध किया था। ये नए लक्षण शुभ थे परन्तु इसके बाद हुए चुनावों में कांग्रेस नया जनवादी रूप धारण कर पुनः शासन की गद्दी पर आ बैठी और हिन्दी की समस्या पहले के ही समान पुनः अधर में लटका दी गई। इसके बाद जनता-सरकार बनी है। देखें, क्या करती है! आश्वासन दिए जा रहे हैं, परन्तु कोरे आश्वासनों से समस्या का हल तो नहीं हो सकता। आज भारत के राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री, शिक्षा-मन्त्री आदि सभी हिन्दी को सम्पर्क-भाषा के रूप में स्वीकार कर रहे हैं। परन्तु यह स्वीकृति व्यावहारिक भी होनी चाहिए। आज तमिलनाडु और बंगाल पुनः अँग्रेजी के समर्थन और हिन्दी के विरोध में उठ खड़े हुए हैं। यह स्थिति चिन्तनीय है।

हिन्दी-भाषियों का कर्त्तव्य

यह ऐतिहासिक सत्य है कि सरकारी कानून द्वारा कोई भी भाषा सच्चे अर्थों में कभी राष्ट्र की सम्पर्क-भाषा नहीं बन सकी है। सरकारी स्तर पर भले ही बन गई हो, मगर जन-साधारण की सम्पर्क भाषा वही बनती है जो देश की अधिकांश जनता में लोकप्रिय होती है। इसलिए हमें सरकारी सहायता पर ही निर्भर नहीं रहना होगा। भाषा—संस्कृति की वाहक होती है। अँग्रेजी भाषा—अँग्रेजों की शासन करने वाली मनोवृत्ति की प्रतीक रही है। भारत में तो उसका यही रूप रहा है। आज देश में अँग्रेजी का साम्राज्य रहने का यह परिणाम हुआ है कि देश विदेशी संस्कृति से बुरी तरह आक्रान्त है। अँग्रेजों के जाने के बाद तो इस संस्कृति का प्रभाव और अधिक बढ़ा है और इस विदेशी संस्कृति के जीवन में आडम्बर, मानसिक दासता और स्वयं को विदेशियों की तुलना में हेय समझने की प्रवृत्ति को पहले से भी अधिक बढ़ावा दिया है। हम पग-पग पर इसका प्रमाण पाते हैं। इसलिए देश को इन विदेशी विचारों की दासता और जीवन-पद्धति से बचाना होगा, और यह तभी सम्भव हो सकेगा, जब हम विदेशी संस्कृति की वाहक इस विदेशी भाषा अँग्रेजी का प्रभुत्व समाप्त कर देंगे। इसके लिए हमें अपनी मातृभाषाओं को अपनाना होगा, उन्हें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रधान स्थान देना होगा। ऐसा हो जाने पर सभी भारतीय भाषाओं की अभिवृद्धि होगी और हिन्दी उन सबको एक सूत्र में आबद्ध कर, सम्पूर्ण देश की विभिन्न भाषाओं और स्थानीय संस्कृतियों को विकसित करने तथा सम्पूर्ण देश को एक प्रगाढ़ सांस्कृतिक और भावात्मक एकता में आबद्ध करने वाला एक महत्त्वपूर्ण और सशक्त साधन बन जायेगी।

लोक-साहित्य

प्रश्न १—लोक-साहित्य के स्वरूप और भाव को स्पष्ट करते हुए लोक-साहित्य पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

उत्तर—परिचय—'लोक-साहित्य' शब्द आधुनिक हिन्दी का एक ऐसा शब्द है जो पिछले लगभग तीस-पैंतीस वर्ष से प्रचार पाता रहा है। यह एक विशिष्ट प्रकार के साहित्य का वाचक बन गया है। यह दो शब्दों के योग से बना है—'लोक' और 'साहित्य'। साहित्य का अर्थ तो सभी जानते हैं, इस शब्द-युग्म में 'साहित्य' शब्द का प्रयोग उसके प्रचलित, सर्वग्राह्य अर्थ में ही हुआ है। परन्तु 'लोक' शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ देता है। 'लोक' का सामान्य अर्थ है—समाज, सम्पूर्ण समाज। 'लोकवाणी', 'लोकतन्त्र', लोक कल्याण, आदि शब्द सम्पूर्ण समाज का ही अर्थ देते हैं। परन्तु 'लोक-साहित्य' में प्रयुक्त 'लोक' शब्द अपने व्यापक अर्थ को त्याग, समाज के एक विशिष्ट अंग तक ही सीमित होकर रह गया है। और समाज का यह विशिष्ट अंग वह होता है जो अशिक्षित, अर्ध-शिक्षित, असभ्य अथवा सामान्य अर्थ में परि-श्रमजीवी सामान्य समाज माना जाता है। समाज का यह वर्ग सभ्यता के कृत्रिम आवरणों और धारणाओं से सर्वथा मुक्त, निश्छल और स्वाभाविक जीवन जीता हुआ अपने हार्दिक भावों को अकृत्रिम रूप से सहज-सरल बोल चाल की भाषा में स्वच्छन्द रूप से अभिव्यक्त करता रहता है। इसी से इन भावों की शब्दगत अभिव्यक्ति को 'लोक-साहित्य' कहा जाता है। अपने दुःख-सुख, हर्ष-उल्लास-मिश्रित भावों की अभिव्यक्ति में यह साहित्य नितान्त स्वा-भाविक, स्वच्छन्द और उन्मुक्त होता है। इसमें न भाषा-शैली की कृत्रिमता होती है, न भावों को छिपाने की प्रवृत्ति। यह साहित्य सीधा हृदय से उठता है और सीधा हृदय पर चोट करता है। इसमें सामान्य अर्थात् नागरिक सभ्यता द्वारा सृजित साहित्य की अपेक्षा सम्प्रेषणीयता की, साधारणीकरण की शक्ति कई गुना अधिक होती है।

लोक-साहित्य : सामान्य अर्थ

वस्तुत: यह 'लोक साहित्य' शब्द अँग्रेजी के 'फोक लिटरेचर' का हिन्दी अनुवाद है। 'फोक' का अर्थ है—लोक; तथा 'लिटरेचर' का अर्थ है—साहित्य। जैसा कि हम पीछे कह आए हैं, यहाँ 'लोक' शब्द अपने व्यापक अर्थ को त्याग, समाज के केवल उस वर्ग का बोध कराता है जो नागरिक सभ्यता और शिक्षा से वंचित होता है। सामान्य भाषा में इस वर्ग को ग्रामीण अथवा गँवार कहा जाता है। डा० सत्येन्द्र ने 'लोक' के इसी अर्थ को स्वीकार करते हुए लिखा है—"हम अपनी दृष्टि से यह कह सकते हैं कि 'लोक' मनुष्य-समाज का वह वर्ग है, जो आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना और पांडित्य के अहंकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है। ऐसे लोक की अभिव्यक्ति में जो तत्व मिलते हैं, वे लोकतत्त्व कहलाते हैं।"

ये लोक-तत्त्व परम्परा से चले आ रहे उन भावों-विचारों और अनुभूतियों के प्रतीक होते हैं जो सामान्य लोक-मानस में युगों से अपनी गहरी जड़ें जमाए चले आ रहे हैं। नागरिक-समाज की अपेक्षा इनमें परिवर्तन की गति बहुत ही मन्द होती है। नागरिक-समाज परिवर्तनशील होता है। विभिन्न नए-नए प्रभाव और पद्धतियाँ उसके जीवन में परिवर्तन उत्पन्न करते रहते हैं। इसके विपरीत ग्रामीण समाज का ढाँचा और ढर्रा युगों तक लगभग एक-सा ही चलता चला जाता है। सभ्यता कृत्रिमता का दूसरा नाम है। सभ्य व्यक्ति अपनी असलियत को दूसरों से छिपाने का प्रयत्न करता है। उसकी कथनी उसकी करनी से भिन्न होती है। इसी कारण उसके साहित्य में भी कृत्रिमता आ जाती है। परन्तु लोक अर्थात् ग्राम्य-समाज सभ्यता के दूषित प्रभाव से मुक्त रहने के कारण अपनी अभिव्यक्ति के प्रति पूरा ईमानदार, अत: स्वाभाविक बना रहता है। वह अपनी अभिव्यक्ति में न भाषा के आडम्बर का सहारा लेता है और न भावों-विचारों को तोड़-मरोड़ कर ही प्रस्तुत करता है। क्योंकि ये दोनों ही कार्य उसकी क्षमता और स्वभाव से परे होते हैं। इस वर्ग की अभिव्यक्ति मौखिक रूप में ही होती है, बिल्कुल आशु-कविता की तरह और अपने मौखिक रूप में ही मुँह-दर-मुँह फलती और प्रचार पाती रहती है। यह दूसरी बात है कि कोई साहित्य प्रेमी उसे लिपिबद्ध कर दे और छोटी-छोटी पुस्तिकाओं के रूप में उसका प्रकाशन हो जाय। परन्तु उसका मूल रूप रहता मौखिक ही है।

यहाँ तक कि लोक में प्रचलित बड़ी-बड़ी कथाएँ तक मौखिक रूप में ही पीढ़ी-दर-पीढ़ी गाई-सुनी चली आ रही हैं। इससे उनकी भाषा, कहावतों-मुहावरों पर स्थानीय रंग चढ़ता रहता है।

सामान्य विशेषताएँ

उपर्युक्त विश्लेषण और विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर लोक-साहित्य की निम्नलिखित विशेषताएँ निर्धारित की जा सकती हैं—

(१) लोक-साहित्य समाज के अशिक्षित अथवा अल्प-शिक्षित उस वर्ग का साहित्य है, जो सभ्यता के प्रभाव से मुक्त, नितान्त स्वाभाविक और निश्छल परन्तु परिश्रम से परिपूर्ण जीवन जीने का अभ्यस्त होता है।

(२) इसकी रचना मौखिक रूप में होती है और यह उसी रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी विकास और प्रचार पाता रहता है। आधुनिक युग में कभी-कभी इसका प्रकाशन भी होने लगा है।

(३) इसमें लोक-जीवन के सुख-दुःख, हर्ष-उल्लास, मिलन-वियोग, आशा-आकांक्षा आदि की स्वच्छन्द भावनाएँ अपने नितान्त स्वाभाविक रूप में अभि-व्यक्त होती हैं। उसमें किसी प्रकार की कृत्रिमता नहीं होती।

(४) यह लोक-संस्कृति का पूर्ण परिचायक होता है। इसमें लोक-जीवन के विभिन्न पक्ष अपनी पूर्ण हार्दिकता और निश्छलता के साथ प्रतिबिम्बित होते हैं।

(५) इसमें भाषा, छन्द, अलङ्कार का कोई बन्धन स्वीकार नहीं किया जाता। इसके गीतों में केवल लय का ही ध्यान रखा जाता है, क्योंकि ये सर्वांशतः गेय ही होते हैं। लय ही इनका प्राण है।

(६) यह घोर परम्परा-प्रिय होता है। इसमें सामाजिक परम्पराएँ अपने अधिकृत रूढ़ रूप में अभिव्यक्ति पाती रहती हैं। यह नई सभ्यता और परि-वर्तन का घोर विरोधी होता है।

(७) इसके रचयिता का कोई महत्त्व या नाम प्रचलित नहीं होता। कोई एक व्यक्ति एक गीत गाता है और फिर वही गीत किंचित् रूप-परिवर्तन के साथ सारे समाज द्वारा गाया जाने लगता है। विभिन्न अवसरों पर गाए जाने वाले गीत सारे प्रदेश में लगभग एक से ही रूप में गाए जाते हैं।

(८) गद्य के क्षेत्र में इसका रूप लोक-कथाओं के रूप में मिलता है। इस

वर्ग में कहानी कहने और सुनने की प्रवृत्ति आदिम काल से चली आ रही है। कहानियाँ भी अनाम और मौखिक होती हैं।

विस्तार-क्षेत्र

आरम्भ में कुछ लोग लोक-साहित्य को ग्रामीण-साहित्य ही समझते और मानते थे। यह सही है कि इसका असली रूप ग्राम्य-जीवन और उसकी परम्पराओं, भावनाओं तथा अभिव्यक्ति-प्रकारों वाला ही होता है। नागरिक-जीवन और उसकी सभ्यता से यह मुक्त रहता है। फिर भी नगरों में रहने वाला श्रमजीवी-वर्ग, जो प्रायः गाँवों में आकर वहाँ बस गया है, अपने इस लोक-जीवन और उससे घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित लोक-साहित्य के रूपों और कहानियों के माध्यम से अपने हार्दिक सुख-दुःख की भावनाओं का प्रकाशन करता है, जिन्हें वह या उसके पूर्वज अपने गाँवों से लाए थे। अन्तर केवल भाषा में थोड़ा-सा आ जाता है। वस्तुतः लोक-साहित्य का श्रमजीवी-वर्ग से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह उसके जीवन का एक अविभाज्य और अनिवार्य अङ्ग है। परिश्रम, शारीरिक परिश्रम करने वाले वर्ग को संगीत एक टॉनिक का काम देता है। परिश्रम करते हुए गीत गाने से एक तो परिश्रम उन्हें अधिक नहीं खलता, साथ ही संगीत की लय का जादू उनका अनुरंजन करता चलता है, जो श्रम के परिहार का मुख्य स्रोत बन जाता है। खेत जोतता हुआ किसान चक्की पीसती हुई नारी, करघे पर कपड़ा बुनता हुआ जुलाहा, मछलियाँ पकड़ता हुआ मछियारा तथा यात्रा करती हुई लोगों की टोली गीतों की गूँजती हुई ध्वनियों के सहारे ही अपनी मंजिल की ओर बढ़ती रहती हैं। इसका मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि गीत गाते समय लोगों का ध्यान परिश्रम जनित क्लान्ति की ओर नहीं जा पाता और वे अधिक थकान महसूस नहीं करते। हर्ष-उल्लास के अवसरों पर भी हमने स्त्रियों को चार-चार, छह-छह घण्टों तक बिना रुके गीत गाते सुना है, फिर भी उन्हें थकते नहीं देखा। अतः लोक-साहित्य का क्षेत्र केवल ग्राम्य-जीवन तक ही सीमित न रह कर उस सम्पूर्ण विशाल क्षेत्र तक फैला हुआ है, जहाँ धरती के अशिक्षित पुत्र-पुत्रियाँ परिश्रम करने में ही अपने जीवन की सार्थकता और उपयोगिता मानते हैं फिर वह क्षेत्र चाहे नगर का हो या गाँव का।

डा० सत्येन्द्र ने इसके क्षेत्र और समाविष्ट होने वाले विषयों की एक तालिका सी प्रस्तुत करते हुए लिखा है—"पिछड़ी जातियों में प्रचलित अथवा

अपेक्षाकृत समुन्नत जातियों के असंस्कृत समुदायों में अविशिष्ट विश्वास, रीति-रिवाज, कहानियाँ, गीत तथा कहावतें आती हैं। प्रकृति के चेतन तथा जड़-जगत के सम्बन्ध में भूत-प्रेतों की दुनियाँ तथा उनके साथ मनुष्यों के सम्बन्धों के विषय में जादू-टोना, सम्मोहन, वशीकरण, तावीज, भाग्य, शकुन, रोग तथा मृत्यु के सम्बन्ध में आदिम तथा असभ्य विश्वास इसके क्षेत्र में आते हैं। और भी इसमें विवाह, उत्तराधिकार, बाल्यकाल तथा प्रौढ़ जीवन के रीति-रिवाज तथा अनुष्ठान और त्यौहार, युद्ध, आखेट, मत्स्य-व्यवसाय, पशु-पालन आदि विषयों के भी रीति-रिवाज और अनुष्ठान इसमें आते हैं तथा धर्म-गाथाएँ, अवदान (लीजेण्ड), लोक कहानियाँ, साके (बैलैड), गीत, किम्बदन्तियाँ पहेलियाँ तथा लोरियाँ भी इसके विषय हैं।"

डा० श्याम परमार के अनुसार इसके विषय-क्षेत्र को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

१. लोकगीत, लोकगाथाएँ, कहावतें, पहेलियाँ आदि;

२. रीति-रिवाज, त्यौहार, पूजा-अनुष्ठान, व्रत आदि;

३. जादू-टोना, टोटके, भूत-प्रेत सम्बन्धी विश्वास आदि;

४. लोक-नृत्य, लोक-नाट्य तथा आंशिक अभिव्यक्ति; और

५. बालक-बालिकाओं के विभिन्न खेल, ग्रामीण एवं आदिवासियों के खेल तथा गीत आदि।

लोक साहित्य के भेद

डा० सत्येन्द्र ने पहले लोक-साहित्य के दो प्रमुख भेद माने हैं—(१) लोक वार्ता-साहित्य तथा (२) वाणी-विलास, इतर लोक-साहित्य। इस विभाजन को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—"लोकवार्ता-साहित्य वह साहित्य है, जिससे किसी समुदाय की लोकवार्ता अभिव्यक्त हुई है, अथवा जो स्वयं लोक-वार्ता का एक आनुष्ठानिक अंग हो। इस क्षेत्र से बाहर का समस्त लोक-साहित्य इतर लोक-साहित्य है।" इसके अनन्तर उन्होंने समस्त लोक-साहित्य के भेदों को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

लोक-साहित्य

लोकगीत, लोककथा, लोककहानी, चुटकले, पहेलियाँ, कहावतें, मन्त्र
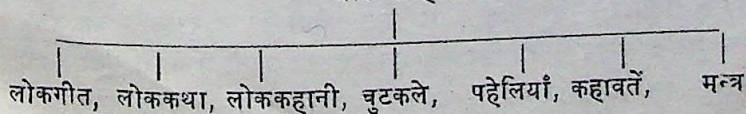
१. बड़े गीत, २. स्वाँग गीत, ३. आनुष्ठानिक गीत, ४. अन्य

अन्य प्रकार के गीतों के अन्तर्गत उन्होंने भगत या नौटंकी गीत, पूजा, जागरण, व्रत; त्यौहार, संस्कार आदि सम्बन्धी गीतों को माना है। समष्टि रूप से लोक-साहित्य को निम्नलिखित पाँच वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) लोकगीत,

(२) लोकगाथा, (यह पद्य में ही गाई जाती है)

(३) लोक कथा; (इसमें धर्म-कथाएँ आदि सभी प्रकार की कथाएँ आ जाती हैं।)

(४) लोक-नाट्य (रामलीला, रासलीला, भगत, नौटंकी आदि।)

(५) अन्य प्रकार का साहित्य।

अब हम हिन्दी के लोक-साहित्य का उपर्युक्त वर्गीकरण के अनुसार ही विवेचन करने का प्रयत्न करेंगे। सबसे पहले हम उसके प्रमुख अंग लोकगीत का विवेचन करना चाहेंगे।

१. लोकगीत

लोक अर्थात् जन-सामान्य द्वारा रचित और जन-सामान्य में प्रचलित गीत 'लोकगीत' कहलाता है। लोक में प्रचलित उन्हीं गीतों को लोकगीत माना जा सकता है जिनके रचयिता अज्ञात होते हैं तथा जिनमें उनके रचियता का व्यक्तित्व नहीं होता। उन गीतों में व्यक्त होने वाली अनुभूति किसी व्यक्ति विशेष की अनुभूति न होकर समस्त लोक की अनुभूति होती है। अर्थात् लोक-गीत सम्पूर्ण जन-समाज की चेतन-अचेतन भावनाओं को व्यक्त करने वाले होते हैं। परन्तु इन गीतों का रचने वाला तो कोई-न-कोई अवश्य होना ही चाहिए। फिर भी आज तक एक भी लोकगीत के रचयिता का नाम नहीं पता चल पाया है। फिर भी ये गीत कौन रचता है?

वस्तुतः लोकगीत स्वतःजन्मा होता है। उनमें मानव का उल्लास भी मुखरित होता है, और उसके मन का दर्द भी फूट जाता है। एक पाश्चात्य विद्वान के अनुसार—'लोकगीत न तो नया होता है, न पुराना। वह जंगल के एक वृक्ष के समान है, जिसकी जड़ें भूतकाल की धरती में गहरी धँसी रहती हैं, परन्तु जिसमें निरन्तर नई-नई डालियाँ, पत्ते और फल उगते रहते हैं।''

सच बात तो यह है कि लोकगीत भावाकुल-हृदय की सहज, अनायास अभिव्यक्ति है। हृदय में कोई भाव बड़ी तीव्र गति के साथ उठता है और गीत के रूप में फूट पड़ता है। लोकगीत आशु कविता है। पहाड़ों पर प्रायः यह देखा जाता है कि पहाड़ की एक टेकड़ी पर लकड़ी काटता कोई लकड़हारा गीत की एक कड़ी उठाता है। उस कड़ी के समाप्त होते ही दूसरी टेकड़ी पर घास काटती कोई नवयौवना उसका उत्तर देती है। फिर उत्तर-प्रयुत्तर का एक लम्बा सिलसिला चल पड़ता है। यह सारा काम इतनी सहज और तीव्र गति से होता है कि उसमें भाग लेने वालों के शब्दों का चयन करने अथवा छन्द या अलंकार के सायास बाँधनू बाँधने का अवकाश ही नहीं होता। भाव-प्रवाह के साथ शब्द अलंकार, छन्द आदि सभी एक लय की कड़ी में बँधे झंकृत होते चले जाते हैं। वहाँ भाव ही प्रमुख होता है, उसे व्यक्त करने वाले साधन नहीं। लय उन भावों को अद्‌भुत सौन्दर्य और सम्प्रेणीयता प्रदान कर देती है। लोकगीत के रचयिताओं का उद्‌देश्य मात्र अपने भावों को अभिव्यक्त करना होता है, न कि उनमें अपने नाम की छाप डाल, अपनी प्रसिद्धि का मोह। इसी कारण लोक-गीतों के रचयिता अज्ञात रहते हैं।

इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि लोकगीत मौखिक होते हैं, इसलिए उनके रूप, शब्दावली आदि में थोडा-बहुत परिवर्तन होता चलता है। सभी लोकगीत गेय होते हैं। उन्हें अकेले ही गाया जाता है और सामूहिक रूप में भी। सहज भाषा और शैली, लोक-संगीत की सहज लयपूर्ण गति, रसात्मकता और स्वच्छन्दता लोकगीतों की प्रधान विशेषताएँ मानी जा सकती हैं। लोक-गीतों की अत्यधिक लोकप्रियता के दो प्रधान कारण हैं—(१) लय की सहजता तथा (२) सामूहिक भावभूमि। इनमें जन-सामान्य की भावनाएँ अपनी अभिव्यक्ति पाती हैं। लोकगीत सामाजिक और धार्मिक परम्पराओं के रक्षक होते हैं।

संगीत की प्रधानता

लोकगीत गाये जाते हैं, व्यक्तिगत रूप में भी और सामूहिक रूप में भी। इसी कारण उनमें संगीत का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है। एक अँग्रेज विद्वान केनेथ रिचमाण्ड का यह कहना है कि—"सभी लोकगीत में सामान्यतः शब्द गौण होते हैं और लय प्रधान होती है; और इसी कारण कभी-कभी यह कहा जाता है कि यह लय ही है जिसका सर्वापेक्षा अधिक महत्व है।"

गीत गेय होते हैं, इसलिए उनमें लय का संगीत के स्वरों का होना तो अनिवार्य है ही, परन्तु यह कहना गलत है कि उनमें शब्दों की अपेक्षा लय का अधिक महत्त्व है। कुछ ही लोकगीत ऐसे होते हैं जिनमें भावों को महत्त्व न दे, केवल लय को ही महत्त्व दिया जाता है। ऐसे गीत प्रायः सामूहिक रूप में ही गाये जाते हैं। परन्तु अधिकांश लोकगीतों में भावों की बड़ी मार्मिक और मनोरम अभिव्यक्ति होती है और भाव शब्दों के माध्यम से ही व्यक्त किए जाते हैं, इसलिए उनमें शब्दों का गौण होना नहीं माना जा सकता। संगीत तो गाने और लोकप्रिय बनाने का एक प्रधान साधन मात्र है। विभिन्न प्रकार के लोकगीत की अपनी एक निश्चित लय होती है और वे सर्वत्र उसी लय में गाये जाते हैं; जैसे—रसिया, आल्हा, ढोला, बारहमासा, कजरी, होली, मल्हार, बमभोला आदि के गीत। इनके भाव या कथन में अन्तर हो सकता है, परन्तु सर्वत्र लय एक-सी ही रहती है। लय को बनाये रखने के लिए कभी-कभी दो-एक अनावश्यक शब्दों का भी प्रयोग कर दिया जाता है, जैसे सावन में गाए जाने वाले एक गीत की कड़ी, जो मल्हार राग में गाई जाती है—"बाग हिंड़ोले अम्मा मेरी परि रहे जी, एजी कोई झूलत नन्द किशोर।" इस पंक्ति में एजी कोई' शब्द युग्म केवल टेक का काम देते हुए लय को बनाए रखते हैं। उनका कोई सार्थक अर्थ नहीं होता। लोकगीतों का संगीत शास्त्रीय संगीत से बँधा हुआ नहीं रहता। उसका अपना स्वच्छन्द रूप रहता है। गीत की लय को बनाए रखना ही उसका मूल उद्देश्य होता है।

हास्य-योजना

विवाह आदि के अवसर पर वधू-पक्ष की नारियाँ वर-पक्ष पर खूब हास्य-व्यंग्य की वर्षा करती हैं, गालियाँ गाती हैं। इस हास्य-व्यंग्य और परिहास का रूप अनगढ़ अवश्य होता है, परन्तु उसकी चोट बड़ी तीखी होती है। साली-बहनोई आदि के पारस्परिक परिहास में काम-भावना का बड़ा उन्मुक्त, स्वाभाविक और रसीला रूप खिलता है। उसमें वह घुटन नहीं मिलती, हमारे नागरिक लेखक और कवि जिसके अहर्निशि शिकार रहते हैं और अपनी उस घुटन पर शालीनता-सभ्यता का मुखौटा लगा उसे बड़े विकृत और अस्वस्थ रूप में प्रस्तुत करते हैं। इधर सुधारवादियों ने विवाह के अवसर पर गाई जाने वाली गालियों को रोकने का धुँआधार प्रचार किया था, परन्तु उसका आंशिक प्रभाव पड़कर ही रह गया। सभ्यता हमारे स्वाभाविक, उन्मुक्त उल्लास पर

हमेशा से बन्धन लगाने का प्रयत्न करती आई है, परन्तु सफल नहीं हो पाई है। ग्रामीण हास्य हृदय से उत्पन्न होता है, इसी कारण उसमें एक निश्छलता और आत्मीयता भरी रहती है। उसमें ओछापन नहीं होता।

अलंकार-योजना

लोकगीतों की रचना सायास नहीं होती; वे तो अनायास ही हृदय से उठ शब्दों के रूप में मुखरित हो उठते हैं। इसलिए उनमें अलंकार सायास नहीं लाए जाते, अनायास ही भाव-प्रवाह के साथ बहते चले जाते हैं। डा० कुन्दन लाल उप्रेती ने इसका विवेचन करते हुए लिखा है—

"लोकगीतों में अलंकारों का प्रयोग शिष्ट-साहित्य के समान सायास नहीं होता। उनमें तो अलंकारों की योजना स्वतः स्वाभाविक रूप में होती है। चमत्कारिक, गूढ़ार्थ-व्यंजक तथा संकर अलङ्कारों की अपेक्षा रूपक, उपमा, श्लेष, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार ही अधिक उपलब्ध होते हैं। वास्तव में लोक कवि अलंकारों के चमत्कार के पचड़े में नहीं पड़ता। वह परिसंख्या और परिकर से परे रहता है। वह जिन अलंकारों का प्रयोग करता है, उनमें एक विचित्र सरलता, स्वाभाविकता, नवीनता तथा मौलिकता होती है, जो शिष्ट साहित्य के अलंकारों में उपलब्ध नहीं होती।"

लोककवि अपने वातावरण से ही उपमानों-उत्प्रेक्षाओं का चयन करता है। वह जानबूझकर अलंकारों का प्रयोग नहीं करता। परम्परा-भुक्त अलंकारों से भी वह दूर रहता है। वह उपमानों का चुनाव करते समय उपमेय की आकृति का अनुकरण करने वाले उपमान का ही प्रयोग करता है।

भाषा

लोकगीतों के रचयिता सामान्य शिक्षित तथा अशिक्षित ऐसे कवि होते हैं, जिनमें काव्य-प्रतिभा तो होती है, परन्तु अपनी रचना को सुसंस्कृत भाषा, शब्द-विन्यास आदि से सज्जित करने की क्षमता नहीं होती। उन्हें जो बात कहनी होती है, उसे सीधी-सादी, दैनिक बोलचाल की सहज-सरल भाषा में कह देते हैं। परन्तु इन गीतों में लोक-भाषा का वह प्रभावशाली और सशक्त रूप उभरता है, जो बिहारी के समान बहुत थोड़े से शब्दों द्वारा ही बहुत-कुछ कह देने की अद्‌भुत सामर्थ्य रखता है। इनमें ऐसे चुने हुए, सार्थक और व्यंजक शब्दों का प्रयोग अनायास ही हो जाता है, जो अपनी संवेदनशीलता

और सम्प्रेषण की शक्ति में अद्भुत होते हैं। सामान्य जन शब्दाडम्बर से दूर रह संक्षेप में ही अपनी बात कह देना पसन्द करते हैं, और इस कला में बड़े दक्ष होते हैं। कहावतें और मुहावरे उनके इस संक्षिप्तीकरण में सर्वाधिक सहायक रहते हैं। इसीलिए लोकगीतों में कहावतों-मुहावरों से अलंकृत भाषा का मनोहर रूप खिलता दिखाई देता है। वह भावाभिव्यक्ति के लिए उन्हीं चुने हुए शब्दों का प्रयोग करते हैं, जो उस भाव को व्यक्त करने के लिए सामान्यतः प्रयुक्त होते रहते हैं। परन्तु अपनी इस सहज-सरल भाषा में भी ये लोक-कवि अपने वाग्वैदग्ध्य का अद्भुत परिचय दे जाते हैं। इन गीतों में भावुकता तो प्रधान रहती ही है, परन्तु उसको व्यक्त करने में ये कवि अद्भुत वाग्वैदग्ध्य की सहायता से अपने कथन में एक ऐसी ध्वनि (यहाँ व्यंजना से अभिप्राय है) उत्पन्न कर देते हैं, जो ध्वनि-काव्य का अनुपम उदाहरण बन जाती है। ऐसे स्थलों पर कवि भाव का स्पष्ट कथन न कर भाव को ध्वनित करता है।

२. लोकगाथा

गीत मुक्तक-काव्य के अंग होते हैं और लोकगाथा प्रबन्ध-काव्य होती है। गीतों के रूप में जिस कथा को गाया जाय, वह लोकगाथा कही जाती है। अंग्रेजी में इसे 'बैलेड' कहते हैं। लोकगाथा उसे कहते हैं, जिसका रचयिता अज्ञात हो, जिसमें गीतों के माध्यम से कोई लोक-प्रसिद्ध कथा कही गई हो, जो मौखिक रूप में परम्परागत रूप से लोक में गाई जाती चली आ रही हो। लैला-मजनूं, नल-दमयन्ती, हीर-राँझा, छिताई-अलाउद्दीन, पद्मावती-रत्नसेन, आल्हा, ढोला-मारू, माधवानल-कामकन्दला, सोनी-महीवाल, लोरिकायन आदि अनेक ऐसी लोकगाथाएँ हैं जो शताब्दियों से लोक-गायकों द्वारा गाई जाती रही हैं। इनमें से अनेक कथाओं के साहित्यिक संस्करण भी बनते रहे हैं। अर्थात् उन्हें साहित्यिक रूप भी प्राप्त होता रहा है। इन लोक-गाथाओं के सम्बन्ध में सर्वाधिक उल्लेखनीय बात यह है कि इनके स्वरूप में थोड़ा-सा परिवर्तन होता रहता है, इसीलिए इनका एक निश्चित रूप नहीं रह पाता। प्रदेश-भिन्नता के कारण भी इनका रूप थोड़ा सा बदल जाता है। इनकी मूल कथा का ढाँचा तो प्रायः एक-सा ही बना रहता है, परन्तु विभिन्न लोकगायक अपनी ओर से भी उस कथा में नई-नई बातों, घटनाओं, वर्णनों आदि का समावेश करते रहते हैं। इसलिए इनका रूप विकसनशील अधिक रहता है। परन्तु जब से इन्हें लिपिबद्ध कर इनके मुद्रित रूपों का प्रचार हुआ है, इनके स्वरूप में थोड़ा-सा

स्थायित्व आने लगा है। परन्तु अभी लोक में ऐसी अनेक कथाएँ प्रचलित हैं, जो लिपिबद्ध नहीं हो पाई हैं।

लोकगाथाओं की उत्पत्ति के कारण

वैसे तो विभिन्न विद्वानों ने लोकगाथाओं की उत्पत्ति के अनेक कारण बताए हैं, परन्तु हमारी राय में लोकगाथाओं की उत्पत्ति का मूल कारण समाज में घटित कोई विशिष्ट घटना ही होती है। जब समाज में कोई ऐसी विशिष्ट घटना घटती है, जिससे लोक-मानस गहरे रूप से प्रभावित और आन्दोलित हो उठता है, तब उस घटना से सम्बन्धित लोकगाथा जन्म लेती है। लोकगायक उस घटना को छन्दों में आबद्ध कर उसे गाना आरम्भ कर देते हैं। जैसे, किसी व्यक्ति द्वारा किसी शुभ कार्य के लिए अद्भुत शौर्य प्रदर्शित किए जाने पर उसके गीत गाए जाने लगते हैं। धीरे-धीरे उसमें नई-नई घटनाओं, अलौकिकता आदि का भी समावेश होने लगता है। विशुद्ध लोकगाथा की उत्पत्ति और विकास इसी प्रक्रिया के अनुसार होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि एक ही लोकगाथा के रचयिता अनेक व्यक्ति भी हो सकते हैं। परन्तु कालान्तर में यह किसी व्यक्ति-विशेष की सम्पत्ति न रहकर सम्पूर्ण समाज की सम्पत्ति बन जाती है। यही कारण है कि हमें किसी भी लोकगाथा के मूल रचयिता का नाम नहीं मालूम होता।

लोकगाथा के विषय

लोकगाथाओं के विषय प्रायः वही मिलते हैं जो समाज को सर्वाधिक रूप से प्रभावित करने में समर्थ होते हैं। जैसे—प्रेम, वीरता, त्याग आदि। लोक-मानस को यही तीन भावनाएँ अधिक प्रभावित करती हैं। इसलिए अधिकांश लोकगाथाओं के यही तीन प्रधान विषय रहे हैं। जैसे पंजाब में प्रचलित हीर-राँझा और राजस्थान में प्रचलित ढोल-मारू की प्रेमगाथाएँ पवित्र एकनिष्ठ और अलौकिक-से प्रेम का स्वरूप प्रस्तुत करती हैं। आल्हा की वीरगाथा उत्तर भारत में पंजाब से लेकर बिहार तक बहुत लोकप्रिय है। इंग्लैण्ड में रॉबिनहुड अनेक वीरगाथाओं का नायक रहा है। हमारे यहाँ राजा भर्तृहरि की त्याग-गाथा लोकगाथाओं का विषय बनी रही है। परन्तु इन गाथाओं का सर्वाधिक प्रिय विषय प्रेम ही है। प्रेम-प्रधान गाथाओं में वीरता और त्याग-भावनाओं का भी समावेश होता रहा है। प्रेमी-प्रेमिका, पति-पत्नी-माता-पुत्र, भाई-बहन आदि के स्नेह-सिंचित विभिन्न सम्बन्धों के विभिन्न

रूपों में यही प्रेम-भावना नाना प्रकार के उदात्त रूप धारण कर व्यक्त होती रही है। सती कथाओं के रूप में भी यही प्रेम अपने त्याग भरे उज्ज्वलतम रूप में अभिव्यक्ति पाता रहा है।

शैली और संगीत का समन्वय

इन लोकगाथाओं की भाषा-शैली भी लोकगीतों के ही समान सहज-सरल होती है। अन्तर केवल इतना ही है कि लोक-गीतों में संक्षिप्तता की प्रवृत्ति अधिक रहती है और लोकगाथाओं में विस्तार की। उनमें घटनाओं और वर्णनों की प्रधानता रहने के कारण गायक उन्हें विस्तार के साथ प्रस्तुत करते हैं। परन्तु कुछ लोकगाथाएँ ऐसी भी मिलती हैं जिनमें विस्तृत वर्णनों की अपेक्षा कथा के मूल-भाव का भावात्मक वर्णन ही प्रधान रहता है। ऐसी कथाएँ प्रेम-प्रधान होती हैं। इसके विपरीत वीररस-प्रधान लोकगाथाएँ घटना और वर्णन प्रधान रहती हैं। चूँकि ये सभी लोकगाथाएँ गेय होती हैं, गाई जाती हैं, इसलिए इनका छन्द-विधान संगीत प्रधान होता है। संगीत में भी लय ही प्रधान रहती है।

समष्टि रूप से लोकगाथाएँ जन-सामान्य की उन भावनाओं और आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति प्रदान करने वाली होती हैं जिन्हें सामान्य-जन आदि काल से चाहता रहा है। इसलिए इन गाथाओं के रूप में लोक-जीवन की आशा-आकांक्षा को ही अभिव्यक्ति मिलती आई है।

३. लोककथा

लोक में कहानियाँ कहने और सुनने का शौक आदिम युग से ही रहा है। हमारी लोककथाएँ इसी शौक का मूर्त रूप हैं। इनका मूल उद्देश्य समाज का मनोरंजन करना रहता है। इस मनोरंजन के रूप में मानव-मन की आकांक्षाएँ अभिव्यक्ति पाती रहती हैं। जैसे, प्रत्येक कुमारी कन्या और उसके अभिभावकों की यह आकांक्षा रहती है कि उसे पति के रूप में राजकुमारों जैसे एक सुन्दर वीर, साहसी और गुणी पति की प्राप्ति हो। इसी प्रकार नवयुवक किसी अनिन्द्य सुन्दरी, सर्वगुण सम्पन्न राजकुमारी की कामना करते हैं। यही कामनाएँ राजकुमार-राजकुमारियों की विभिन्न लोक-कथाओं के रूप में अभि-व्यक्ति पाती रहा हैं। राजा-रानी, देव-दानवों की कहानियाँ भी इसी प्रकार की किसी-किसी आकांक्षा की ही देन हैं। बचपन में हम दादी, नानी आदि से इसी प्रकार की कहानियाँ सुना करते थे। इन कहानियों में रहस्य-रोमांच

होता था, साहस-शौर्य का प्रदर्शन होता था। यही बातें इन्हें रोचक बना देती हैं। इन सभी कहानियों का अन्त सुखान्त होता था और उसके साथ ही कहानी कहने वाला सबके मंगल की कामना करता हुआ कहता था—"जैसा इनका हुआ, वैसा राम सबका भला करे।" अपढ़ समाज में ये कहानियाँ आज भी कही-सुनी जाती हैं। गाँव में दो-एक क़िस्सा-गो (कहानी कहने वाले) ऐसे होते हैं जो रात को फ़ुर्सत के समय लोगों को ऐसी कहानियाँ सुनाया करते हैं। इनका कहानी कहने का ढंग बड़ा रोचक होता है। ये अत्यन्त कौशल के साथ श्रोताओं की उत्सुकता को निरन्तर बढ़ाते चले जाते हैं और अन्त में जाकर सारे रहस्य का उद्घाटन कर कहानी समाप्त कर देते हैं।

लोककथा की विशेषताएँ

लोककथाएँ लोकगाथाओं की ही तरह मौखिक रूप में ही विकास पाती रहती हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि ये गद्य में, दैनिक बोलचाल के बिल्कुल घरेलू गद्य में कही जाती हैं। इनके कहने की शैली, भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के मुख में भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लेती है। प्रत्येक कहानी कहने वाला यह प्रयत्न करता है कि वह कहानी को अधिक-से-अधिक रोचक और कौतूहल वर्धक ढंग से कहे। दूसरी बात यह है कि ये लोककथाएँ मानव की मूल प्रवृत्तियों की ही कथा कहती हैं, और वह भी नितान्त उन्मुक्त और स्वच्छन्द रूप में। इसी कारण उनमें कुंठित मन की अश्लीलता प्रवेश नहीं कर पाती; सब कुछ नितान्त स्वाभाविक और स्वस्थ रहता है। तीसरी बात यह है कि इनका अन्त अशुभ की पराजय और शुभ की जय में होता है, इसी कारण लगभग सारी लोककथाएँ सुखान्त होती हैं। सब में सम्पूर्ण मानव-समाज की मंगल-कामना भरी रहती है। अलौकिक तत्त्वों का समावेश तथा कौतूहल की प्रधानता को इनकी अन्य विशेषताएँ माना जा सकता है।

४. लोक-नाट्य

लोक-साहित्य के अन्य अंगों के समान ही लोक-नाटक भी जन-सामान्य की ही वस्तु है और उसी का मनोरंजन करता है। रामलीला, रासलीला, भगत, स्वाँग, नौटंकी, जात्रा आदि इसके विभिन्न रूप हैं। जिस प्रकार जन-मन-रंजन के लिए लोकगीत, लोककथा, लोकागाथा आदि का आविर्भाव हुआ था, उसी प्रकार लोक-नाटक का भी हुआ होगा। इसमें संगीत, नृत्य और सम्वादों के माध्यम से किसी प्राचीन अथवा सम-सामयिक लोकगाथा को प्रस्तुत किया

जाता है । एक लम्बे-चौड़े मैदान में दो-चार तख्त डाल कर रंगमंच बना लिया जाता है और उसके सामने तीन तरफ दर्शकगण जमीन पर घेरा बाँधकर बैठ जाते हैं । मंच के एक ओर नगाड़े और हारमोनियम बजाने वाले बैठते हैं । इसके बाद नगाड़े पर चोट पड़ते ही नाटक आरम्भ हो जाता है और पात्रगण विभिन्न प्रकार की वेशभूषा धारण कर मंच पर आते और अभिनय करने लगते हैं । किसी विशिष्ट कथा को लेकर नाटक खेला जाता है और उसके बीच-बीच में नृत्य और संगीत के कार्यक्रम भी चलते रहते हैं । नौटंकी आदि का कभी-कभी रात-रात भर तक अभिनय चलता रहता है । यही हमारे लोक-नाटक कहलाते हैं, जो समाज के श्रमजीवी, अशिक्षित वर्ग में ही अधिक प्रचलित और लोकप्रिय हैं । नगर के तथाकथित सभ्य और सुसंस्कृत पढ़े-लिखे लोग इनसे दूर रहने में ही स्वयं को सभ्य समझने का गर्व पाले रहते हैं । लोक-नाटकों का आधुनिक रूप यही है ।

लोक-जीवन के वास्तविक प्रतिनिधि

नाटक को सामान्यतः वैसे भी लोक-जीवन का प्रतिबिम्ब माना जाता है, परन्तु लोक-नाटक तो जैसे लोक-जीवन के सम्पूर्ण रूप को ही अपने भीतर समेट लेता है । इन लोक-नाटकों के माध्यम से सामान्य श्रमजीवी समाज अपने मन के हर्षोल्लास, सुख-दुःख, क्षोभ-आक्रोश आदि को व्यक्त कर अपना मनोरंजन करता है । इन नाटकों के विदूषक सभी प्रकार की विषमताओं और वाह्याडम्बरों पर गहरे और तीखे व्यंग्य कस कर लोक-मानस की प्रतिक्रियाओं को बड़े प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करते हैं । इन नाटकों का कथा-विधान, साज-सज्जा, अभिनय, भाषा-शैली आदि नितान्त सरल और स्वाभाविक रूप वाली होती है । इनमें शास्त्रीय नियमों का पालन नहीं किया जाता । यह प्रधान रूप से गेय होता है । गेय होने के कारण इसमें लोक-संगीत का प्राधान्य रहना स्वाभाविक है ।

अनेक प्रकार

देश-विदेश में सभी जगह ये नाटक आज भी खेले जाते हैं । जहाँ भी श्रमजीवी समाज रहता है वहाँ इन नाटकों का खेला जाना स्वाभाविक और अनिवार्य है । भारत के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में ये लोक-नाटक भिन्न-भिन्न नाम से प्रचलित हैं । जैसे, दक्षिण भारत के 'यक्षगान', 'वीथि नाटकम', 'तोलुम्बोम्लाट', 'कामनकोट्टु' आदि; महाराष्ट्र के 'तमाशा', 'ललित', गौधल' आदि; बंगाल

का 'गम्भीरा'। बंगाल, बिहार और उड़ीसा में 'जात्रा' नामक लोक-नाट्य बहुत लोकप्रिय हैं। इसी प्रकार गुजरात में 'भवई' नामक लोक-नाट्य प्रसिद्ध और लोकप्रिय है। 'माँच' मालवा का लोकनाट्य है। उत्तर भारत में ख्याल, स्वाँग, भगत और नौटंकी नामक लोक-नाटक जन-जीवन के सामान्य अङ्ग बने हुए हैं। कठपुतली का नाच भी लोक-नाटक का ही एक ऐसा रूप है जो सारे संसार में प्रचलित है। इसके अतिरिक्त रामलीला और रासलीला भी पूरे भारत में प्रचलित और लोकप्रिय हैं। लोक-नाटकों के कई भिन्न रूप होते हैं, जैसे—नृत्य-प्रधान, हास्य-व्यंग्य-प्रधान वार्ता-प्रधान आदि।

लोक-नाटकों का उद्देश्य लोक का मनोरंजन करना होता है। परन्तु मनोरंजन के अतिरिक्त भी लोकजीवन के रीति-रिवाज, आचार-विचार तथा उत्सव-त्यौहार का प्रदर्शन करना भी इनका उद्देश्य होता है। कुछ नाटक तो केवल इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए खेले जाते हैं। संक्षेप में, लोक-नाटक जन-सामान्य के हर्षोल्लास और मनोरंजन का एक ऐसा साधन है जिसके माध्यम से सामान्य-जन अपना मनोरंजन करता है और परम्परा तथा रूढ़ियों को सुरक्षित बनाए रखता है। वह रूढ़ि-प्रेमी होता है। परम्परा का उल्लंघन उसे सह्य नहीं है।

५. लोक-सुभाषित

इसके अन्तर्गत लोक में प्रचलित लोकोक्तियों या कहावतों और मुहावरों की गणना की जाती है। जैसा कि हम पहले कह आए हैं, सामान्य-जन संक्षेप में अपनी बात कहना या अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर देना पसन्द करता है। लोकोक्तियाँ और मुहावरे उसकी इसी प्रवृत्ति के द्योतक हैं। इनकी परम्परा बहुत प्राचीन है। जब सामान्य जन किसी बात को बार-बार होता देखता है, तथा उसमें एक विशिष्ट अर्थ को ध्वनित होता पाता है, तो उसे एक छोटे से वाक्य में बाँध उसका उसी विशिष्ट अर्थ में प्रयोग करने लगता है जैसे, सामान्यत: यह देखा गया कि जब कोई नारी जल से आधा भरा घड़ा लेकर चलती है तो उसके चलने पर घड़े का जल छलकने और आवाज करने लगता है। इसके विपरीत पूरा भरा हुआ घड़ा न तो छलकता है और न आवाज ही करता है। इसके आधार पर किसी विचारशील व्यक्ति ने अधकचरे ज्ञान से सम्पन्न, परन्तु बहुत अधिक बोलने वाले व्यक्ति में और आधे जल से भरे घड़े में समानता देखकर यह लोकोक्ति गढ़ ली—'अधजल गगरी छलकत जाय।'

आगे चलकर ऐसे ही व्यक्तियों के लिए इस लोकोक्ति का प्रयोग होने लगा। इस उदाहरण से यह निष्कर्ष निकला कि हमारी लोकोक्तियों के रूप में हमारा सामान्य अनुभूत ज्ञान सुरक्षित रहता है और लोकोक्ति का एक ही वाक्य उस सम्पूर्ण ज्ञान को अत्यन्त संक्षेप में स्पष्ट कर देता है।

इन लोकोक्तियों की उत्पत्ति के तीन मूल कारण माने गए हैं—लोक-कथाएँ, ऐतिहासिक घटनाएँ और प्राज्ञ-वचन। इन्हीं के आधार पर विभिन्न प्रकार की लोकोक्तियाँ (कहावतें) बनतीं और प्रचार पाती रहती हैं। प्रत्येक लोकोक्ति के मूल में जीवन का कोई-न-कोई अनुभूत सत्य स्थित रहता है। इन्हें ज्ञान का संक्षिप्तीकरण कहा जाता है। इनके न रचयिता का पता चलता है और न इस बात का कि अमुक लोकोक्ति कब अस्तित्व में आई। जब कोई अनुभव सर्वजनीन हो जाता है, सबको प्रभावित करने लगता है, तभी कहावत बन जाता है। इनमें शिक्षा, उपदेश, चेतावनी, व्यंग्य, हास्य आदि अनेक उद्देश्य भरे रहते हैं। कहावतें लोक-भाषा की एक अनिवार्य, अथाह सम्पत्ति और ज्ञान का पुँज होती हैं।

लोकोक्तियों की तीन प्रमुख विशेषताएँ मानी जाती हैं—संक्षिप्तता, सारगर्भिता और सप्राणता या चटपटापन। इनकी शैली समास-शैली होती है। ये ज्ञान की अक्षय भण्डार होती हैं।

मुहावरा

मुहावरा लोकोक्ति की अपेक्षा आकार में छोटा और गद्यात्मक होता है। वह पूर्ण वाक्य न होकर वाक्यांश मात्र होता है। उसका प्रयोग उसके मूल रूप में ही होता है, उसके शब्दों में परिवर्तन कर देने से उसके अर्थ में भी परिवर्तन हो जाता है तथा उसका प्रभाव भी मारा जाता है।

मुहावरे किसी विशिष्ट लाक्षणिक अर्थ को ध्वनित करते हैं। उनकी दूसरी भाषा या अन्य शब्दों में अनुवाद या रूपान्तर नहीं किया जा सकता। यह दूसरी बात है कि दो भिन्न भाषाओं में एक ही अर्थ को ध्वनित करने वाले मुहावरे मिल जायँ, जो मिलते भी हैं। मुहावरों का प्रयोग अनेक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है। जैसे—हास्य-व्यंग्य के लिए, विचारों को कम-से-कम शब्दों में परन्तु स्पष्टता के साथ व्यक्त करने के लिए, जन-सामान्य से सम्पर्क बनाने के लिए; कथन में सरलता और चमत्कार, आत्मीयता तथा रंजकता उत्पन्न करने के लिए, आदि। वस्तुतः मुहावरों को अभिव्यक्ति का

प्रभावशाली संक्षिप्ततम रूप माना जा सकता है। सारा लोकजीवन मुहावरों का विषय होता है।

निष्कर्ष

समष्टि रूप से लोक-साहित्य के यही विभिन्न रूप होते हैं, जो मौखिक परम्परा के रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी लोक-मुख में सुरक्षित रहते हुए विकास पाते रहते हैं। यह साहित्य घोर परम्परावादी होता है। पुरानी सामाजिक परम्पराएँ इसके रूप में सुरक्षित रहती हैं। यह बाह्याडम्बर अर्थात् नागरिक सभ्यता को मुँह नहीं लगाता, उसे अपने से सदैव दूर रखता है। यह अभिव्यक्ति के प्रति निहायत स्पष्ट और ईमानदार रहता है। इसे घुमा-फिरा कर, उलझा कर या छिपाकर बात कहना नहीं आता। इसे दैनिक बोलचाल की व्यावहारिक भाषा के अतिरिक्त दूसरी कोई भाषा बोलना नहीं आता, इसी कारण यह अपनी सारी बात उसी सहज-सरल और सीधी-सादी भाषा में कह देता है वस्तुतः किसी भी भाषा, देश या प्रदेश के लोक-साहित्य को उसका एक सजीव इतिहास माना जा सकता है। क्योंकि लोक-साहित्य परिवर्तन को स्वीकार या ग्रहण करने में संकोची होता है, इसलिए उसमें सामाजिक परम्पराएँ अधिक समय तक जीवित रहती है और इन्हीं से इतिहास बनता है। लोक-साहित्य के रूप में, इसी कारण सामाजिक विकास का एक लम्बा इतिहास सुरक्षित रहता है। इसे उस गँवार अर्थात् गाँव के भोले-भाले व्यक्ति के समान माना जा सकता जो घोर रूढ़िवादी तो होता है, परन्तु अपने भावों को, अपनी प्रतिक्रियाओं को बड़े भोलेपन और ईमानदारी के साथ बड़े सहज रूप में व्यक्त कर देता है, क्योंकि उसे बना कर बात कहना नहीं आता।

हिन्दी का विश्व-व्यापी रूप

प्रश्न १—"हिन्दी का विश्व-व्यापी रूप उसे एक विश्व-भाषा का रूप प्रदान करने में पूर्ण समर्थ है।"—इस कथन का विवेचन करते हुए भारत और विदेशों में हिन्दी की स्थिति और प्रचार का संक्षिप्त परिचय दीजिए, और बताइए कि अपने किन गुणों के कारण हिन्दी एक विश्व-भाषा बनने की अधिकारिणी है ?

उत्तर—भूमिका—आज हम इस बात का गर्व करते हैं कि हमारी हिन्दी-भाषा का पठन-पाठन विश्व के अधिकांश देशों में हो रहा है। सन् १९७५ में नागपुर में पहला 'विश्व हिन्दी सम्मेलन' हुआ था, जिसमें विश्व के विभिन्न देशों के हिन्दी के अनेक मूर्धन्य विद्वानों के साथ ही भारत के अनेक हिन्दी-भाषी और अहिन्दीभाषी हिन्दी के साहित्यकारों ने भाग लिया था। इस सम्मेलन का आयोजन बड़ा भव्य रहा था। इसमें भाग लेने के लिए आए हुए विदेशी विद्वानों ने हिन्दी-सम्बन्धी अपने विचार व्यक्त किए थे। सारा वातावरण हिन्दी की प्रशंसा और उसके जयगान से ध्वनित होता रहा था। इस सम्मेलन द्वारा ही अधिकांश हिन्दी वालों को पहली बार इस बात का पता चला था कि हिन्दी विश्व के किन-किन देशों में लोकप्रिय है और पठन-पाठन का विषय बनी हुई है।

घर में ही निर्वासिता हिन्दी

हमें ठीक तो नहीं मालूम, परन्तु इस सम्मेलन के सम्बन्ध में सुना तो यहाँ तक गया था कि इसकी जो प्रारम्भिक तैयारी की गई थी, उसके पत्राचार के अधिकांश कागज अंग्रेजी में ही छपे थे। विभिन्न देशी-विदेशी विद्वानों से, अंग्रेजी में छपे उन कागजों द्वारा ही इस हिन्दी-सम्मेलन में भाग लेने का आग्रह किया गया था। साथ ही यह भी सुना था कि कुछ हिन्दी-भाषी विद्वान विदेशी अतिथियों से अंग्रेजी में बातें करते पाये गए थे। इसकी उन अतिथियों पर क्या प्रतिक्रिया हुई होगी, इसकी कल्पना ये लोग नहीं कर सकते। हम अपनी भाषा

और उसके राष्ट्रीय महत्त्व को समझेंगे, इसके लिए श्रीमती कमला रत्नम् द्वारा दिया गया एक उदाहरण पर्याप्त होगा। उन्होंने लिखा है—

"जनवरी १९६२ में दक्षिण पूर्व एशिया में समान सांस्कृतिक मूल्यों पर विचार करने के लिए प्राच्य-संस्कृति-परिषद की एक विशेष गोष्ठी का आयोजन बैंकाक (थाई देश की राजधानी) में किया गया। इसके लिए परिषद् के उपाध्यक्ष थाईलैण्ड के तत्कालीन उप-प्रधानमन्त्री राजकुमार वैध्यकोर्न का सन्देश लेने व्यासजी (श्री लल्लनप्रसाद व्यास) उनके पास पहुँचे। संयोगवश उस समय टंकक अनुपस्थित था। व्यासजी ने स्वाभाविक विनम्रतावश सन्देश स्वयं लिख लेने का प्रस्ताव किया। 'क्या आप थाई अक्षर जानते हैं? राजकुमार ने प्रश्न किया। "नहीं जानता।' तो आप मेरा सन्देश कैसे लिखेंगे?' 'आपका सन्देश यदि अँग्रेजी में होगा तो उसे लिख लूँगा।' इस पर राजकुमार ने उत्तर दिया कि, अँग्रेजी में सन्देश देना थाई-राष्ट्र के सम्मान के प्रतिकूल होगा, और फिर अपने हाथ से थाई-अक्षरों में अपना सन्देश स्वयं लिख कर दे दिया।"

निष्कर्ष यह निकला कि किसी भी भाषा का सम्मान उसके बोलने वालों द्वारा किए जाने वाले उसके सम्मान पर निर्भर-करता है। भाषा-सम्बन्धी इस शाश्वत सत्य को महात्मा गाँधी ने बहुत पहले समझ लिया था, और उन्होंने सन् १९१८ में ही यह घोषणा की थी—"हमें ऐसी हालत पैदा कर देनी चाहिए कि हमारे राजनीतिक या सामाजिक सम्मेलनों में, कांग्रेस तथा प्रान्तीय सभाओं आदि में अँग्रेजी का एक शब्द भी न सुना जाए। अँग्रेजी का व्यवहार हमें पूरी तरह से बन्द कर देना चाहिए। अँग्रेंजी ने विश्व-भाषा की जगह पा ली है, लेकिन यह इसलिए कि अँग्रेज सारी दुनियाँ में फैल गए हैं और हर जगह उन्होंने अपने पैर जमा लिए हैं। जब उनकी यह स्थिति नहीं रहेगी, तब अँग्रेजी का प्रसार भी संकुचित हो जायेगा।"

खैर, हिन्दी की इस दुर्दशा का रोना तो हमारे लिए हनुमान की पूँछ जैसा बन गया है जिसका अन्त ही नहीं दिखाई देता। न मालूम वह दिन कब देखने को आयेगा, जब हिन्दी वालों को अँग्रेजी का प्रयोग करने में शर्म महसूस होने लगेगी। हमारा वश चलता तो हम इस शर्म की थोक एजेन्सी उन लोगों को दे देते जो तथा जिनके बच्चे हिन्दी बोलने में शरमाते हैं। परन्तु हिन्दी में एक कहावत है—'घर का जोगी जोगना, आन गाँव का सिद्ध।' सन्तोष इस बात का है कि हिन्दी के अपने घर में भले ही उसकी पूछ न होती हो, उसे

स्नेह और सम्मान न मिलता हो, परन्तु विदेशों में तो उसे सम्मान मिलता है। अनेक देश हिन्दी को भारत-राष्ट्र की सांस्कृतिक और सामाजिक स्थितियों और मान्यताओं की प्रतिनिधि और प्रतिबिम्ब मान उसका सम्मान करते हैं, बड़ी निष्ठा और स्नेह के साथ उसके पठन-पाठन में लगे रहते हैं। मारीशस और फीजी द्वीप-समूह इसके प्रमाण हैं। साथ ही विश्व के अनेक अन्य देश भी हिन्दी को भारत की प्रतिनिधि भाषा मानते और उसका सम्मान करते हैं। हम हिन्दी-भाषियों को इस बात के लिए उनका आभार मानना चाहिए और गर्व करना चाहिए। इसलिये हम यहाँ यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि हिन्दी विश्व में कहाँ-कहाँ प्रचार पा रही है, तथा भारत के अहिन्दी-भाषी राज्यों में उसकी क्या स्थिति है ? अस्तु,

हिन्दी-भाषी विदेशी

सबसे पहले हम विश्व के उन देशों का परिचय देना चाहेंगे, जहाँ हिन्दी-भाषी लोग जाकर बस गए थे और आज भी सदियों से वहाँ रहते हुए भी अपनी मूल भाषा को नहीं भूले हैं; अपने घरों में हिन्दी का व्यवहार करते हैं, और वहाँ के कुछ लोग हिन्दी में सुन्दर साहित्यिक चीजें भी लिखते रहते हैं। उन्नीसवीं सदी के मध्य से लेकर वीसवीं सदी के आरम्भ तक अँग्रेजों ने पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा बिहार के निर्धन क्षेत्रों के हजारों गरीबों को कुली के रूप में भर्ती कर मारीशस, फीजी, सूरीनाम, गुयाना आदि भारत से हजारों मील दूर स्थित द्वीपों में भेजा था। इन द्वीपों पर अँग्रेजों का शासन था। वहाँ इन्हें खेतों खदानों में काम करवाने के लिए मजदूरों की जरूरत थी; क्योंकि गोरा साहब ऐसे निम्न-स्तर के काम कैसे कर सकता ? इसके लिए उन्होंने स्वर्ग-सुख के से सपने दिखाकर भारत और अफ्रीका से मजदूरों की भर्ती की वहाँ और ले जाकर उनसे पशुओं का-सा व्यवहार किया तथा रात-दिन काम में लगाया। भारत से गए उन मजदूरों में से अनेक उन्हीं द्वीपों में बस गए। आज उन्हीं की सन्तानें वहाँ की नागरिक हैं। परन्तु अपने पूर्वजों की जन्मभूमि और मातृभाषा—भारत तथा हिन्दी के प्रति उनका प्रबल अनुराग बना हुआ है। आर्यसमाज ने आरम्भ में अपने कुछ प्रचारक वहाँ भेजे थे, जिन्होंने वहाँ हिन्दी के पठन-पाठन को बढ़ावा दिया था। उसके बाद महात्मा गाँधी की प्रेरणा से राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ने वहाँ अपने केन्द्र स्थापित किए और हिन्दी की विभिन्न परीक्षाओं को वहाँ लोकप्रिय बनाने में

ऐतिहासिक कार्य किया। इससे इन द्वीपों में हिन्दी का प्रचार बढ़ने लगा और आज स्थिति यह है कि वहाँ हिन्दी माध्यम से शिक्षा देने वाले सैकड़ों विद्यालय हैं, हिन्दी के अनेक समाचार-पत्र प्रकाशित होते हैं, और हिन्दी की पुस्तकें भी छपती हैं।

मारीशस में तुलसी के 'रामचरित मानस' का बहुत प्रचार है। वहाँ विद्यालयों में हिन्दी पढ़ाई जाती है, 'साप्ताहिक हिन्दुस्तानी', 'साप्ताहिक जनता' और 'जमाना' (पाक्षिक) पत्र हिन्दी में प्रकाशित होते हैं। वहाँ के प्रसिद्ध साहित्यकार सोमदत्त बखोरी, अनत अभिमन्यु आदि की हिन्दी रचनाएँ वहाँ के स्थानीय पत्र-पत्रिकाओं के अतिरिक्त भारत की 'धर्मयुग', 'सारिका' जैसी पत्रिकाओं में भी प्रकाशित होती रहती हैं। मारीशस के भू० पू० प्रधानमन्त्री सर शिवसागर रामगुलाम नागपुर में हुए विश्व-हिन्दी-सम्मेलन के अध्यक्ष बनाए गए थे। इन देशों के हिन्दी-भाषियों में अपनी मातृभाषा के प्रति कितना गहरा अनुराग है, यह मारीशस के युवा साहित्यकार अनत अभिमन्यु की इन पंक्तियों में प्रकट हो रहा है—

'मेरे दोस्त !
उस भाषा में मेरे लिए
शुभ की कामना मत करो
जिसकी चुभती ध्वनि मुझे
उन गुलामी के दिनों की याद दे जाती है।
चाबुक की बौछारों का आदेश
निकलता था जिस भाषा में
उस भाषा को मेरी भाषा मत कह
मेरे दोस्त !'—

काश ! हमारे हिन्दी-भाषी काले अँग्रेज भी यही बात इसी भाषा में कह सकते।

फीजी, सूरीनाम, गुयाना आदि द्वीपों में बसे हुए हिन्दी-भाषी भी हिन्दी के प्रति अमित अनुराग रखते हैं। वहाँ हिन्दी-परीक्षाएँ खूब लोकप्रिय हैं। सूरीनाम के दर्जनों विद्यालयों में हिन्दी पढ़ाई जाती है, जिनमें राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा के पाठ्यक्रम को लागू किया गया है। गुयाना में प्रतिवर्ष लगभग सात सौ विद्यार्थी हिन्दी की विभिन्न परीक्षाओं में सम्मिलित होते हैं। इन देशों में हिन्दी पढ़ाने के लिए हिन्दी के अनेक शिक्षक भारत से भेजे जाते हैं।

यूरोप में हिन्दी की लोकप्रियता

रूस, पूर्वी जर्मनी, पश्चिमी, जर्मनी, फ्रांस, इटली, चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड, हॉलैण्ड, इंगलैण्ड, युगोस्लोविया, हंगरी आदि यूरोप के अनेक देशों में हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन का कार्य होता है। इन देशों में भारत से गए हिन्दी के अनेक अध्यापक हिन्दी पढ़ा रहे हैं। इनके अतिरिक्त इन देशों के अनेक हिन्दी-प्रेमी विद्वान् हिन्दी-भाषा, साहित्य, व्याकरण आदि के क्षेत्रों में शोध-कार्य करते हुए अपने छात्र-छात्राओं को विधिवत् हिन्दी सिखाते रहते हैं। यूरोप में रूस में हिन्दी लोकप्रिय है। वहाँ के विद्यालयों में लगभग पाँच हजार और विश्वविद्यालयों में लगभग तीन सौ रूसी छात्र-छात्राएँ हिन्दी का अध्ययन करने में संलग्न हैं। वहाँ के हिन्दी-अध्यापकों में रूसी और भारतीय दोनों हैं। पाठ्य-पुस्तकें रूसी शिक्षाशास्त्री तैयार कराते हैं। ताशकन्द (दक्षिणी रूस का एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक नगर) के एक विद्यालय में हिन्दी की पढ़ाई दूसरी कक्षा से आरम्भ की जाती है। आठवीं कक्षा से हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्य-कारों की रचनाएँ पढ़ाई जाने लगती हैं। रूस में आज हिन्दी के इतने और ऐसे रूसी विद्वान हैं जो हिन्दी के विश्वविद्यालय स्तर तक के अध्यापन का कार्य स्वयं करते हैं। उन लोगों ने 'रूसी-हिन्दी' और 'हिन्दी-रूसी शब्दकोश', व्याकरण आदि विभिन्न प्रकार की पुस्तकें लिखीं और प्रकाशित की हैं। रूस के प्रसिद्ध हिन्दी विद्वान पी० ए० वरान्निकोव ने तुलसी के 'रामचरितमानस' का रूसी-भाषा में सुन्दर अनुवाद किया था। आज भी दुशांवे जैसे विद्वान् तुलसी-साहित्य का अध्ययन करने में व्यस्त हैं। इनके अतिरिक्त यूरोत्वेस्तकोव, एन० साजोनोव, चेतराना, ए० ए० वरान्निकोव, चर्नाशेव, चेलिशेव आदि ऐसे रूसी विद्वान हैं जो हिन्दी-भाषा और साहित्य के विभिन्न अंगों पर शोध-कार्य कर रहे हैं और इन्होंने हिन्दी में अनेक ग्रन्थों की रचना की है। इसके अतिरिक्त हिन्दी के प्रेमचन्द, प्रसाद, निराला, पन्त, यशपाल, दिनकर, जैनेन्द्र आदि अनेक साहित्यकारों की प्रसिद्ध रचनाओं का रूसी-भाषा में अनुवाद किया जा चुका है। रूस में ऐसे अनेक पुस्तकालय हैं जिनमें 'पृथ्वीराज रासो' से लेकर हिन्दी की आधुनिकतम पुस्तकें उपलब्ध हैं। रूसी लोग हिन्दी-भाषियों से हिन्दी में ही बातें करना पसन्द करते हैं।

चेकोस्लोवाकिया भी यूरोप में हिन्दी का एक प्रधान गढ़ है। वहाँ के प्राहा (जिसे अँग्रेजी बोलने वाले 'प्राग' कहते हैं) विश्वविद्यालय में हिन्दी के

अध्ययन-अध्यापन की सुचारु व्यवस्था है। वहाँ के डा० स्मेकल वहाँ हिन्दी अध्यापन का कार्य करते हैं और उन्होंने हिन्दी में साहित्य, व्याकरण आदि सम्बन्धी अनेक पुस्तकें लिखी हैं। इसी प्रकार पोलैण्ड, युगोस्लाविया, हंगरी, हालैण्ड आदि में भी हिन्दी का विधिवत् अध्ययन-अध्यापन करने की प्रवृत्ति को निरन्तर प्रोत्साहित किया जाता है। इंग्लैण्ड का भारत से पुराना और घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। वहाँ बहुत समय से कुछ अँग्रेज-विद्वान हिन्दी का अध्ययन करते रहे हैं। पादरी पिंकाट ने तो उन्नीसवीं सदी के अन्त तक हिन्दी में महारत हासिल कर ली थी और हिन्दी में अनेक निबन्ध और पुस्तकें लिखीं थीं, यद्यपि वे भारत कभी नहीं आए थे। आज भी इंग्लैण्ड में हिन्दी का पठन-पाठन हो रहा है, परन्तु वहाँ हिन्दी पढ़ाने वाले अधिकांश अध्यापक भारतीय ही हैं। अँग्रेज और उनकी सरकार के मन में आज भी भारत और हिन्दी के प्रति द्वेष और उपेक्षा की भावना है। फिर भी वहाँ हिन्दी का अध्ययन हो रहा है। कैम्ब्रिज के एफ० ए० आलोचन ने 'विनय-पत्रिका' और 'कवितावली' पर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। अन्य कुछ अँग्रेज विद्वान भी हिन्दी का अध्ययन कर रहे हैं।

दोनों जर्मन राज्यों में हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन के प्रति विशेष अभि-रुचि मिलती है। फ्रांस में भी हिन्दी पढ़ाई जाती है। वहाँ व्याकरण के सरल पाठ, उच्चतर पाठ्य-पुस्तकें तथा फ्रांसीसी से हिन्दी में और हिन्दी से फ्रांसीसी में अनुवाद होते रहते हैं। कबीर की चुनी हुई कविताओं का फ्रांसीसी भाषा में अनुवाद हो चुका है और 'गोदान' तथा 'कामायनी' का अनुवाद हो रहा है। इटली में भी हिन्दी के अध्ययन की सुचारु व्यवस्था है। इतावली भाषा में हिन्दी के कुछ प्राचीन साहित्य तथा प्रेमचन्द की कुछ कहानियों का अनुवाद हो चुका है।

अमेरिका महाद्वीप में हिन्दी

उत्तरी अमेरिका के संयुक्त राज्य अमेरिका और मेक्सिको में हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन की सुचारु व्यवस्था है। संयुक्त राज्य अमेरिका के दर्जनों विश्व-विद्यालयों में हिन्दी पढ़ाई जाती है। वहाँ के कई विश्वविद्यालयों में हिन्दी-सम्बन्धी कई शोध-केन्द्र भी खुले हुए हैं। वहाँ हिन्दी भाषा और साहित्य को एक विषय के रूप में पढ़ाया जाता है। वहाँ शोध-कार्य भी होता है और

काक्टरेट की डिग्रियाँ प्रदान की जाती हैं। वहाँ अनेक भारतीय अध्यापक हिन्दी पढ़ाने के कार्य में संलग्न हैं। मेक्सिको में भी हिन्दी का अध्ययन-अध्यापन काफी लोकप्रिय है। अभी दक्षिण अमेरिका में हिन्दी प्रवेश नहीं पा सकी है। परन्तु निकट भविष्य में इसके प्रवेश पाने की सम्भावना है।

एशिया महाद्वीप और हिन्दी

एशिया में जापान, बर्मा, दक्षिणी कोरिया, उत्तरी कोरिया, श्रीलंका, नेपाल आदि देशों में हिन्दी का अध्ययन-अध्यापन हो रहा है। जापान के पाँच विश्वविद्यालयों में हिन्दी-शिक्षण का प्रबन्ध है। वहाँ से प्रतिवर्ष अनेक जापानी छात्र भारत में हिन्दी सीखने के लिए आते हैं। जापान में अँग्रेजी की अपेक्षा हिन्दी जानने वालों की संख्या अधिक है। कुछ जापानी लेखकों ने बाल-उपन्यास, कहानियाँ, निबन्ध आदि लिखे हैं जो भारतीय पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। जापानी भाषा में प्रेमचन्द के 'गोदान' तथा उनकी कुछ कहानियों के अनुवाद हुए हैं। जायसी के 'पद्मावत' पर हिन्दी में एक जापानी विद्वान का शोध-प्रबन्ध भी प्रकाशित हो चुका है। बर्मा में द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व हिन्दी एक लोकप्रिय भाषा थी; परन्तु उसके बाद भारतीयों के वहाँ से भारत चले आने पर वहाँ हिन्दी की लोकप्रियता कम होती चली गई। फिर भी वहाँ आज थोड़ा-बहुत हिन्दी का प्रचलन पाया जाता है। वहाँ 'स्वतन्त्र भारत', 'बर्मा समाचार' जैसे हिन्दी के समाचार पत्र प्रकाशित होते हैं। रंगून के 'मारवाड़ी पुस्तकालय' में हिन्दी की हजारों पुस्तकें हैं। श्रीलंका के दो विश्वविद्यालयों में हिन्दी-शिक्षण की व्यवस्था है। श्रीलंका विश्वविद्यालय में हिन्दी का विभाग खोला गया है। वहाँ की 'हिन्दी प्रचार सभा' नामक संस्था हिन्दी-प्रचार का कार्य करने में संलग्न है। नेपाल की भाषा नेपाली है, जो देवनागरी लिपि में लिखी जाती है। नेपाल में हिन्दी बहुत लोकप्रिय है। वहाँ के विश्वविद्यालय में एम० ए० स्तर तक हिन्दी पढ़ाई जाती है। नेपाल के अनेक कवियों ने हिन्दी में बहुत सुन्दर कविताएँ लिखी हैं। नेपाल में राजनीतिक कारणों से भले ही हिन्दी को विदेशी भाषा माना जाता हो परन्तु वहाँ हिन्दी के प्रति द्वेष न होकर अपनत्व की भावना ही अधिक मिलती है।

उपर्युक्त देशों के अतिरिक्त अफगानिस्तान, डेनमार्क, चीन, ईरान, आस्ट्रेलिया, बेल्जियम आदि देशों में हिन्दी-शिक्षण की व्यवस्था तो है परन्तु वहाँ हिन्दी लोकप्रिय नहीं बन पाई हैं। दक्षिण कोरिया में हिन्दी की पढ़ाई आरम्भ

हुए अभी छह-सात वर्ष ही बीते हैं, परन्तु वहाँ लगभग साठ छात्र-छात्राएँ हिन्दी पढ़ने में व्यस्त हैं। वहाँ के छात्रों में हिन्दी सीखने के प्रति अधिक उत्साह पाया जाता है। भारतीय नृत्य, नाट्य और संगीत के प्रति भी वहाँ विशेष अभिरुचि मिलती है। उत्तरी कोरिया में भी हिन्दी को ऐसी ही लोक-प्रियता प्राप्त है।

विश्लेषण

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी-भाषा और उसका साहित्य संसार के विभिन्न प्रमुख देशों में अध्ययन अध्यापन का विषय बने हुए हैं। विभिन्न देशों में हिन्दी का अध्ययन दो कारणों से किया जा रहा है। विश्व के भाषा-शास्त्री भारतीय भाषाओं में हिन्दी को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं; इसी कारण भाषा-शास्त्र की दृष्टि से उसका अध्ययन और विश्लेषण करते हैं। विदेशों में हिन्दी के साथ ही उसकी विभिन्न विभाषाओं और बोलियों का अध्ययन करने की प्रवृत्ति भी बढ़ रही है। और यह सारा काम हिन्दी को बिना जाने नहीं हो सकता, इसी कारण उन देशों में हिन्दी पढ़ी और पढ़ाई जाती है। दूसरा कारण है, कुछ देशों का भारत के प्रति आकर्षण। वहाँ के लोग भारत के इतिहास, संस्कृति और सभ्यता का अध्ययन करना चाहते हैं, और इसके लिए हिन्दी भाषा और उसके साहित्य को एक प्रमुख साधन मानते हैं। साथ ही हिन्दी के माध्यम से भारतीयों के साथ सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के इच्छुक हैं। यह प्रवृत्ति यूरोप के रूस आदि साम्यवादी देशों में अधिक मिलती है। इसी कारण उन देशों में हिन्दी के प्रति विशेष अभिरुचि जाग्रत हुई है और वहाँ हिन्दी के पठन-पाठन की विशेष व्यवस्था की गई है। विदेशों के लोग अँग्रेजी को भारत की सम्पर्क भाषा न मान हिन्दी को ही मानते हैं। विदेशों में हिन्दी का प्रचार और भी अधिक बढ़ सकता है, यदि हमारे विदेशों में स्थिति दूतावास अँग्रेजी के स्थान पर हिन्दी का व्यवहार करना आरम्भ कर दें। परन्तु स्थिति यह है कि हमारे विदेश स्थित दूतावासों के कर्मचारी और अधिकारी हिन्दी का व्यवहार करना गँवारपन समझते हैं, इसलिए विदेश स्थित भारतीयों से भी अँग्रेजी में ही व्यवहार करते है। और उनके इस कार्य के लिए उन्हें विदेशों में अच्छी निगाह से नहीं देखा जाता। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने अपने भारतीय दूतावासों

को कई बार इस बात के लिए सावधान किया था कि वे विदेशियों से हिन्दी में वार्ता और व्यवहार करें। इसके लिए दुभाषियों की सहायता ली जा सकती है। परन्तु हमारे विदेश-विभाग तथा उसके अँग्रेजी-भक्त नौकरशाह अधिकारियों ने इस सुझाव की रंचमात्र भी परवाह नहीं की और हमारे दूतावासों में अँग्रेजी का ही धड़ल्ले से प्रयोग होता रहा और आज भी हो रहा है, जो चिन्ताजनक और अपमानजनक दोनों ही है।

इसके लिए हमारा एक सुझाव है। जिस प्रकार आज भारत में अँग्रेजी का वर्चस्व कायम है और वह यहाँ उच्च-शिक्षा तथा सरकारी काम-काज की भाषा बनी हुई है, उसने अधिकांश भारतीयों के मन में यह भ्रम उत्पन्न कर दिया है कि विश्व में अँग्रेजी ही एकमात्र ऐसी भाषा है जिसकी सहायता से सारे विश्व के साथ सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है। अर्थात् अँग्रेजी एकमात्र विश्व-भाषा है। इस भ्रम को बढ़ाने और पालने वाले लोग शायद इस बात को नहीं जानते अँग्रेजी के मूल देश इंगलैण्ड से चलकर, बीस-पच्चीस मील चौड़ी 'इंगलैण्ड चैनल' को पार कर जब कोई व्यक्ति फ्रांस की धरती पर कदम रखता है तो उसे वहाँ अँग्रेजी बोलने-समझने वाले व्यक्ति बहुत ढूँढ़ने पर भी मुश्किल से मिलते हैं। अर्थात् अँग्रेजी यूरोप तक की सम्पर्क-भाषा नहीं है तो विश्व की कैसे हो सकती है? इस सत्य को भारत के अँग्रेजी-प्रेमियों को कौन समझाए? भारत में होना तो यह चाहिए कि यहाँ अँग्रेजी का वर्चस्व समाप्त कर उसे एक विदेशी वैकल्पिक भाषा के समान ही पढ़ाया जाय। साथ ही रूसी, फ्रांसीसी, जर्मन, इतालवी, जापानी, चेक, चीनी, इण्डोनेशियायी, मलेशियायी आदि विभिन्न विदेशी भाषाओं का अध्ययन करने की सुचारु व्यवस्था कर हमारे छात्र-छात्राओं में इन भाषाओं के प्रति अभिरुचि उत्पन्न करनी चाहिए। क्योंकि यदि हमारे किसी विद्यार्थी को किसी विषय-विशेष का उच्चस्तरीय अध्ययन करने के लिए रूस, जर्मन या जापान जाना पड़े, तो वह वहाँ किस भाषा से अपना काम चलायेगा? अँग्रेजी से तो सब जगह काम नहीं चल सकता। किसी देश-विदेश में तो वहीं की भाषा के माध्यम से ही काम चलाना सम्भव होगा।

भारत में ऐसा प्रबन्ध हो जाने से हिन्दी-भाषी छात्र अन्य विदेशी भाषाओं का अध्ययन करने में रुचि लेने लगेंगे। विदेशी भाषाओं के शिक्षक भारत में अपनी-अपनी भाषाएँ पढ़ाने के लिए आयेंगे, जैसे कि अनेक रूसी विद्वान भारत

के विभिन्न विश्वविद्यालयों में आजकल रूसी-भाषा पढ़ा रहे हैं। इस प्रकार विश्व के विभिन्न भाषा-भाषी देशों के साथ हमारा भाषागत-सम्बन्ध बढ़ेगा और साथ ही हमारे उनके साथ सांस्कृतिक और भाईचारे के सम्बन्ध बढ़ते चले जायेंगे, जो पारस्परिक भ्रान्ति, विद्वेष, तनाव आदि के स्थान पर पारस्परिक सौमनस्य का वातावरण उत्पन्न करने में सहायता करेंगे। परन्तु यह सारा कार्य तभी सफल हो सकता है, जब हमारी सरकारी तथा विभिन्न शिक्षा-संस्थाएँ इसके प्रति रुचि दिखाएँ। अस्तु,

हिन्दी और भारत के अहिन्दी-भाषी

यहाँ तक हम विश्व के विभिन्न देशों में हिन्दी की स्थिति और लोकप्रियता का आकलन कर चुके। अब हमें यह देखना है कि भारत में हिन्दी की क्या स्थिति है। भारत बहुभाषा-भाषी देश है। जहाँ कम-से-कम चौदह-पन्द्रह ऐसी भाषाएँ हैं जो पर्याप्त समृद्ध और शक्ति की स्वामिनी हैं। यद्यपि संविधान के अनुसार हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा अथवा सम्पर्क भाषा घोषित किया जा चुका है, फिर भी अभी तक, व्यावहारिक रूप से अँग्रेजी ही देश की राष्ट्र भाषा बनी हुई है और कुछ राज्यों में अँग्रेजी का समर्थन और हिन्दी का विरोध किया जाता रहा है। हम यहाँ इसके कारणों पर प्रकाश नहीं डालेंगे, क्योंकि हम अपने एक पिछले निबन्ध में इन कारणों का विस्तार के साथ विवेचन कर आए हैं। यहाँ हम केवल यह दिखाने का प्रयास करेंगे कि भारत के अहिन्दी-भाषी राज्यों में हिन्दी की क्या स्थिति है? क्या उन राज्यों की जनता हिन्दी से घृणा करती है, अथवा इस बात से आशंकित है कि हिन्दी का तथाकथित साम्राज्यवाद उनकी अपनी भाषाओं को खा जायेगा? क्या अहिन्दी-भाषी राज्यों के साहित्यकार हिन्दी को अपनाने में हिचकिचाते हैं, आदि, आदि।

हिन्दी का प्रचार : दो माध्यम

राष्ट्रीय स्तर पर भारत में हिन्दी का प्रचार दो माध्यमों द्वारा हो रहा है। पहला माध्यम है--- सरकार द्वारा किया जा रहा प्रचार। जैसे, विभिन्न केन्द्रीय मन्त्रालयों में हिन्दी का अधिकाधिक व्यवहार करने को प्रोत्साहन दिया जा रहा है। रेल, डाक-तार आदि विभागों में हिन्दी का व्यवहार बड़ी मात्रा में होने लगा है। केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय हिन्दी के विभिन्न विषयों से सम्बन्धित पारिभाषिक कोश तैयार करने में, सरकारी काम-काज में हिन्दी

को अधिक लोकप्रिय और व्यावहारिक रूप प्रदान करने में प्रयत्नशील है। देश के राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री, गृहमन्त्री तथा अन्य उच्च पदस्थ अधिकारीगण हिन्दी को अपनाने का आग्रह करते रहते हैं। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार ने देश में कई ऐसे केन्द्रीय हिन्दी-संस्थानों की स्थापना की है, जिनमें भारत के अहिन्दी-भाषी राज्यों के सैकड़ों शिक्षक-छात्र प्रतिवर्ष अध्ययन करने आते हैं। इनमें हिन्दी के माध्यम से शिक्षण-कार्य करने का शिक्षण प्राप्त कर ये विद्यार्थी अपने-अपने राज्यों में लौट जाते हैं और वहाँ हिन्दी पढ़ाने में लगे रहते हैं। इनमें से एक विद्यालय आगरा में और दूसरा दिल्ली में कार्य कर रहा है। इन विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करने के लिए उन राज्यों से भी छात्र-छात्राएँ आते हैं, जिन्हें हिन्दी का कट्टर विरोधी माना जाता है; जैसे—तामिलनाडु, बंगाल, नागालैंड, मेघालय आदि राज्य। यदि इन राज्यों की जनता हिन्दी की विरोधी होती तो वहाँ से इतने शिक्षार्थी हिन्दी पढ़ने यहाँ क्यों आते ?

हिन्दी प्रचारक संस्थाएँ

भारत के लगभग प्रत्येक राज्य में एक या अधिक ऐसी संस्थाएँ हिन्दी का प्रचार कर रही हैं जो अपने राज्य के लोगों को हिन्दी सिखाती हैं तथा हिन्दी को लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न कर रही हैं। यहाँ तक कि हिन्दी के कट्टर विरोधी माने जाने वाले तमिलनाडु में 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास' बहुत दिनों से हिन्दी-प्रचार्य का कार्य कर रही है, जिसकी परीक्षाओं में प्रति वर्ष हजारों छात्र-छात्राएँ बैठते हैं। नागालैंड में जिसने अपनी राज्यभाषा अंग्रेजी घोषित कर रखी है, हिन्दी-प्रचार का कार्य सरकार द्वारा किया जा रहा है। प्रत्येक राज्य की स्थानीय संस्थाओं के अतिरिक्त कुछ संस्थाएँ अखिल भारतीय स्तर की संस्थाएँ हैं। ये संस्थाएँ हिन्दी की परीक्षाएँ आयोजित करती हैं, साथ ही हिन्दी के श्रेष्ठ और उपयोगी साहित्य का प्रकाशन भी करती रहती हैं। ऐसी प्रमुख संस्थाएँ इस प्रकार हैं—

(१) **राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा**—इसकी शाखाएँ भारत के प्रत्येक राज्य में स्थापित हैं, साथ ही विदेशों में इसकी अनेक शाखाएँ हैं, जो समिति द्वारा आयोजित परीक्षाओं की व्यवस्था तथा तथा हिन्दी-प्रचार का कार्य करती रहती हैं। इस समिति की स्थापना महात्मा गाँधी की प्रेरणा से की गई थी।

(२) **हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग**—इस संस्था का प्रधान कार्य हिन्दी की विभिन्न परीक्षाएँ आयोजित करना है। इसकी 'साहित्यरत्न', 'विशारद'

आदि उपाधियों को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है । इस संस्था ने देश-विदेश में हिन्दी को लोकप्रिय बनाने में ऐतिहासिक महत्व की भूमिका अदा की है । इसकी मासिक-पत्रिका में 'सम्मेलन पत्रिका' किसी समय हिन्दी की प्रमुख पत्रिका मानी जाती थी ।

(३) **हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद**—इसका कार्य-क्षेत्र आन्ध्र, कर्नाटक और महाराष्ट्र हैं । हिन्दी का प्रचार-प्रसार और साहित्य-निर्माण तथा उसका प्रकाशन इस संस्था के प्रमुख उद्देश्य हैं । इसके लगभग पाँच केन्द्रों में हिन्दी-शिक्षण की व्यवस्था है । इसने कुछ परीक्षाएँ भी चला रखी हैं ।

(४) **महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा, पुणे**—यह सम्पूर्ण महाराष्ट्र में हिन्दी प्रचार का कार्य करती है । यह सभा हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी को एक भाषा तथा देवनागरी और अरबी लिपि को उसकी लिपियाँ मानती है । यह राष्ट्रभाषा की परीक्षाएँ भी आयोजित करती है । इसके अतिरिक्त हिन्दी-शिक्षण, पुस्तक-प्रकाशन, पुस्तकालयों और विद्यालयों का आयोजन, इस संस्था के प्रधान कार्य हैं ।

(५) **असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति**—यह समिति असम, मणिपुर, त्रिपुरा, मेघालय, अरुणाचल, नागालैण्ड और मिजोरम में हिन्दी प्रचार का कार्य करती है । यह हिन्दी की परीक्षाएँ भी आयोजित करती है, जिसके लगभग पाँच सौ परीक्षा-केन्द्र भारत के इस सम्पूर्ण पूर्वी प्रदेश में फैले हुए हैं । इसकी परीक्षाओं में प्रतिवर्ष लगभग पेंतीस हजार छात्र-छात्राएँ शामिल होते हैं । इसका अपना विशाल पुस्तकालय और प्रकाशन-विभाग है । इसकी अनेक परीक्षाओं को केन्द्रीय सरकार द्वारा मान्यता मिली हुई है ।

(६) **केरल हिन्दी प्रचार सभा**—यह केरल में हिन्दी की परीक्षाएँ आयोजित करती है । साथ ही हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन भी करती है । इसके अपने विद्यालय और परीक्षा-केन्द्र हैं ।

(७) **अखिल भारतीय हिन्दी संस्था संघ, दिल्ली**—यह भारत-सरकार के शिक्षा-मंत्रालय द्वारा संचालित संस्था है । इसका मूल उद्देश्य सम्पूर्ण भारत में हिन्दी का प्रचार-प्रसार करना तथा हिन्दी प्रचारक विभिन्न संस्थाओं में पारस्परिक सहयोग और समन्वय स्थापित करना है । इसने इन संस्थाओं के लिए एक आदर्श पाठ्यक्रम भी बनाया है । यह समय-समय पर हिन्दी का प्रचार

करने के सम्बन्ध में हिन्दी एवं अहिन्दी-भाषी विद्वानों की संगोष्ठियाँ भी आयोजित करती रहती है। हिन्दी को आगे बढ़ाना इसका मूल उद्देश्य है।

(८) **दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास**—इसकी स्थापना सन् १९१८ में गाँधीजी की प्रेरणा से की गई थी। गाँधीजी इसके आजीवन अध्यक्ष रहे थे। यह संस्था सम्पूर्ण अहिन्दी-भाषी दक्षिण भारत में हिन्दी का प्रचार बड़ी निष्ठा के साथ करती आ रही है। यह अपनी परीक्षाएँ चलाती है, प्रकाशन करती है; इसके अपने विद्यालय, परीक्षा-केन्द्र और पुस्तकालय हैं। सभा के विश्वविद्यालय विभाग में स्नाकोत्तर अध्ययन तथा अनुसन्धान विभाग हैं, जहाँ एम० ए०, पारंगत की शिक्षा और अनुसन्धान कार्य होता है। 'हिन्दी प्रचार समाचार' इस संस्था का अधिकृत मुखपत्र है। हिन्दी-प्रचार की दृष्टि से इस संस्था का महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक स्थान रहा है।

(९) **नागरी प्रचारिणी सभा, काशी**—यह सभा देश की हिन्दी की अत्यधिक महत्त्वपूर्ण संस्था है। इसका हिन्दी-ग्रन्थों का पुस्तकालय भारत का सबसे बड़ा हिन्दी-पुस्तकालय माना जाता है। यह संस्था प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, उनके सम्पादन-प्रकाशन, हिन्दी के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन आदि कार्य करती रहती है। इसने 'हिन्दी विश्व कोश' 'हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास', 'हिन्दी शब्द सागर' आदि हिन्दी के अमूल्य ग्रन्थ प्रकाशित किए हैं। संक्षेप में, भारतेन्दु-युग के अनन्तर हिन्दी-साहित्य की जितनी भी उल्लेखनीय प्रवृत्तियाँ रही हैं, उन सबके निगमन, नियन्त्रण, संचालन में इसका महत्त्वपूर्ण योग रहा है।

(१०) **बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्**—इसके प्रकाशन, लोक-भाषा-अनुसंधान, प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ-शोध, साहित्यिक इतिहास, शब्दकोश, अनुसंधान पुस्तकालय आदि अनेक विभाग हैं। हिन्दी के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के प्रकाशन की दृष्टि से इस संस्था को भारत की अग्रणी संस्थाओं में स्थान प्राप्त है।

(११) **केन्द्रीय सचिवालय हिन्दी परिषद्**—इसका गठन केन्द्रीय सरकारी कर्मचारियों में हिन्दी-भाषा और साहित्य के प्रति अभिरुचि उत्पन्न करने के लिए किया गया है। देश में इसकी अनेक शाखाएँ हैं।

(१२) **केन्द्रीय हिन्दी संस्थान आगरा**—आरम्भ में इसकी स्थापना सन् १९५२-५३ में एक अखिल भारतीय विद्यालय के रूप में की गई थी। उस समय इसकी कक्षाएँ नागरी प्रचारिणी सभा आगरा में चला करती थीं। बाद

में, इसकी राष्ट्रीय उपयोगिता का अनुभव कर, भारत-सरकार ने इसे अपने संरक्षण में ले लिया। आज यह संस्थान एक विशाल रूप में अहिन्दी-भाषी राज्यों के शिक्षक छात्र-छात्राओं को हिन्दी की शिक्षा देने में संलग्न है। इसमें हिन्दी भाषा और साहित्य सम्बन्धी उच्च अध्ययन, हिन्दी-शिक्षण की वैज्ञानिक प्रणाली, शिक्षा-विज्ञान का विकास अनुसंधान, हिन्दी और अन्य भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन आदि कार्य होते रहते हैं। इसका अपना प्रकाशन विभाग है। वस्तुत: यह संस्थान एक दृष्टि में सम्पूर्ण भारत का एक मोहक रूप प्रस्तुत कर देता है। अपनी-अपनी वेशभूषा, वर्ण तथा चालढाल वाले भारत के हर राज्य के छात्र-छात्राओं को एक ही समय, एक ही स्थान पर, एकत्रित देख मन एक सुखद और रोमांचक अनुभूति में डूब जाता है।

अन्य हिन्दी प्रचारक संस्थाएँ

उपर्युक्त हिन्दी-प्रचारक संस्थाओं के अतिरिक्त भी देश के विभिन्न भागों में अन्य अनेक हिन्दी-प्रचारक संस्थाएँ काम कर रही हैं, जिनका कार्य और महत्त्व इन संस्थाओं से किसी भी रूप में कम नहीं है, परन्तु यहाँ हम स्थानाभाव के कारण उनका विस्तृत परिचय न दे पाकर उनका केवल नामोल्लेख करके ही उनके प्रति राष्ट्र की कृतज्ञता व्यक्त करना चाहेंगे। ये संस्थाएँ निम्नलिखित हैं—

१. गुजरात हिन्दी प्रचार समिति, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, २. हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, बम्बई, ३. हिन्दी विद्यापीठ, देवघर, ४. बम्बई हिन्दी विद्यापीठ, ५. मैसूर रियासत हिन्दी प्रचार समिति बैंगलौर, ६. मैसूर हिन्दी प्रचार परिषद्, बैंगलौर, ७. कर्नाटक महिला हिन्दी सेवा समिति, बैंगलौर, ८. मणिपुर हिन्दी परिषद्, इम्फाल, ९. सौरभ हिन्दी प्रचार समिति राजकोट, १०. नागालैंड भाषा-परिषद्, कोहिमा, ११. राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, श्रीनगर (कश्मीर राज्य), १२. गोवा राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, मडगाँव, १३. बंगाल प्रान्तीय राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, कलकत्ता, १४. असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, गौहाटी आदि। इनमें से कई राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा की प्रान्तीय शाखाएँ हैं।

हिन्दी का प्रचार करने वाली उपर्युक्त संस्थाओं का यह संक्षिप्त परिचय सिद्ध कर देता है कि भारत ने मानसिक रूप से हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में आजादी के बहुत पहले से ही स्वीकार कर लिया था। यदि हिन्दी को इतने

विशाल पैमाने पर राष्ट्र की यह स्वीकृति न मिली होती, तो देश के कोने-कोने में छाई ये हिन्दी-प्रचारक संस्थायें पहले तो अस्तित्त्व में ही नहीं आ पातीं और यदि अस्तित्त्व में आ जातीं तो उन्हें अकाल मृत्यु की यंत्रणा झेलनी पड़ती। हिन्दी-विरोधी तथाकथित राज्यों के कुछ नेता भले ही सभामंचों से हिन्दी का विरोध करते रहे हों, परन्तु किसी भी राज्य की जनता ने हिन्दी का विरोध नहीं किया। और यदि कभी किया भी था तो स्वार्थी राजनेताओं के कुटिल षड्यन्त्रों के जाल में फँस अचेतन रूप से ही किया था। इससे यह सिद्ध होता है कि हिन्दी भारत के जन-मानस द्वारा स्वीकृत देश की राष्ट्रभाषा है। इसका संघर्ष केवल अँग्रेजी से है, और वह बराबर जारी रहेगा जब तक कि अँग्रेजी का द्वितीय राष्ट्र-भाषा का रूप समाप्त नहीं हो जाता।

समष्टि रूप से हिन्दी भारत की एक ऐसी भाषा है जिसे अड़सठ करोड़ जन संख्या वाले भारत की लगभग आधी जनसंख्या अर्थात् लगभग पैंतीस करोड़ लोग जानते समझते और बोलते हैं। इसके अतिरिक्त विश्व के अनेक देशों में रहने वाले भारतीय मूल के लोग तथा असंख्य विदेशी भी इसे जानते और पढ़ते-लिखते हैं। जनसंख्या की दृष्टि से विश्व की प्रमुख भाषाओं में हिन्दी की स्थिति इस प्रकार है—चीनी ६० करोड़, अँग्रेजी ३३ करोड़, हिन्दी ३२ करोड़ रूसी २० करोड़, स्पेनिश १८ करोड़ और अरबी १० करोड़। इस प्रकार जन-संख्या की दृष्टि से हिन्दी विश्व की तीसरी भाषा है। इतनी विशाल जनसंख्या वाली हिन्दी को संयुक्त राष्ट्र संघ की एक मान्य भाषा होने का पद और गौरव प्राप्त नहीं हो सका, जबकि 10 करोड़ की जन संख्या वाली अरबी भाषा संयुक्त राष्ट्र संघ की एक भाषा स्वीकृत हो चुकी है। इसकी जिम्मेदारी किस पर है? निश्चित रूप से हमारी भारत सरकार पर। अँग्रेजी प्रेमी हमारी भारत सरकार ने कभी यह प्रयत्न ही नहीं किया कि भारत की स्वीकृत राष्ट्र-भाषा हिन्दी को भारत से बाहर विदेशों में अथवा संयुक्त राष्ट्र संघ में कोई स्थान या महत्त्व मिले। उसका काम तो अँग्रेजी से चल ही जाता है, इसलिए हिन्दी को राष्ट्र संघ की भाषा बनाने का प्रयत्न क्यों किया जाय! दूसरी बात यह है कि हिन्दी को यह स्थान मिल जाने पर कुछ अहिन्दी-भाषी भारतीय भारत सरकार से नाराज हो जायेंगे। फिर सरकार का काम कैसे चलेगा?

परन्तु हमें देखना यह है कि क्या हिन्दी सचमुच विश्व-भाषा बनने योग्य

है। केवल विशाल जनसंख्या ही किसी भाषा को विश्व-भाषा का गौरवमय पद प्रदान करने में समर्थ नहीं होती है। यह पद प्राप्त करने के लिए किसी भाषा में कुछ अन्य गुणों और विशेषताओं का होना भी आवश्यक है। श्रीमती कमला रत्नम् ने इसी दृष्टि से विश्व-भाषा के रूप में हिन्दी का मूल्यांकन करते हुए उस पर विचार किया है। उनके अनुसार निम्नलिखित विशेषताएँ हिन्दी को विश्वभाषा की योग्यता प्रदान करती हैं—

(१) भौगोलिक आधार पर हिन्दी विश्वभाषा है, क्योंकि इसके बोलने-समझने वाले संसार के सब महाद्वीपों में फैले हैं।

(२) जनतान्त्रिक आधार पर हिन्दी विश्वभाषा है, क्योंकि उसके बोलने समझने वालों की जनसंख्या संसार में तीसरी है।

(३) एशियायी संस्कृति में अपनी विशिष्ट भूमिका के कारण हिन्दी इतर एशियायी भाषाओं से अधिक एशिया की प्रतिनिधि भाषा है। अफगानिस्तान ईरान, फारस की खाड़ी के तटवर्ती देश, श्रीलंका, बर्मा और दक्षिण-पूर्व एशिया के सभी देशों में बसे भारतवासियों के कारण हिन्दी का उपयोग और प्रचलन बहुत अधिक है।

(४) भारत के पड़ोसी स्वतन्त्र राष्ट्र नेपाल, भूटान और सिक्किम में हिन्दी अच्छी तरह बोली और समझी जाती है।

(५) हिन्दी फिल्में संसार के लगभग सभी देशों में दिखाई जाती हैं और लोकप्रिय हो रही हैं। पश्चिम-एशिया और अफ्रीका के देशों में तो इनकी बहुत माँग है। हिन्दी-फिल्में विश्व में हिन्दी-प्रचार का बहुत बड़ा साधन बन सकती हैं। पश्चिम में हिन्दू-धर्म और योग-संस्कृति की लोकप्रियता के कारण भी हिन्दी का प्रचार बढ़ सकता है।

(६) भाषा की दृष्टि से हिन्दी सरल, सुगम और बोधगम्य है। इसका अपना सुनिश्चित और वैज्ञानिक व्याकरण है। साहित्यिक उपलब्धियों में यह विश्व की प्रमुख भाषाओं के समकक्ष है। आधुनिक युग में इसमें बड़ी संख्या में साहित्य लिखा जा रहा है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता इसकी परम वैज्ञानिक एवं सुन्दर लिपि तथा वाक्य-विन्यास शैली है जो इसे अनेक भारोपीय भाषाओं के निकट ले जाती है।

(७) हिन्दी भारत और एशिया के मानस और समस्याओं को समझने का सक्षम साधन है।

(८) हिन्दी का विश्वभाषा होने का सर्वाधिक समर्थ गुण उसका संस्कृत से सम्बन्धित होना है जिसके कारण उसके विकास और परिष्कार की सीमाएँ अपरिमित हैं। संस्कृत की सहायता से हिन्दी में आवश्यकतानुसार चाहे जितने नए शब्द बनाए जा सकते हैं।

(९) हिन्दी स्वयं में अपने भीतर एक अन्तरराष्ट्रीय जगत को छिपाए हुए है। हिन्दी में आर्य, द्रविड़, आदिवासी, स्पेनी, पुर्तगाली, जर्मन, फ्रांसीसी, अँग्रेजी, अरबी, फारसी, तुर्की, चीनी, जापानी आदि सारे संसार की भाषाओं के शब्द इसकी अन्तरराष्ट्रीय मैत्री एवं 'वसुधैव कुटुम्बकम्' वाली प्रवृत्ति को उजागर करते हैं।

हिन्दी की उपर्युक्त विशेषताओं का उद्घाटन और विवेचन करने के अनन्तर श्रीमती कमला रत्नम् उपसंहार के रूप में आगे लिखती हैं—

"यदि ऊपर की सभी बातों को नकार दिया जाये तो भी हिन्दी भारतीय दर्शन के विश्वमान्य सिद्धान्त सत्य-प्रेम-अहिंसा, विश्व-करुणा, विश्व-मैत्री और विश्व-मानवता जैसे सर्वकल्याणकारी सिद्धान्तों की वाहिका होने के कारण विश्व स्तर पर प्रतिष्ठित होनी चाहिए। इन सब गुणों के रहते यदि हिन्दी विश्व-भाषा न हो सके तो यह कमजोरी उसकी न होकर उसके बोलने वालों की है। हमारा प्राचीन इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब तक संस्कृत भारत की शासकीय भाषा रही, देश-विदेश में उसका प्रभुत्व और प्रभाव फैला। दूसरे दृष्टिकोण से हिन्दी की हीन-भावना का एक कारण उसका विश्वभाषा न होना है। विश्व में सम्मानित भाषा के बोलने वालों का आत्म-बल बहुत बढ़ जाता है, उनमें आत्म-सम्मान और आत्म-विश्वास की ऊर्जा आ जाती है, जिसके जोश में वह कभी-कभी असम्भव दीखने वाले कार्यों को भी आसानी से कर लेते हैं। भारत में एक दोष यह भी है कि यहाँ अपने गुणों की पूछ तब तक नहीं होती जब तक वे विदेशों में सम्मानित न हों—इस सीमा तक विदेशी शासन ने हमारे विवेक को समाप्त कर दिया है। रवीन्द्रनाथ का आदर अपने देश में नोबल-पुरस्कार पाने के बाद हुआ; इसका महाकवि को क्षोभ भी था। डा० हरगोविन्द खुराना को भी हमने तब पहचाना जब पश्चिम उन्हें नोबल-पुरस्कार द्वारा सम्मानित कर चुका था। सर्पशील और पुनर्नवा जैसी उपयोगी औषधियाँ विदेशों में ही प्रसिद्धि प्राप्त कर भारत में समादृत हुई। ऐसे अनेक उदाहरणों के बीच यह भी सम्भव हो सकता है कि हिन्दी

को संयोगवश विश्व में कोई बड़ा सुयश प्राप्त हो जाये और उसके बाद हम अपनी उपेक्षित भाषा का स्वागत करें ।....हिन्दी यदि विश्वभाषा बनने के अपने संकल्प को पूरा कर ले तो अँग्रेजी भाषा का महत्व और भी कम हो सकता है । हिन्दी को यह करना ही चाहिए, क्योंकि उसके अपने घर में अंग्रेजी शत्रु के समान पैर जमाए बैठी है । विश्व के मंच पर हिन्दी की स्थापना का अर्थ होगा—हिन्दी-भाषी दुनिया का नया व्यक्तित्व नयी ऊर्जा, दूसरे शब्दों में भारतवर्ष का नया जन्म ।"

श्रीमती कमला रत्नन् के उपर्युक्त कथन के उपरान्त हमें इस सम्बन्ध में अब और कुछ नहीं कहना है । समझदारों की आँखें खोलने तथा उनकी गैरत को झकझोर देने के लिए इतना ही पर्याप्त है ।

●